बच्चन की अन्य रचनाएँ

मधुशाला का अंग्रेज़ी ('५०) और बंगाल का काल का बँगला ('४८) अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

रचनाओं के साथ प्रथम प्रकाशन-तिथि का संकेत है।

नये पुराने झरोखे

बच्चन

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६

अपने पाठकों से

आज आपके हाथों में अपनी एक नई पुस्तक रखते हुए मैं बड़ी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। 'नए-पुराने झरोखे' में मैंने पिछले लगभग तीस वर्षों में लिखे अपने निबंधों और वार्ताओं का संकलन किया है। इनमें से प्राय: सभी समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित एवं रेडियो से प्रसारित हुए हैं। मेरे बहुत-से पाठकों और श्रोताओं की यह इच्छा थी कि इन लेखों को एक जगह संगृहीत कर दिया जाए। इन सबको ढूँढ़-खोजकर इकट्ठा करना मुझे इतने बखेड़े का काम मालूम होता था कि मैं उसे बराबर टालता आ रहा था। इधर इस संबंध में मेरे प्रकाशक का भी आग्रह रहा है। पुस्तक जिस रूप में आपके सामने है, आशा है, उससे आपको संतोष होगा।

अपने गद्य-लेखन के विषय में आपको कुछ रोचक बातें बताना चाहता हूँ। आज तो लोग मुझे प्राय: कवि के रूप में ही जानते हैं, पर एक समय मैं सोचता था कि मैं गद्य-लेखक ही बनूँगा और अपनी पहली रचना गद्य की ही प्रकाशित करना चाहता था। मुझे याद है कि अपने विद्यार्थी-जीवन में मुझे हिंदी निबंधों पर अपनी कक्षा में सबसे अधिक नंबर मिला करते थे। मेरे कुछ सहपाठियों ने मुझे एक बार इन निबंधों को छपाने की सलाह दी और मैं प्रेस भी पहुँचा। प्रेस वाले से मैंने पूछा कि एक कापी की छपाई का क्या लगेगा? सोचा था कि तिर्रासिक से हिसाब लगा लूँगा कि एक किताब की छपाई का दाम इतना तो १०० किताबों की छपाई का दाम कितना, या इतने पैसे में एक किताब छपेगी तो जितने पैसे मैं इकट्ठा कर सकूँगा, उतने में कितनी किताबें छप सकेंगी। पर जब प्रेस वाले ने फ़ार्म और रीम और पौंड वाले कागज़ों की बात करनी शुरू की तो मैं कुछ न समझा और उसने मुझे भगा दिया—एम्पायर प्रेस था, उन दिनों मेरे मुहल्ला चक (प्रयाग) के घर से सबसे निकटस्थ प्रेस।

१९१९ से '२५ तक छठी कक्षा से दसवीं तक, कायस्थ पाठशाला, प्रयाग के

विद्यार्थी के रूप में मुझे गद्य-लेखन के अभ्यास का एक अच्छा सुयोग मिल गया। हिंदी-उत्साही आनंदी प्रसाद श्रीवास्तव—'झाँकी' नाम से उनकी एक पुस्तक भी बाद को छपी थी—और विक्रमादित्य सिंह के उद्योग से पाठशाला में एक हिंदी-समिति की स्थापना हुई थी। साहित्य-साधना में लगे रहते तो दोनों का छायावाद-काल के कवियों एवं नाट्यकारों में कम ऊँचा स्थान न होता। विद्यार्थियों की एक हस्तलिखित पत्रिका निकलती थी—'आदर्श'। उसके संपादक यादवेंद्र सिंह थे—'हार' नाम से उनका कहानी-संग्रह भी बाद को छपा, शायद और एकाधिक पुस्तकें उनकी निकलीं—मेरे सर्वप्रथम काव्य-संग्रह 'तेरा हार' के नामकरण में उसकी प्रेरणा रही होगी। मेरे अक्षर मोती की तरह होते थे। पत्रिका के लिए आए हुए लेखों को एकरूपता देने के लिए मुझे सबको एक आकार-प्रकार के कागज़ों पर लिखने का काम मिला करता था। उससे मेरी क़लम ज़रूर सधी होगी। ऊँची कक्षा में पहुँचने पर कुछ मौलिक भी लिखने लगा।

हाई स्कूल तक पहुँचते-पहुँचते मुझे जीवन ने अपनी मादक बाँहों में जकड़ लिया—जीने के आगे क़लम घिसना फीका, सीठा, नीरस लगा। क़लम की ओर फिर लाए मुझे डा० सत्य प्रकाश (शायद डा० बाद को हुए), जब मैं बी० ए० में पहुँचा। उनसे परिचय आर्यकुमार सभा में हुआ था। उन दिनों वे रिसर्च कर रहे थे, साथ ही 'विज्ञान' पत्रिका का संपादन भी। मेरा एक विषय दर्शन था। कुछ अपनी अतिशय भावुकता को संयमित करने के ध्येय से, कुछ आर्य समाज के तर्क-प्रखर प्रभाव से, पर सबसे अधिक विज्ञान-दृष्टि डा० सत्य प्रकाश की संगत से, मैं जर्मनी के बुद्धिवादी (रेशनलिस्ट) दार्शनिकों में अधिकाधिक रुचि लेने लगा। मैं पढ़ रहा था हेकिल की 'द रिडिल आफ द यूनिवर्स'। सत्य प्रकाश जी ने इसी पुस्तक पर मुझसे एक लेख लिखने को कहा। मैंने 'हेकिल और जीव' शीर्षक से लेख लिखा, जिसे उन्होंने विज्ञान में प्रकाशित किया, १९२८-'२९ के यूनिवर्सिटी सत्र के किसी मास में। पहली बार नाम छपने पर जो फुरफुरी मेरे अंदर हुई थी, उसकी तुलना मैं न करूँ तभी अच्छा। जो ही मिला, उसी के हाथों में मैंने विज्ञान की एक कापी थमा दी, "मेरा लेख छपा है, पढ़िएगा।" इस प्रकार सर्वप्रथम प्रकाशित होने वाला मेरा एक निबंध था—दर्शन जैसे शुष्क विषय पर। उसी रौ में कुछ और लेख लिख

डाले जो बाद में नष्ट कर दिए गए।

१९३० के आंदोलन में एम० ए० की पढ़ाई छोड़ने के बाद, उसके ठंडे पड़ने पर १९३१ में किसी समय नौकरी की तलाश में मैं 'चाँद' कार्यालय में जा भटका—उसके संचालक थे रामरखसिंह सहगल—हिंदी प्रकाशन में पहली बार प्रचार का सिंगार-पटार, धूम-धड़क्का लाने-मचाने वाले। मेरी बी० ए० की प्रथम श्रेणी—एक विषय मेरा हिंदी था—[illegible]' के सहायक संपादक के रूप में रख लिया, शुकदेव राय संपादक थे। सहगल मुझे हर सप्ताह कुछ किताबें देते और कहते इनकी सहायता से लेख लिखकर लाओ। महीने-डेढ़ महीने में उन्होंने मुझसे आधे दर्जन लेख लिखाए। एक दिन मुझे बुलाया और डाँटना शुरू किया, "क्या लेख लिखा है, न सिर, न पैर, न भाषा, न भाव; तुम्हारा काम खत्म, अगले महीने आकर तनख़्वाह ले जाना।"—तनख़्वाह मेरी शायद चालीस रुपये महीने नियत हुई थी। एक महीने की तनख़्वाह वसूल करने के लिए मुझे चाँद प्रेस के तीन कम चालीस चक्कर लगाने पड़े। पर सबसे अधिक चोट तब लगी, जब वही लेख कल्पित नामों और डिग्रियों के साथ प्रायः ज्यों-के-त्यों 'चाँद' में छपे। एक लेख, मुझे आज भी याद है, स्वामी रामतीर्थ पर था, जिसे आज भी अपना कहते मुझे लज्जा न होगी।

इन लेखों ने इस कल्पना को थपकी दी कि यदि कुछ लिखूँ तो वह छपने योग्य होगा और अभ्यास करूँ तो लेखक-रूप में व्यवस्थित हो सकता हूँ। मुझे १९३० की यूनिवर्सिटी हिंदी कहानी प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार मिल चुका था, दूसरे वर्ष मैं यूनिवर्सिटी का छात्र न रह गया था, फिर भी मेरी कहानी सर्वश्रेष्ठ समझी गई थी और प्रतियोगिता के बाद पढ़ाई गई थी—'हृदय की आँखें' शीर्षक से यह कहानी प्रेमचंदजी ने 'हंस' के विशेषांक में छापी, एक और कहानी भी मेरी छपी थी, पर उसमें प्रेमचंद को इतना संशोधन करना पड़ा था कि उसे अपना कहते मुझे संकोच हुआ। पारिश्रमिक कुछ भी नहीं मिला था। कुछ कहानियाँ और लिखीं, एक को 'माधुरी' में स्थान मिला, एकाध को अन्य पत्रिकाओं में। ये कहानियाँ मैंने कई वर्षों बाद 'प्रारम्भिक रचनाएँ भाग ३' में प्रकाशित कराईं। निबंध के संबंध में कहीं पढ़ा था कि उसमें सफलता के लिए सम्यक् अध्ययन और परिपक्व अनुभव की आवश्यकता होती है। निबंध और न लिखे।

'३१-'३२ में साहित्य भवन, प्रयाग, से एक हास्य पाक्षिक 'मदारी' नाम से निकलता था। कुछ महीनों तक मैं उसका भी संपादक रहा। फ़ुलस्केप साइज़ के आठ-दस पेजों का पूरा मसाला मुझे ही देना होता। प्रति अंक के शायद १० रुपए मिलते थे। उसके अंकों में एक व्यंग्य सपादकीय—'प्लेनचैट पर' और भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' की विस्तृत समालोचना को अपनी कहकर मैं अब भी कुछ गर्व का अनुभव कर सकता हूँ। १९३२ में 'पायोनियर' के गश्ती प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हुए मैंने प्रफुल्ल चन्द्र ओझा 'मुक्त' को एक लम्बा पत्र लिखा तो उन्होंने उसे मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव को दिखाया जो उस समय 'चाँद' का संपादन कर रहे थे। मुंशीजी को वह पत्र इतना पसंद आया कि उसे उन्होंने 'चाँद' में छापा; अपने स्वाभाविक लेखन में मेरा आत्म-विश्वास जगा। उसी समय मेरी लिखी कुछ पुस्तक-आलोचनाएँ 'सरस्वती' में छपीं। '३२ में ही किशोरीलाल गोस्वामी की स्मृति में 'माया' का विशेषांक निकला तो मैंने उनके संबंध में एक संस्मरण लिखा, जो अपनी सजीवता के कारण उस समय पसंद किया गया—इस संग्रह के लेखों में सबसे पुराना वही है।

इसके बाद तो मुझे 'कविता-कामिनी का मर्ज़' ऐसा लगा कि गद्य मुझसे छूट ही गया। १९३३ के अंत में मैं 'मधुशाला' के कवि के रूप में 'बदनाम' हो चुका था।

१९३६ में अपनी पत्नी का इलाज कराने को पटना गया तो 'मुक्त' जी ने वहीं से 'बिजली' मासिक निकालने की योजना बनाई। मेरा फिर से गद्य-लेखन इसी पत्रिका के लिए शुरू हुआ। कहानियाँ तो शायद कई वर्ष पूर्व लिखी प्रकाशित हुई। अन्य लेखनों में प्रमुख था, प्रेमचंद-संबंधी एक संस्मरण जो उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह में वह भी है। 'बिजली' ज़्यादा दिन नहीं चली।

आगे गद्य लिखने की प्रेरणा मुझे मुख्यतः रेडियो के कारण मिली। लखनऊ का रेडियो स्टेशन १९३६ में स्थापित हुआ। वहाँ से कई बार विभिन्न विषयों पर वार्ताएँ प्रसारित करने के निमंत्रण आए। यह क्रम और बढ़ा, जब १९४९ में इलाहाबाद में भी रेडियो स्टेशन खुल गया। परंतु इनमें से अधिकांश विस्मृति के गर्भ में पहुँच गई हैं। पहले वार्ताओं को छपाने के संबंध में रेडियो के

नियम कठोर थे; वार्ता प्रसारित हो गई, बस, उसकी लिखित प्रति रेडियो ने रख ली। मैं इन वार्ताओं की कोई प्रति अपने पास न रखता था - एक बार वार्ता लिखने, फिर उसकी साफ़ कापी तैयार करने मे ही धीरज इतना छूट जाता था कि तीसरी प्रति बनाने की हिम्मत न रह जाती थी -टाइप कराने की सुविधा मेरे पास न थी - विशेषकर जब उसका और कोई उपयोग न था। स्वतः प्रेरित न होने से उन्हें मैं अधिक महत्त्व भी न देता था - रेडियो द्वारा लिखाई वार्ता का मूल्य था, नक़द रुपये में बदल जाना। अगर कहीं मन में उन वार्ताओं के कभी छपित रूप में देखने की बात थी भी तो यह विश्वास था कि वे सरकारी ताबूत में सुरक्षित हैं। १९५६ में पहली बार शायद किन्हीं वार्ताओं को पुस्तक-रूप में प्रकाशित देखकर—मेरी यह इच्छा हुई कि अपनी वार्ताओं को कम से कम एक जगह इकट्ठा कर लूँ कभी इनका प्रकाशन हो सकता है। इलाहाबाद-लखनऊ केंद्रों से अपनी वार्ताओं की प्रतिलिपिया माँगीं तो उत्तर आया कि रेडियो किसी नियम के अंतर्गत तीन वर्षों से अधिक पुरानी पांडुलिपियों को नष्ट कर देता है। '५२ के पहले की मेरी कोई वार्ता उनके पास सुरक्षित न थी और '५२ से '५४ तक मैं स्वयं विदेश में था यानी केवल '५४-'५५ की दो-तीन वार्ताएँ उनके पास थीं।

मैंने कहा, "गतं न शोचामि" और आगे के लिए सतर्क हो गया। तब से जो वार्ताएँ दीं या जो लेखादि लिखे, उनकी प्रतिलिपिया अपने पास रखता गया—१९५६ के बाद लेखों को टाइप कराने की सुविधा भी मेरे पास हो गई थी। संग्रह तैयार करने का विचार मन में आया तो कुछ पुराने कागद-पत्तरों की छान-बीन शुरू की। एकाध पुरानी वार्ताओं के प्रथम-पेंसिल-प्रलेख मिल गए, जिनके आधार पर उनका उद्धार संभव हो सका। इस प्रकार कुछ पुराने और कुछ नए लेखों का यह संग्रह तैयार हुआ। आशा है, इसका 'नए-पुराने झरोखे' नाम मेरे पाठकों को सार्थक प्रतीत होगा।

पुराने लेख और वार्ताओं की स्मृति-प्रतिध्वनियाँ मेरे पाठकों-श्रोताओं के दिमाग़-कान में कितनी हैं, इसे मैं कैसे बताऊँ। मेरे इधर के निबंधों को लोगों ने पसंद किया है और उन्हें संग्रह-रूप में देखने की इच्छा प्रकट की है। सुमित्रा-नंदन पंत से सम्बद्ध निबंधों को मैंने १९६० में उनकी षष्टिपूर्ति के अवसर पर 'कवियों में सौम्य संत' के नाम से प्रकाशित कराया था। उसका जो स्वागत

हुआ है, उससे अपने इन निबंधों को भी प्रकाशित कराने को मैं प्रोत्साहित हुआ हूँ।

संग्रह के संबंध में दो-एक बातें कहना चाहूँगा। पुस्तक के प्रारंभ में जिस अवधि का संकेत किया गया है, उसमें लिखे सब निबंध यहां नही हैं। मैं अपनी पांडुलिपियों की पूरी जाँच-पड़ताल नहीं कर सका। एकाधिक छपे लेखों की स्मृति है, पर न उनका प्रथम प्रलेख ही मुझे मिला है, न उनकी कतरन ही मेरे पास है और न ठीक से याद ही है कि वे कब-कहाँ प्रकाशित हुए—विशेष स्मृति है निराला जी पर लिखे एक लेख की, जो आज से बारह-तेरह वर्ष पहले शायद 'संगम' (प्रयाग) में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार सरोजिनी नायडू पर लिखी एक वार्ता की याद है, जो उनके स्वर्गवास पर प्रयाग से प्रसारित हुई थी। बाद को भी इन पर लिखे निबंधों से उस अभाव की कुछ पूर्ति हो गई है।

सोचना पड़ा, निबंधों का क्रम क्या हो। उन्हें रचनाक्रम में रक्खा जा सकता था; दो प्रकार से : पुराने से नये की ओर या नये से पुराने की ओर; दोनों ही कुछ यांत्रिक (मिकैनिकल) से होते। कुछ निबंधों में विषय-साम्य तो है ही—केवल तिथि के कारण उन्हें दूर करना ठीक नहीं जँचा। इसलिए मैंने दोनों दृष्टि-बिंदुओं से क्रम बिठलाना शुरू किया। जो विषय मेरे अधिक निकट हो सकते थे, उन्हें प्राथमिकता दी तो क्रम विषयों के अंतर्गत नवीन से प्राचीन की ओर हो गया। संग्रह के नाम में भी 'नये' पहले है, 'पुराने' बाद को। आशा है यह क्रम आपको पसंद आएगा। जहाँ निश्चित हो सका है, लेखों के अंत में तिथि-निर्देश कर दिया गया है। जहाँ तिथि के आगे प्रश्नवाचक चिह्न है, वहाँ लेख कुछ आगे-पीछे का हो सकता है। तिथिक्रम में ही पढ़ने का आग्रह शायद ही मेरे किसी पाठक को हो, पर यदि हो तो पन्ने उलट-पलटकर ऐसा संभव हो सकेगा। असुविधा के लिए मैं क्षमा माँग लूँ। पर अधिकतर लोग, मेरा विश्वास है, मेरे निर्धारित क्रम से ही लेखों को पढ़ेंगे। कोई विकल्प कोई सुझाएगा तो उस पर मैं कृतज्ञतापूर्वक विचार करूँगा।

संग्रह या संकलन का पाठक विविधता के लिए तैयार होकर आता है। इन नए-पुराने झरोखों में आपको विविधता तो मिलेगी ही—शायद इनके बीच किसी प्रकार की एकता का भी आभास हो—ये सब मेरी ही लेखनी के खने-बने हैं।

मेरी कविताएँ भी वातायन-स्वरूप रही हैं, जिनसे आपने मेरे घर में, मेरे हृदय में, मन में, मस्तिष्क में झाँका है। मेरा घर कोई जादू का घर नहीं, मेरे हृदय में कोई विचित्र धड़कनें नहीं, मेरे मन में कोई अनोखी तरंगें नहीं, मेरे मस्तिष्क में कोई अद्‌भुत हलचलें नही— फिर भी अपना वातायन मैंने कभी सूना नहीं पाया। केवल कौतूहल स्थायी नहीं होता। अजनबी में बहुत दिन रुचि नहीं रहती। मुझे विश्वास है इन सब मेरी कही जानेवाली चीज़ों में आपने अपने को भी देखा है—आपको मैं बाहरी रूप तक सीमित नहीं करता, इसे स्पष्ट करने की तो शायद ही आवश्यकता हो। सबसे अधिक इसी विश्वास ने मुझे प्रेरित किया है कि मैं अपना घर, हृदय, मन, मस्तिष्क साफ, सरल, सहज, स्वाभाविक रखने का प्रयत्न करूँ कि जब कोई इनमें झाँके तो अपने को देख सके। जब किसी ने केवल मुझे ही देखा होगा, तब निश्चय ही उसका कारण मेरे घर की गंदगी होगी। पूर्णता का दावा कौन कर सकता है ? मैं अपनी अपूर्णताओं से अचेत नहीं।

मेरी ऐसी आशा है कि ये निबंध भी एक प्रकार के वातायन सिद्ध होंगे। गद्य में निबंध का वही स्थान है, जो पद्य में गीत का। इन झरोखों में आप मेरे घर के कुछ ऐसे कोनों को देख सकेंगे, जो मेरी कविता के वातायनों से अदृश्य रहे हैं। इन दृश्यों से आपका कौतूहल शांत हो, कोई जिज्ञासा तृप्त हो, किसी धारणा को थपकी लगे, आपका कुछ मनोविनोद हो, आपके कोई भाव-विचार सजग-स्फूर्त हों—आवश्यक नहीं कि वे सदा मेरे अनुकूल हों—तो मुझे संतोष होगा। आपकी प्रतिक्रिया जानने को मैं उत्सुक रहूँगा।

१३ विलिंगडन क्रिसेंट,
नई दिल्ली—११ —बच्चन
५-११-'६१

और उनके ऊपर रोग का आक्रमण फिर हुआ, और फिर हुआ। शायद इन तीन-साढ़े तीन वर्षों में आधी दर्जन बार वे अस्पताल में दाखिल हुए और बाहर निकले। पिछली मार्च में श्री फीरोज़ गांधी ने मुझसे बतलाया कि नवीन जी के फेफड़े में कैंसर हो गया है और अब वे एक महीने से अधिक न चल सकेंगे। अप्रैल में मैं कई बार उनसे मिलने को अस्पताल गया। आखिरी बार मैंने उन्हें २७ अप्रैल को देखा। उन्हें आक्सीजन दिया जा रहा था। एक बार उन्होंने आँखें खोलीं तो पास खड़े लोगों को पहचानने की कोशिश करते-से लगे। मैंने कहा, "बच्चन प्रणाम करता है।" उनके मुँह से निकला, "खूब···दर्शन···दिए···" और उन्होंने फिर आँखें मूंद लीं। नवीन जी योद्धा थे और उन्होंने मौत से भी डटकर लड़ाई की। अंतिम बार जब मैं उनकी चारपाई के पास खड़ा था, मुझे अंग्रेज़ी कवि राबर्ट ब्राउनिंग की ये पंक्तियाँ बरबस याद हो आई—

'I was ever a fighter, so one fight more,
The best and the last,
I would hate that death bandaged my eyes, and forebore,
And bade me creep past,
No! Let me taste the whole of it, fare like my peers,
The heroes of old,
Bare the brunt, in a minute pay glad life's arrears,
Of pain, darkness and cold."

इनके भावार्थ हैं—मैं तो सदा का ही लड़ंता रहा, सो एक लड़ाई और, सबसे बड़ी और आख़िरी। मैं इस बात से नफ़रत करूँगा कि मौत मेरी आँखों पर पट्टी बाँध दे, मेरे साथ रू-रियायत करे या मुझसे कहे कि चुपके से खिसक जाओ। नहीं, मुझे सारी यातनाओं को झेलने दो, सारे कष्टों का सामना करने दो। अपने पूर्व पुरुषों के समान, अपने सहधर्मियों के समान, मैं भी मौत की चोटों को ओड़ूंगा, और एक क्षण में जीवन के सुखों का मूल्य चुका दूँगा—दर्द को, जूड़ी को, बुखार को, अंधकार को सहन कर, वहन कर!

मरते तो सभी हैं, पर एक मरकर मर जाता है और एक मरकर अमर हो जाता है। भेद है मरने के अंदाज़ में। २९ अप्रैल को दिल्ली में जिसने अपना शरीर छोड़ा और कानपुर में जिसकी चिता जली, निःसंदेह वह नर-नाहर मर-कर अमर हो गया। जैसे उन्हीं से पूछने के लिए नवीन जी ने ये पंक्तियाँ हमारे

लिए लिखी थीं,

"कर चुकी है क्षार तुमको क्या चिता की ज्वाल लोहित ?"

और ये पंक्तियाँ दुनिया से कहने के लिए,

"कौन कहता है कि तुमको कर चुका है भस्म पावक ?
आज तो मैं लख रहा हूँ तव छटा सब ओर अपलक !"

और वे स्वयं इनका उत्तर भी दे गए हैं,

"तुम समझो हो कि अब हो चले हम नवीन, प्राचीन !
क्यों भूलो हो कि हम अमर हैं !! हम हैं लौह शरीर !!!
सखी री, हम हैं मस्त फ़क़ीर !"
(अपलक)

और अब नवीन जी का लौह शरीर मृत्यु के पारस का परस पाकर कंचन की यशःकाया में परिवर्तित हो चुका है जिसे जरा-मरण का किंचित् भय नहीं है।

उनके जीवन की 'छटा' की झलकियों को यदा-कदा पाने का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को भी प्राप्त हुआ था। ऐसे समय में जबकि उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं रहा, यह स्वाभाविक है कि वे झलकियाँ अधिक स्पष्ट, अधिक रंजित और अधिक मार्मिक हो जायँ।

अपनी 'रश्मि रेखा' (१९५१) के प्राक्कथन में नवीन जी ने लिखा था कि 'तीस-पैंतीस वर्षों से लिख रहा हूँ।' अर्थात् उन्होंने लगभग १९१६ के लिखना प्रारंभ किया था। यह वही समय था जब श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और श्री सुमित्रानंदन पंत ने भी काव्य-रचना आरंभ की थी। वे अवस्था में पंत जी से प्रायः तीन वर्ष और निराला जी से साल-डेढ़ साल बड़े थे। पंत और निराला जी की रचनाएँ शताब्दी के तीसरे दशक में 'पल्लव' और 'परिमल' के नाम से प्रकाशित होकर साहित्य-क्षेत्र में चर्चा का विषय बन गई थीं, पर नवीन जी का पहला काव्य-संग्रह (कुंकम) चौथे दशक के अंत में प्रकाशित हुआ। १९२६ में पंडित रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' (भाग—२) का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ था, पर उसमें नवीन जी को नहीं सम्मिलित किया गया था, कौमुदी-कुंज में भी नहीं; जबकि उसमें पंत जी और निराला जी को अलग-अलग स्थान दिया गया था। फिर भी सन् '३० तक पहुँचते-पहुँचते, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अथवा कवि-सम्मेलनों में पठित कविताओं के आधार

पर नवीन जी कवि के रूप में विख्यात हो गए थे।

सन् १९३३ में प्रयाग में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्मान में एक अद्वितीय साहित्यिक समारोह आयोजित किया गया, जो 'द्विवेदी मेला' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। साहित्यकारों का इतना सद्भावना और सहयोगपूर्ण उत्सव मैंने दूसरा नहीं देखा। उसमें एक कवि-दरबार करने का कार्यक्रम बनाया गया था। नए कवियों में निराला, पंत और नवीन की भूमिकाएँ उपस्थित करने का निश्चय हुआ। कविवर नरेन्द्र शर्मा पंत जी की भूमिका में उतरे थे, निराला जी के लिए भी कोई लंबा, साँवला, दुबला व्यक्ति मिल गया था। पर नवीन जी के डीलडौल और काठी का कोई नौजवान प्रयाग में नहीं मिला था। राजर्षि टंडन जी के सुपुत्र श्री गुरुप्रसाद टंडन कवि-दरबार के संयोजक थे। उन्होंने नवीन जी को देखा था। उनकी कविता भी सुनी थी, उनके सामने जो भी नवयुवक उपस्थित किया जाता, उसे वे 'रिजेक्ट' कर देते—कोई शरीर से अयोग्य सिद्ध होता, कोई स्वर से। गुरु जी कहते, ये नवीन बनेंगे!—नवीन बनने के लिए चाहिए 'वृषभ कंठ केहरि ठवनि बल निधि बाहु विशाल'। (नवीन जी ने स्वयं अपनी भुजाओं के लिए लिखा है—'ये मम आजानु बाहु, देखो, अकुलाए हैं'।) उनकी जो कविता सुनवाने के लिए चुनी गई थी, वह थी—साक़ी!

"साक़ी!—मन-घन-गन घिर आए, उमड़ी श्याम मेघमाला,
अब कैसा विलम्ब? तू भी भर-भर ला गहरी गुल्लाला;
तन के रोम-रोम पुलकित हों,
लोचन दोनों अरुण-चकित हों,
नस-नस नव झंकार कर उठे;
हृदय विकम्पित हो, हुलसित हो;
कब से तड़प रहे हैं—ख़ाली पड़ा हमारा यह प्याला?
अब कैसा विलम्ब? साक़ी भर-भर ला तू अपनी हाला।" —आदि
(१९३१ में रचित)

इस कविता को मैं गा तो बड़े ठाठ से लेता था, पर शरीर से था मैं सींकिया पहलवान! अंत में हमें नवीन जी को छोड़ देने का ही निर्णय करना पड़ा; मुझे एक देहाती कवि की भूमिका दे दी गई। मुझे याद है, उस भूमिका

थे, किस बात पर ? इस बात पर कि एक दक्षिणी महिला का रवि वर्मा द्वारा अंकित ऐसा चित्र है जिसमें वह महिला मंदिर में पूजा करने जा रही है। अब उसी पर कविता हो रही है। वह कैसी साड़ी पहने है, उसके हाथ में कैसा थाल है, उसमें पंचपात्र है या नहीं, इन बातों पर तुकबंदी हो रही है।" उनके अपने खास कानपुर में उन दिनों समस्यापूर्तियों का बोलबाला था। रीतिकालीन परंपरा में कवित्त रचना गाँवों में चल ही रही थी; सनेही जी ने केवल उसका माध्यम ब्रजभाषा से खड़ीबोली कर दिया था। 'सुकवि' नाम का पत्र निकलता था और हर मास दी हुई समस्याओं पर सैकड़ों कवि अपनी प्रतिभा का चकरडंड पेलते थे। नवीन जी की राय थी, "यह समस्यापूर्ति-प्रथा नष्ट कर देनी चाहिए। यह एक व्यर्थ की सी चीज़ है। इससे कोई लाभ नहीं होता।" उनके मन में जो 'कुछ धुआँ-सा' मँडराने लगता था वह तो किसी की कविता का विषय ही नहीं था। पर वे तो इसके अतिरिक्त और किसी पर लिख भी नहीं सकते थे। किसी प्राचीन के साथ अपना साम्य न देखकर ही उन्होंने अपना उपनाम 'नवीन' रक्खा होगा। 'निराला' जी ने भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति में अपने को 'निराला' कहा होगा। वास्तव में बीसवीं सदी के नवजागरण के साथ हिंदी के प्रायः सभी नवयुवक कवियों ने अपने समाज में अपने को अजनबी पाया होगा। समाज से अपने को अलग करना चाहा होगा, किसी ने नया नाम लेकर, किसी ने नया रूप बनाकर, बाल बढ़ाकर, किसी ने नया परिधान धारण कर।

बहरहाल जब मैंने लिखना आरंभ किया और इधर-उधर से उसका विरोध होना शुरू हुआ, तब भी मुझे विश्वास था कि एक आदमी ऐसा है जो मेरी आवाज़ को पहचानेगा और मुझे बढ़ावा देगा। नवीन जी से मेरी पहली भेंट शायद कानपुर के ही किसी कवि-सम्मेलन में हुई। मैंने चार ही पंक्तियाँ सुनाई थीं कि नवीन जी तड़प उठे।

> "मैं जग जीवन का भार लिए फिरता हूँ,
> फिर भी जीवन में प्यार लिए फिरता हूँ;
> कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर,
> मैं साँसों के दो तार लिए फिरता हूँ।"

कानपुरी लहजे में ज़ोर-ज़ोर से कह रहे थे, "लौंडा चोट खाया हुआ लगता है।" उनके सामने मैं लौंडा था ही, हालाँकि उस वक्त भी मेरी उम्र २७-२८ वर्ष

की होगी, पर मेरी काठी कुछ ऐसी है कि मैं हमेशा अपनी उम्र से १० वर्ष कम लगता रहा हूँ। और 'मधुशाला' की रुबाइयों पर उनकी आजानु सबल डवल भुजाओं की जो थाप मेरी पीठ पर पड़ी, उससे मेरी रीढ़ अकड़ गई। बोले, "कविता तगड़ी लिखते हो, सौ-पचास डंड भी निकाला करो, वत्स !"

तभी मुझे प्रथम बार उनकी कविता सुनने का भी अवसर मिला। आवाज़ ऊँची और भारी, शब्द-शब्द का उच्चारण अलग-अलग, साफ़-साफ़, पूर्ण अभिव्यंजना राग से ऐसी सधी, जैसे कोई पक्का गायक कविता सुना रहा है। नवीन जी आत्मलीन होकर कविता सुनाते थे, पालथी मार, रीढ़-गर्दन सीधी कर, छाती फुलाकर, जैसे कोई साधक प्राणायाम करने को बैठा हो। तब तक माइक का प्रचार नहीं बढ़ा था, और कई हज़ार आदमी उनकी कविता को मुग्ध-मौन होकर सुन रहे थे। गुरु जी के कहने के अनुसार नवीन जी सचमुच 'वृषभ कंठ' थे, 'कंध' नही —मानस के दोहे का यह पाठांतर भी मिलता है—गो वे 'वृषभ कंध' भी थे। मेरे मुहल्ले मे एक गवैया उस्ताद रहा करते थे, वे कहा करते थे, "आठ बरद बर पावै, तब भैरव राग उठावै"— यानी आठ बैल का बल गले में हो तब भैरव राग गाया जा सकता है। कृषि-सभ्यता में शायद बल का एकांश बैल होता होगा, जैसे पश्चिम में 'हार्स पावर' का प्रयोग होता है। नवीन जी का गला भैरव राग गाने के लिए बना था। मुझे पता नहीं, उन्होंने संगीत सीखा था या नहीं; उनकी कविताओं में कहीं-कहीं रागों के नाम दिए हैं। मैं यह भी नहीं कह सकता कि जब वे काव्य-गान करते थे तब वह संगीत-शुद्ध होता था या नहीं, पर उनकी वाणी की ओजस्विता, रस-सिक्तता और उनका स्वर-संयमन किसी को प्रभावित किए बग़ैर नहीं रह सकता था। एक बार दिल्ली रेडियो के कवि-सम्मेलन में वे तानपूरे के साथ कविता-पाठ करने को बैठे थे। इंदौर साहित्य-सम्मेलन (१९३५) में उनका गला बिलकुल बैठा था, उन्होंने बताया कि कानपुर की किसी सभा में गांधी जी बोल रहे थे और माइक फेल कर गया, इस पर उनके गले से माइक का काम लिया गया। इंदौर की यात्रा में मैं उनके साथ था, श्रीमति महादेवी वर्मा भी थी। हम लोग एक दिन खँडवा में श्री माखनलाल चतुर्वेदी के यहाँ ठहरे थे। वहाँ एक कवि-सम्मेलन भी हुआ था ; तब तक महादेवी जी ने कवि-सम्मेलनों में कविता न पढ़ने का महाव्रत नहीं लिया था। नवीन जी ने अपने बैठे गले से भी कविता

सुनाई थी। चतुर्वेदी जी का वह सरल बोलचाल के लहजे में रस पैदा कर देना, नवीन जी का बैठे गले से भी घनों की गुरु-गंभीर घहर प्रतिध्वनित करना, महादेवी जी का तृषित चातकी के-से कंठ से लयपूर्ण काव्य-पाठ करना—गाते उन्हें शायद ही किसी ने सुना हो, उनकी भगतिन को छोड़कर—और फिर वह मालवे की संध्या में, मालवे के काव्य-रसिकों के बीच, भूलने की चीज़ नहीं है। इसके बाद मुझे फिर अवसर नहीं मिला कि इन तीनों कवियों को साथ सुनूँ—या देखूँ भी।

उस समय तक कवि-रूप में मेरे नाम के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा था। बहुतों की दृष्टि में शायद आज भी लगा है। पर नवीन जी ने मुझे कवि होने की सनद दे दी थी। नागपुर साहित्य-सम्मेलन के कवि-सम्मेलन के सभापति के पद से जो भाषण उन्होंने दिया था, उसमें उन्होंने मुझे बड़े स्नेह-सम्मान के साथ स्मरण किया था। उस हाला-प्यालावाद की भी वकालत की थी, जो अब मेरे नाम से संबद्ध हो चला था, पर जिसके आदि अधिष्ठाता वे ही थे। जब उनका प्रथम काव्य-संग्रह 'कुंकुम' (१९३९) प्रकाशित हुआ, तब यह भाषण उसकी भूमिका के रूप में दिया गया।

इंदौर सम्मेलन के बाद मैं अपने जीवन के संघर्षों में इतना धँसा रहा कि शायद ही कभी नवीन जी से मिलने का मौक़ा मिला। पर उनकी थोड़ी-सी कविताओं को पढ़कर और थोड़े समय तक ही उनके संपर्क में आकर, मैंने उनके व्यक्ति और उनके कवि की विशिष्टता की कुछ झाँकी पा ली थी। वे द्विवेदी-कालीन और छायायुगीन, दोनों तरह के कवियों से भिन्न थे। वे जीवन की ठोस अनुभूतियों, विदग्ध भावनाओं, क्रांतिकारी विचारों, सहज कल्पनाओं, सरल अभिव्यक्तियों के कवि थे। उन्हें जीवन के हूल-हुलास ने ही रोने-गाने को विवश किया था। उन्होंने अपनी कविता के संबंध में जो कहा था, वह कोई विनम्रता-प्रदर्शन नहीं था, वह बिलकुल सत्य था। "जहाँ तक मेरी कविताओं का संबंध है, मैं सिर्फ़ यह कहना चाहता हूं कि मैं 'कवि न होउँ, नहिं चतुर कहाऊँ'। हाँ, बाज़ औक़ात कुछ धुआँ-सा मन में मँडराने लगता है और कुछ कहने की ख़्वाहिश हो उठती है। जहाँ तक छंद शास्त्र का ताल्लुक है, मैंने उसे बिलकुल ही नहीं पढ़ा। न मुझे रसों के नाम मालूम हैं, न मैं यगण-मगण जानता हूं। ताहम मेरा यह दावा ज़रूर है कि मेरे छंद ढीले-ढाले नहीं होते।"

उन्होंने राष्ट्रभाषा का सिर ऊँचा करने के लिए कविता नहीं लिखी, न खड़ी-बोली हिंदी की ध्वजा फहराने के लिए, न साहित्य की सेवा करने के लिए, न भाषा की कला-चातुरी प्रदर्शित करने के लिए और न कवियश:प्रार्थी बनने के लिए—अपनी रचनाओं के प्रकाशन की ओर से शायद ही कोई उनसे अधिक उदासीन रहा हो—उन्होंने कविता केवल इसलिए लिखी कि जग और जीवन के अनुभवों ने उनके हृदय में कुछ ऐसी हलचल मचा दी थी, ऐसा तूफ़ान उठा दिया था, उनकी नस-नस में ऐसी टीस भर दी थी, ऐसी ज्वाला जगा दी थी, कि वे लिखने को, अपने को अभिव्यक्त करने को विवश थे। उन्होंने तभी लिखने के लिए लेखनी उठाई, जब किसी गहन, गंभीर, तीव्र, तीक्ष्ण अनुभूति ने उन्हें विचलित कर दिया। मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि नवीन जी ने कभी अपनी क़लम को कसरत देने के ध्येय से कुछ लिखा होगा। उनकी हर कविता के पीछे एक इतिहास है, एक घटना है, चलते-फिरते व्यक्ति हैं, जीती-जागती समस्याएँ हैं, विचारों की कशमकश है (इसे नवीन जी विचारों का 'अर्राटा' कहते), भावों का ऊहापोह है (इसे शायद वे भावों का 'गन्नाटा' कहते), और है एक भावुक हृदय, जिसे सबसे लपटते, झपटते, उलझते, जूझते और मरते-खपते हुए गुनगुनाते भी जाना है। नवीन जी ने अपनी कविताएँ क्विक से नहीं लिखीं, उन्होंने अपने अश्रु, स्वेद, रक्त में अपनी लेखनी डुबाकर लिखा है, जिसमें जग का बहुत-सा गर्द-गुबार भी आकर पड़ गया है। उचित ही है कि उनकी लिखावट अस्वच्छ है, अस्पष्ट है, खुरदरी है, पर वह हर जगह सारगर्भित है, सजीव है, सार्थक है। किसी दिन पाठ्य-पुस्तकों की कुंजी बनाने से फ़ुरसत पाकर हमारे समालोचकों को इन कविताओं का अर्थ खोजना होगा, पर वह शब्दों के कोश में नहीं मिलेगा; जीवन के कोश में मिलेगा। इससे मेरा मतलब क्या है, इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देकर यह लेख समाप्त करना चाहूँगा।

१९३९ में नवीन जी का 'कुंकुम' निकला, जिसकी एक प्रति उन्होंने मेरे पास भी भेजी थी। अभी मैं उन्हें धन्यवाद का पत्र भी न लिख पाया था कि कानपुर से किसी ने आकर समाचार दिया कि किसी लड़की की धोती में लगी आग बुझाने के प्रयत्न में नवीन जी के दोनों हाथ जल गए हैं। दो-तीन दिन बाद मैं कानपुर गया और किसी परिचित की सहायता से श्री गणेश कुटीर पहुँचा, जहाँ नवीन जी

रहा करते थे। नवीन जी की दोनों हथेलियों का एक परत मांस जलकर झूल गया था। नवीन जी पालथी मारे दोनों हाथ संध्या करने की मुद्रा में घुटनों पर रक्खे बैठे थे, जैसे अभी यज्ञ करके उठे हों। उन्हीं से मालूम हुआ कि गणेशशंकर विद्यार्थी की लड़की की साड़ी में आग लग गई थी, उन्होंने झपटकर मुट्ठी से आग मसलना आरंभ कर दिया और इस प्रकार उनके दोनों हाथ जल गए। पर लड़की जल मरने से बच गई। यह कब हो सकता था कि नवीन जी किसी को आग में जलते देखें और उसे बचाने के लिए उसमें कूद न पड़ें। नवीन जी ने आग से लड़ाई की और उसे परास्त किया। आग बड़ी भयंकर होती है। मेरे पड़ौस में एक लड़की जलकर मर गई थी और आठ आदमी देख रहे थे। पर योद्धा और कायर में यही तो अंतर होता है। नवीन जी निष्क्रिय होकर बैठे थे, पर यह विदग्ध अनुभव व्यक्त होने के लिए उनके हृदय-मस्तिष्क को मथ रहा था। वे तो क़लम भी नहीं पकड़ सकते थे। चलते समय उन्होंने कहा, "इस अनुभव से यह विश्वास हो गया कि अगर देश के लिए कभी आग में कूदना पड़ा तो मन हिचकेगा नहीं।" उस दिन मैंने एक जिंदा शहीद, एक साक्षात देवता के दर्शन किए थे। चरण छूकर लौट आया।

'कुंकुम' के बाद नवीन जी की रचनाएँ—'रश्मि रेखा', 'क्वासि', 'अपलक' 'विनोबा स्तवन' उस समय प्रकाशित हुईं जब मैं '५२ से '५४ तक अपने अध्ययन के सिलसिले में केम्ब्रिज में रहा। लौटकर व्यवस्थित होने और पिछले दो-तीन वर्षों की साहित्यिक गतिविधि से परिचित होने में मुझे कुछ समय लग गया। सबसे अधिक प्रसन्नता इस बात की हुई कि नवीन जी ने अपने प्रकाशनों की ओर कुछ तत्परता दिखलाई थी। इंग्लैंड जाने के पूर्व मैं उन्हें उज्जैन के एक कवि-सम्मेलन में मिला था, जिसका [illegible] शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने किया था। नवीन जी सपत्नीक पधारे थे। मैंने उनसे प्रार्थना की थी, "देश स्वतंत्र हो गया, आप भी व्यवस्थित हो गए, दिल्ली में सुचारु रूप से रहते हैं, अब कुछ अपनी रचनाओं के प्रकाशन की ओर भी ध्यान दें।" उन्होंने जिस तरह हँसकर बात उड़ा दी थी, उससे मैं विशेष आशावान नहीं था।

भारत लौटने पर नवीन जी की रचनाओं को पुस्तक-रूप में देखकर संतोष हुआ।

'क्वासि' की 'प्रिय, जीवन-नद अपार' और 'अपलक' की 'क्या न सुनोगे

विनय हमारी' कविताएँ पढ़कर मैं ठिठक गया। इन कविताओं के अंत में स्थान, रचना-तिथि के साथ दिया गया है—'अग्नि-दीक्षा काल।' जहाँ तक मुझे मालूम है—आज लगभग दस बरस इन रचनाओं को प्रकाशित हुए हो गए हैं—किसी ने न इसके लिए जिज्ञासा प्रकट की है, न पूछा है, न इस पर प्रकाश डाला है कि यह 'अग्नि-दीक्षा काल' क्या है। और नवीन जी ने शायद यह संकेत इसीलिए छोड़ दिया है कि बिना इस 'अग्नि-दीक्षा' का रहस्य जाने इन कविताओं का रहस्य न खुल सकेगा। मुझे इन कविताओं को पढ़ते ही पता लग गया कि यह अग्नि-दीक्षा वही है, जिसमें आग को अपनी हथेलियों से मसलकर उन्होंने एक बाला की प्राण-रक्षा की थी। यह उन्हीं की उदात्त प्रकृति थी कि उन्होंने उस अनुभव को अपने लिए अग्नि से दीक्षित होने का पुण्य अवसर माना। इस घटना पर उनकी भावना और कल्पना किस प्रकार चली है, इसे जानना हो तो उनकी इस काल की रचनाएँ पढ़िए,

> "क्या न सुनोगे विनय हमारी ?
> हुए दग्ध दोनों कर, प्रियवर ! पूर्ण हुई इक अदा तुम्हारी;
> क्या न सुनोगे विनय हमारी ?
> हमें भान है इस जीवन में अपने कृत शत-शत पापों का,
> इसी दाह मिस तुमसे क्या, प्रभु, चेतावनी मिली है भारी ?
> अब तो सुन लो विनय हमारी।
> जीवन के संयम के सपने, अब तो मूर्त रूप कर दो तुम,
> जिससे हो जाए विदग्ध यह उच्छृंखल जीवन अविचारी;
> क्या न सुनोगे विनय हमारी ?
> तुम जानो हो, अकथ वेदना के झूले में झूले हैं हम,
> इतना तो प्रसाद दो जिससे मिट जाए जीवन-अँधियारी;
> क्या न सुनोगे विनय हमारी ?"
>
> (अपलक)

'दग्ध-हृदय' और 'जले हुए दिल' का मुहावरा इस्तेमाल करना कितना आसान है। शब्द 'आग' और वस्तु 'आग' में कितना अंतर है। नवीन जी ने अपने हाथों को आग में झुलसाकर यह पंक्ति लिखी थी—'हुए दग्ध दोनों कर, प्रियवर, पूर्ण हुई इक अदा तुम्हारी'। और जले हुए हाथों का इसने उज्ज्वल और पावन उपयोग

क्या हो सकता था कि उन्हें विनय के लिए जोड़ा जाय, उठाया जाय। लपटों से जीवन-अँधियारी को दूर कराने और दाह से उच्छृंखल जीवन को संयमित बनवाने की माँग करने के नवीन जी ही अधिकारी थे। इस भावना, इस विचार-धारा, इस कल्पना में मीनमेख निकालने का अधिकार मैं केवल उसे दे सकता हूँ, जो जलती हुई लपटों में पहले अपना हाथ भस्म कर आए। तभी वह जान सकेगा कि इस अनुभव की अभिव्यक्ति कैसे होती है।

दूसरी कविता में वे कल्पना करते हैं कि एक नद है जिसे कच्चे घड़े के सहारे कैसे पार किया जाय। आवश्यकता है कि आग उस घड़े को पक्का कर दे। इतनी निर्भीकता से आग को माँगने का आग्रह नवीन जी के कंठ से ही संभव था :

"किस विधि नद करूँ तरित ? पहुँचूँ उस पार सजन ?
कच्चा घट, जल संकट, लहर, भँवर, तीव्र व्यजन,
भय है, गल जाएगा यह मम तरणोपकरण,
दुस्तर सी लगती है जीवन की तीव्रधार;
प्रिय जीवन-नद अपार।
यदि वाहित करना था जीवन-नद वेग-युक्त,
तो यह रज भाजन भी कर देते अग्नि भुक्त,
पर यह तो कच्चा है, हे मेरे बंध मुक्त,
हैं उसमें छिद्र कई, और अनेकों विकार;
प्रिय जीवन-नद अपार।
पहले इसके कि करो सजन वेणु वादन तुम,
पहले इसके कि करो स्वर का आराधन तुम,
भेज अग्नि-पुज करो पक्का रज भाजन तुम,
छूट जाय जिससे यह तरण-भरण भीति रार,
प्रिय जीवन-नद अपार।"

जब मैंने इन दो कविताओं की वेधकता और मार्मिकता देखी तो मुझे कौतूहल हुआ कि इस काल की रची और कविताओं की खोज करूँ। उपर्युक्त रचना की तिथि में ही एक दूसरी कविता है, गो उसमें 'अग्नि-दीक्षा काल', का संकेत नहीं किया गया है, किस कारण, मैं नहीं कह सकता। पर निःसंदेह वह

'अग्नि-दीक्षा काल' की सर्वश्रेष्ठ रचना है। शीर्षक है 'विदेह'। एक लड़की की धोती में लगी आग को बुझाने, उसकी धोती को उसके शरीर से अलग करने, आग की विभीषिका के सामने भी उसके लजाने, फिर भी बुझानेवाले की ममत्व-पूर्ण निर्ममता, निश्छलता, अग्नि-पावनता से उसे नग्न कर देने के भौतिक अनुभव को नवीन जी ने इस कविता में अध्यात्म के कितने ऊँचे धरातल पर उठा दिया है! और 'अग्नि-दीक्षा काल' का संकेत शायद इसलिए नहीं किया कि इसको नीची सतह पर उतारकर कोई इसका भद्दा-भौंडा अर्थ न निकालने लगे,

"चल, उतार अँग वस्तर आली, तू क्षण भर में होगी पियमय,
अब कैसा दुराव साजन से? पूर्ण हुआ तेरा क्रय-विक्रय;
नतलोचने, हृदय की नीबी खोल, नयन में सहज भाव भर,
दिखला दे अपने पीतम को जनम-जनम का अपना निश्चय;
अवश दूर ही करना होगा यह अंतरपट, यह आच्छादन,
आत्म रमण की तन्मयता में क्या सचैल परिरंभण परिणय?
यह पल्ला, यह पट, यह अंचल भारभूत हो जाएँगे सब;
अरी! तनिक आने तो दे तू उनकी मादक मुरली की लय!
आज वक्ष, माथे, कटि, उर पर है चीनांशुक तरल लाजमय,
नेह सफल तब जान सलौनी! जब हो जाए इस पट का लय;
पट ही क्या? कंचन काया भी मचलेगी निर्देह भाव से,
उस दिन जब उनके सुपरस से होंगे रोम कंटकित, गतिमय;"
(क्वासि)

यहाँ पीतम कौन है, प्रेयसी कौन है, पट क्या है जिसका लय पीतम के पूर्ण परि-रंभण के लिए आवश्यक है! यह कल्पना हमारे साहित्य-दर्शन की इतनी व्यापक भावना है कि इसका रहस्य खोलना इस कविता-कुमारी के साथ बलात्कार करना होगा। इसके विषय में मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि ऐसी कविताएँ लेखनी और स्याही की बूँदों से नहीं उतरतीं; ये हृदय की ज्वाला से ही लिखी जाती हैं। नवीन जी महीनों लेखनी पकड़ने में असमर्थ थे, अगर उन्होंने किसी को बोलकर इनको लिखवाया होगा तो अक्षरशः उनके तप्तोच्छ्वासों से ही ऐसी पंक्तियाँ निकली होंगी, 'मैं तो हूँ वैश्वानरपायी; मैं बैठा हूँ आग पिए, सखि।'

ये तीन कविताएँ भी यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि नवीन जी कैसे

खरी अनुभूतियों के कवि थे। उनके जीवन की बहुत-सी घटनाएँ और बहुत-सी कविताएँ रहस्य के अंधकार में और पांडुलिपियों के अंबार में पड़ी हुई हैं। निश्चय ही जब तक एक से दूसरे पर प्रकाश नहीं डाला जाएगा तब तक नवीन जी का जीवन और काव्य दोनों ही हमारे लिए अनबूझ पहेली बने रहेंगे। और मैं अपने शब्दों की पूरी शक्ति और अपने हृदय के पूरे विश्वास के साथ कहना चाहता हूँ कि ये दोनों बूझने योग्य पहेलियाँ हैं और इन्हें बूझकर हम बहुत कुछ पाएँगे, जग के बहुत-से भेद जानेंगे, जीवन के बहुत-से राज़ पहचानेंगे, क्योंकि नवीन जी आजीवन उन्हीं रहस्यों की खोज में लगे रहे,

"तप्त प्राणों ने निरंतर कौन-सी विपदा न झेली ?
किंतु उलझी ही रही फिर भी अभी तक यह पहेली;
सतत अन्वेषण क्रिया है बन गई जीवन-सहेली;"

(क्वासि)

देखूँ इन पहेलियों को बूझने के लिए वाणी के कौन-कौन पूत आगे आते हैं।

[जून, १९६०]

कविवर नवीन जी

मुझे इस बात से बड़ी प्रसन्नता और बहुत संतोष है कि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के निधन के बाद अनेक हिंदी पत्र-पत्रिकाएँ उनके प्रति श्रद्धांजलि-अंक निकाल रही हैं। अपने जीवन-काल में नवीन जी ने राजनीति और साहित्य दोनों के क्षेत्रों में काम किया था। अब तक साधारण लोगों में यही धारणा फैली है कि नवीन जी मुख्य रूप से राजनीतिक कार्यकर्ता थे और गौण रूप से यदा-कदा कुछ लिख भी लिया करते थे। नवीन जी स्वयं अपने साहित्यकार के प्रति कुछ उदासीन थे। उन्होंने सन् १९१६ के लगभग काव्य-रचना आरंभ की थी और उनकी कविताओं का पहला संग्रह जाकर १९३९ में प्रकाशित हुआ—'कुंकुम'। बारह वर्षों तक फिर न उन्होंने अपना कोई नया संग्रह छपाया और न 'कुंकुम' का ही नया संस्करण कराने की ओर ध्यान दिया। सन् १९५१-'५२ में उनके तीन [illegible] हुए—'रश्मि-रेखा', 'अपलक', और 'क्वासि'। १९५३ में उनका 'विनोबा स्तवन' निकला। १९५७ में उन्होंने अपना 'ऊर्म्मिला' प्रबंध-काव्य प्रकाशित किया, जो लगभग पचीस वर्ष पूर्व समाप्त हो गया था और पांडुलिपि रूप में उनके पास पड़ा था। उनकी ४५ वर्ष की काव्य-साधना के फल-रूप उनकी यही छः पुस्तकें हमारे सामने हैं। उनका लिखा हुआ कितना अप्रकाशित है, इसका अनुमान लगाना मेरे लिए कठिन है। मुझे कभी उनकी पांडुलिपियों को देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ; पर मेरी धारणा है कि नवीन जी की जितनी कविताएँ प्रकाश में आई हैं, उससे कहीं अधिक कविताएँ पांडुलिपियों में पड़ी हैं। अपने तीसरे काव्य-संग्रह 'अपलक' की भूमिका लिखते हुए उन्होंने कहा था, "मेरा जीवन प्रमादपूर्ण, आलस्यमय और निद्राभिभूत रहा है और है। फिर भी कुछ लिखा है और मित्रों का आग्रह था कि वह प्रकाश में लाया जाय। सो, यह समारंभ हो रहा है।" नवीन जी अपने जीवन में कितने सक्रिय रहे हैं—कम-से-कम स्वराज मिलने के पहले तक—यह किसी से छिपा नहीं। और

'प्रीतम', अपनी 'मैना' को याद करते हैं। समय की कैसी ज़बरदस्त माँग थी कि इतना भावुक, इतना कोमल हृदय, इतना रससिक्त कवि अपने को राजनीति की कवित्वहीन परिस्थितियों में झोंक देने को विवश हो गया था।

यह तो समय का बड़ा भारी व्यंग्य था कि जो केवल कवि था, उसको लोग इतने दिनों तक राजनीतिज्ञ अधिक समझते रहे। राजनीतिज्ञता उसके परिधान भर में थी, तन-मन-प्राण से वह कवि ही था। और अचरज तो इस पर होता है कि वह ख़ुद भी कभी-कभी इस धोखे में आता रहा। अपने कवि को धोखा देना असंभव होता है, वह बराबर अपना कर वसूल करता रहा, या अपना रसदान देता रहा; उपेक्षा से कवि नहीं मरा करते। समय से रचनाओं के प्रकाशित होने की महत्ता है; पर अगर वे प्रकाशित नहीं हुई तो यही कौन कम है कि वे लिखी गई, सुरक्षित हैं, और कभी-न-कभी प्रकाश में आएँगी। पर एक बात मैं इसी जगह पर कह देना चाहता हूँ कि नवीन जी की जितनी कविताएँ प्रकाश में आ चुकी हैं, उतनी भी पर्याप्त हैं कि हिंदी काव्य-जगत में नवीन का नाम सदा के लिए स्मरणीय बना दें।

नवीन जी के अपनी कविताओं की थोड़ी-सी उपेक्षा करने के कारण हिंदी कविता का पिछले ४०-४५ वर्षों का इतिहास ही अधूरा और विकृत हो गया है। जब खड़ीबोली हिंदी कविता द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक वृत्त से निकली तो उसकी परिधि छायावाद या रहस्यवाद ने घेर दी, जिसके प्रमुख कवि प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी हैं। वास्तव में इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध जो आंदोलन उठा, वह उससे अधिक व्यापक था, जिसे केवल छायावाद से घेरा जा सकता है। वह भौतिक भी था और आध्यात्मिक भी, रागात्मक भी था, विरागात्मक भी, उसमें इस पार के लिए ललक भी थी, उस पार के लिए जिज्ञासा भी। नवीन जी ने अपने रचनाकाल के प्रारंभ में इसी भौतिकता, रागात्मकता और जीवन की ललक और तृष्णा को वाणी दी। बुद्ध के सब्बा दुःखा, सब्बा अनत्ता, सब्बा अनिक्का की गूँज जब से इस देश में व्यापी, जिसे शंकर के 'जगन्मिथ्या' सिद्धांत ने और बल ही दिया होगा, जिसकी स्वीकृति के लिए लगभग हज़ार बरस की दासता और असमर्थता ने समुचित वातावरण ही बनाया होगा, जीने के आनंद की भावना यहाँ से लुप्त हो गई थी। जीवन की स्वाभाविक और अनिवार्य भावनाओं को विकार समझा जाने लगा था। वे केवल शमित, दमित करने की वस्तुएँ

थीं। रूढ़ि, रीतियों, नीतियों, लोकोपचारों और पाप-पुण्य की मनगढ़ंत व्याख्याओं ने जीवन के स्वाभाविक स्रोतों को सुखा दिया था। जीवन का राग, उल्लास, जीवन की उमंग तरंगों में उठना भूलकर नियमावलियों की नलियों में रुद्ध-बद्ध सड़ाँध उत्पन्न कर रही थी। खड़ीबोली कविता के नए आंदोलन ने जहाँ अनंत असीम की ओर पंख फैलाए, वहाँ उसने भौतिक जीवन की इन संकीर्ण नालियों को भी तोड़ दिया। स्वाभाविक था कि इसमें वासना, असंयम उच्छृंखलता, उन्माद, मस्ती, अक्खड़-फक्कड़पन देखा जाता; इसका विरोध किया जाता। पर यह जीवंत तत्त्व था और पराजित होने के लिए नही आया था। नवीन जी नए आंदोलन के इसी पक्ष का शंखनाद करते हुए आए थे—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए।

× ×

नियम और उपनियमों के ये
बंधन टूक-टूक हो जाएँ।

× ×

अरे विराग सिखानेवाले, इधर ज़रा तू देख,
कुछ क्षण को तू यहीं छोड़ दे अपना ज्ञान-विवेक;

× ×

खड़ी द्वार पै लोक-लाज यह कहती है :—तू सँभल ज़रा;
और इधर यौवन-मादकता कहती है :—तू मचल ज़रा;

× ×

आज बहुत गहरे में हूँ मैं, तुमने तो की क्रीड़ा मात्र,
पर मेरे चहुँ ओर पड़े हैं इधर-उधर ख़ाली मधु पात्र;
(कुंकुम)

× ×

अब कैसी लोक-लाज? अब क्या संकोच सजन?
क्यों न आज बंध तोड़ बहे मुक्त स्नेह-व्यजन?

हम तुम मिल क्यों न करें आज नवल नीति सृजन ?
जिस पर चलकर पाएँ निज को ये सब जग-जन;
× ×
पूर्ण घूँट हूँ, प्रथम प्यास की,
मैं पीड़ा हूँ नवोल्लास की;
× ×
मैं यौवन पथ का लघु रजकण
लोक-लाज का मैं उल्लंघन;
× ×
अब भी आ जाओ, देखो तो कितनी सुन्दर वेला,
अंधकार, लोकोपचार को ढाँक चला अलबेला;
× ×
घन-धारा में टिक पाएगी कैसे अंग भभूत, री,
धुल जाएगी इक छन भर में, यह विराग की धूल, री;
× ×
संयम ! मेरी प्राण, रंच तो
आज असंयम में बहने दो;
× ×
ज्ञान-ध्यान-पूजा-पोथी के—
फट जाने दे वर्क़ नशे में ;
× ×
यह अनंत जीवन लख, बोलो, हम क्यों बने बिरागी ?
× ×
हम-से मस्ताने नवीन हैं
सीखे करना प्यार,
अब तो उलट-पलट जाएगा
जग आचार-विचार; (रश्मि रेखा)

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवीन जी जीवन का जो उल्लास लेकर आए हैं, उसमें विरागात्मकता, नियम-उपनियम, जग आचार-विचार, लोकोपचार, ज्ञान-

विवेक सब ढहते, बहते दिखाई देते हैं।

छायावाद के आध्यात्मिक आतंक में इस उल्लास की क़द्र नहीं की गई, पर इन पंक्तियों, इन भावनाओं ने कितनों की मनोग्रंथियों को खोला होगा। छायावाद युग को इस उल्लास, समाज में इसकी आवश्यकता, काव्य में इसकी अभिव्यक्ति को समझना होगा। तब हम देखेंगे कि प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी के साथ हमें नवीन को भी खड़ा करना होगा। बिना नवीन की काव्य-देन को समझे छायावादी युग की व्याख्या अधूरी होगी और एक शक्तिशाली कवि के प्रति अन्याय भी होगा।

ऐसा नहीं कि नवीन छायावाद, रहस्यवाद अथवा अध्यात्मवाद से अप्रभावित रहे हैं। पर नवीन का अध्यात्मवाद उसकी पार्थिवता का ही संशोधित, परिष्कृत, विदग्ध, अग्निपूत रूप है। पार्थिव प्रियतम को वे देवता बना देते हैं, देवता का पार्थिव प्रियतम के समान साक्षात्कार करते हैं। नवीन का रहस्यवाद उस परंपरा से आया है, जिसके आदिकवि विद्यापति कहे जा सकते हैं—आराध्य को पति-रूप में देखना।

नवीन जी रागात्मक आध्यात्मिकता से ऊपर भी उठे हैं। दार्शनिक-जिज्ञासा उनमें इतने आवेश के साथ उठती है कि वह सहज ही कविता बन जाती है। उन्होंने कई आत्म-विश्लेषण-संबंधी सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ भी दी हैं।

राष्ट्रीय, सामाजिक, सामयिक, अवसरपरक कविताएँ भी उन्होंने लिखी हैं। उनका हृदय इतना तरल-सरल था कि राग जगानेवाली किसी भी अवस्था की ओर ढुलक सकता था।

अंत में, जिसे हम छायावाद युग कहते हैं, उसमें नवीन जी का प्रमुख स्थान है। उन्हें अलग कर छायावाद की जितनी व्याख्या की गई है, मेरी समझ में, वह अपूर्ण है। नवीन जी की रचनाओं के प्रकाश में आने पर यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। आवश्यकता यह है कि नवीन जी की सारी कविताएँ प्रकाश में लाई जाएँ। यदि संभव हो तो इन्हें रचनाक्रम में प्रकाशित किया जाय। नवीन जी हर रचना के साथ तिथि भी दिया करते थे। इन तिथियों की भी बड़ी महत्ता होगी। कहीं-कहीं परिस्थितियों का भी संकेत है। इनसे कविताओं की प्रेरणा, उनके वातावरण आदि को समझने में सहायता मिलेगी। नवीन जी की कविताओं का मूल उनकी अनुभूतियों में मिलेगा।

आवश्यकता उनकी विस्तृत जीवनी की भी है। उनकी बहुत-सी कविताओं का रहस्य उनसे संबद्ध घटनाओं से ही खुल सकेगा। अपनी कविता-संबंधी मान्यताओं को उन्होंने अपनी रचनाओं की भूमिकाओं में दिया है। उनके गद्य-लेखों का भी संग्रह किया जाना चाहिए। इसी प्रकार उनके पत्रादि भी संकलित किए जाने चाहिए। नवीन जी की कविता उनके जीवन की सच्ची प्रतिध्वनि थी। उसे पूरी तरह समझने के लिए आवश्यक होगा कि उनके जीवन और व्यक्तित्व पर जहाँ कहीं से भी प्रकाश पड़ सके, उसे हम सँजो लें। यों तो जितना कुछ उनका साहित्य प्राप्य है, उतने से भी हम उनके सशक्त कवि को पहचान सकते हैं।

पर हमारा दुर्भाग्य है कि उसको भी पढ़नेवाले नहीं हैं। नवीन जी की किसी भी रचना का दूसरा संस्करण नहीं हो सका। उनकी पुस्तकें पाठ्यक्रमों में नहीं लगी हैं। आज आलोचनाएँ भी उन्हीं पर लिखी जाती हैं जिनकी पुस्तकें कोर्स में हैं। खैर, इससे एक लाभ तो हुआ है कि वे कुंजीनुमा समालोचनाओं से बच गए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि साधारण पाठक उनकी कविताओं में रुचि लें। हम कवि के प्रति प्रेम-आदर का प्रदर्शन तो अधिक करते हैं, पर उसकी रचनाएँ नहीं पढ़ते। यह अस्वस्थ प्रवृत्ति है। अभी उस दिन की एक घटना मुझे याद हो आई। एक समिति के आयोजक नवीन के निधन पर शोक-सभा करना चाहते थे। शोक-सभा क्या, इस बहाने अपनी समिति की कुछ चर्चा पत्रों में चाहते थे। मैंने उनसे पूछा, सच बताइए, नवीन जी की कोई रचना आपके घर में है? नवीन जी की कोई पुस्तक आपने पढ़ी है? वे चुप रहे। मैंने कहा, मेरे लिए यह नवीन जी की मृत्यु से अधिक शोकप्रद है।

जून, १९६०]

'यह मतवाला'—निराला !

पन्द्रह अक्टूबर की संध्या को बंधुवर नरेन्द्र शर्मा का फ़ोन आया, "बच्चन भाई !"—नरेन्द्र के इस अप्रत्याशित संबोधन और गंभीर स्वर से ही मैं किसी अप्रत्याशित और गंभीर समाचार के लिए चौकन्ना-सा हो गया। डा० नगेन्द्र, भाई अमृतलाल नागर, भाई नरेन्द्र शर्मा, दो-तीन और मित्रों के, और मेरे बीच अनजान यह समझौता-सा है कि जब हम एक-दूसरे को मिलेंगे तो 'कहो बंधू' कहकर संबोधित करेंगे। और अगर किसी अवसर पर हमारा परस्पर साक्षात्कार होते ही यह संबोधन नहीं फूट पड़ता तो हमें आभास हो जाता है कि दाल में कुछ काला है। यह प्रथा हमारी फ़ोन पर भी चलती है। नरेन्द्र कुछ रुककर कहते गए, "निराला जी-चल-बसे। विविध-भारती की ओर से तुम्हारी श्रद्धांजलि रेकार्ड करने के लिए आ रहा हूँ।"

मेरे लिए, और शायद मेरे जैसे बहुतों के लिए, निराला जी की मृत्यु न अप्रत्याशित थी और न आकस्मिक। पिछले लगभग दस वर्षों से उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। गत वर्ष—राजर्षि टंडन अभिनंदन के अवसर पर—उनकी गंभीर बीमारी का समाचार पत्रों में आया था। उनके पश्चात जो लोग भी निराला जी से मिलते रहे, अपनी-अपनी प्रतिक्रिया लिखते रहे। श्री धर्मवीर भारती के लेख और चित्रों से वे बहुत अस्वस्थ मालूम हुए। श्री केदार नाथ अग्रवाल के लेख से लगा कि वे पूर्णतया स्वस्थ हो गए हैं। सनेही जी के लेख ने हालत फिर नाज़ुक बताई। जैसे जीवन से, वैसे मृत्यु से भी, निराला संघर्ष कर रहे थे और इस युद्ध में विजय मृत्यु की ही होती है, और शीघ्र भी, यदि आदमी में जीने की इच्छा-शक्ति शेष न रहे। सनेही जी से उन्होंने कुछ ही सप्ताह पूर्व कहा था कि अब मैं नहीं जीना चाहता। मैं उसी दिन समझ गया था कि अब वे जल्द ही हमसे विदा ले लेंगे।

और प्रथा तो यही है कि कोई कितनी ही लंबी उमर पाकर क्यों न मरे,

उसकी मृत्यु को असामयिक ही कहा जाता है, पर इस समय मुझे प्रथा निभानी नहीं है। निराला जी की मृत्यु न अप्रत्याशित थी, न आकस्मिक और न असामयिक ही। उन्होंने अपने जीवन का अमृत-अंश बहुत पहले ही निचोड़ दिया था— शायद आखिरी बूँद तक—काव्य के लिए, साहित्य के लिए, समाज के लिए। जो शेष रह गया था, वह विष था—जो उन्होंने अपने लिए रख छोड़ा था—और जो अनेक विकृतियों के रूप में, संसार के सामने आता रहा। 'राम की शक्ति पूजा' के पश्चात जो उन्होंने दिया है, वह इस विष को भी अमृत, अमृत नहीं तो रस—भले ही वह सदा मधुरस न हो—बनाने का प्रयास था। सात वर्ष से अधिक निराला इससे भी रिक्त होकर अपने को जिलाए रहे, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। निराला सचमुच महाप्राण थे। परंतु कलाकार या क्रांतिकारी जिस अर्थ में जीता है, वह उनके लिए समाप्त हो चुका था। कई वर्षों से वे अपने मिलनेवालों से अक्सर कहते थे कि निराला तो मर चुका है; और जब कोई उनका हस्ताक्षर माँगता था, तो वे अपना नाम न लिखकर किसी राजनयज्ञ अथवा पहलवान का नाम लिख दिया करते थे। मुझे किसी मित्र ने यहाँ तक बताया कि वर्षों से उन्होंने अपनी रायल्टी नहीं ली थी, क्योंकि रसीद पर वे अपना हस्ताक्षर नहीं करना चाहते थे।

निराला ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में शारीरिक और मानसिक कष्टों के रूप में केवल उस अमृत का मूल्य चुकाया, जो उन्होंने 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' लुटा दिया था। इसका प्रतिदान जिस स्नेह-संवेदन-सम्मादर के रूप में होना चाहिए था, वह नहीं हो सका। शायद जिन्होंने यह दान पाया था, वे भी उसका मूल्य ठीक नहीं जान सके, शायद अमृत का मूल्य जल्दी समझना भी कठिन है, शायद अमृत का मूल्य दिया भी नहीं जा सकता। अमृत के दानी सदा से विष के घूँट ही पीते गए हैं—सुक़रात, ईसा, मीरा, सरमद दयानंद, गांधी। निराला ऊँची परंपरा के थे; तभी तो वे ऐसी पंक्तियाँ लिख सके थे :

> "पुष्प-पुष्प से तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं,
> अपने नव जीवन का अमृत सहर्ष सींच दूँगा मैं,"
>
> ध्वनि (परिमल)

"ठहरो अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा ।"

भिक्षुक (परिमल)

"नश्वर को करते अविनश्वर तत्काल
तुम अपने ही अमृत के
पावन-मृदु-सिंचन   से"

कवि (परिमल)

जो अमृत का दान देने चलता है, वह जानता है कि उसके लिए अंत में विप ही रह जाना है। प्रतिदान की कामना-कुंठा बनी रहे तो यह विष अधिक कटु हो जाता है। मुझे यह लिखते हुए बड़ा दुख हो रहा है कि यह कामना-कुंठा निराला को न छोड़ सकी। निराला ऐसे साधक के लिए इस पर विजय पाना असंभव न था, पर दुर्भाग्यवश, उनके स्नेही अपने मोह की अतिशयता में इसे उभारते ही रहे। मैं विस्तार में न जाऊँगा। थोड़ा लिखना, बहुत समझना ऐसी ही जगहों के लिए कहा गया है। इससे निराला के दान का मूल्य तो कम नहीं हुआ, पर उनका संघर्ष अधिक करुण हो गया। अभाव के प्रति निरपेक्ष रहना और अभाव को सह जाने में अंतर तो करना ही पड़ेगा। निरपेक्षता उन्हें बहुत ऊँचा उठा देती, शायद हमसे दूर भी कर देती। उनमें थोड़ी-सी दुर्बलता रखकर शायद नियति उन्हें हम ईषिणा-पीड़ित मानवों के अधिक निकट रखना चाहती थी। हम अमृत तो देंगे, बदले में थोड़ा रस भी चाहेंगे। मानव होकर इस मानवीय दुर्बलता को कौन वहाँ तिरस्कार की दृष्टि से देखेगा, जहाँ प्रायः विष देकर अमृत की कामना की जाती है।

नरेन्द्र जी की प्रतीक्षा में बैठे 'निराला' का नाम सर्वप्रथम सुनने से लेकर आज तक की न जाने कितनी स्मृतियाँ आँखों के सामने चित्रित होने लगीं।

खड़ीबोली हिंदी कविता का इतिहास बीसवीं शताब्दी की आयु का इतिहास है। इतने कम समय में जिन कवियों की साधना ने हिंदी कविता को भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं की समकक्षी ही नहीं, विश्व कविता के मानचित्र में एक सम्मान्य स्थान की अधिकारिणी बनाया, उनमें प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी का नाम सबसे पहले लिया जाएगा—प्रकाशन की ओर से उदासीन न

रहते तो इस श्रेणी में 'नवीन' का भी स्थान होता।

मैंने 'सूर्यकांत त्रिपाठी' का नाम सर्वप्रथम 'मतवाला' के पृष्ठों में देखा। बात शायद १९२२-'२३ की है; उस समय मेरी अवस्था १४-१५ वर्ष की थी। जहाँ तक मुझे स्मरण है, 'सूर्यकांत त्रिपाठी' के साथ 'निराला' नाम पहले नहीं जुड़ता था। निराला जी के सर्वप्रथम संग्रह 'अनामिका' (१९२३) के साथ भी लेखक का नाम केवल 'सूर्यकांत त्रिपाठी' है। 'निराला' नाम सर्वप्रथम कब और किस कारण त्रिपाठी जी ने अपनाया, इस पर मैंने कहीं कुछ नहीं देखा। अभिनव 'अनामिका' के प्राक्कथन में 'मतवाला' 'निराला' के अनुप्रास का संकेत भर है। पद्य-रचना मैंने १९२० से आरंभ कर दी थी, पर तुक-मात्रा बिठलाना मेरे लिए अब भी कठिन था। निराला के मुक्त छंद ने मेरे संकट काट दिए—लेखनी में जैसे किसी ने चाभी भर दी और मैंने छोटे-बड़े कागज़ों पर पंद्रह-बीस कविताएँ लिख डालीं। बाद को वे खो-खा गईं। यह था निराला का पहला प्रभाव मुझ पर—बीस वर्ष बाद जो मैंने फिर मुक्त छंद में लिखा, 'बंगाल का काल', वह शायद तभी के बीज का प्रस्फुटन था। निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व ने अन्य रूपों में भी मुझे प्रभावित किया।

'अनामिका' मेरे पास कैसे पहुँची, इसकी मुझे याद नहीं। पंत जी की प्रथम पुस्तिका 'उच्छ्वास' (१९२२) की संगिनी बनी तभी से यह मेरे पास है। एक वर्ष के अंतराल से निकली दोनों महाकवियों की ये सर्वप्रथम रचनाएँ कई अर्थों में उनके कवि-जीवन की जन्म-पत्रियाँ हैं। 'उच्छ्वास' का आकार डबल क्राउन सोलहपेजी है, उसमें कुल मिलाकर १६ पृष्ठ हैं, नीले कपड़े की जिल्द है, जिसपर कलापूर्ण स्वर्णाक्षरों में 'उच्छ्वास' का ठप्पा है; पुस्तिका अजमेर से स्वप्रकाशित है; दाम बारह आना है। किसी की भूमिका-सम्मति साथ नहीं है, कविता के प्रारंभ में कविता की ही दो पंक्तियाँ 'मोटो' की तरह रख दी गई हैं :

"सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम-मित्र थी !"

'अनामिका' 'उच्छ्वास' से लंबाई-चौड़ाई में एक-एक अंगुल कम है—उसे शायद डिमाई १६ पेजी साइज़ कहते हैं। उसमें कुल मिलाकर ४० पृष्ठ हैं। पतले कार्डबोर्ड का मटमैला कवर है, पुस्तक का नाम कुछ बड़े टाइप के टेढ़े

अक्षरों में बैंगनी रंग में छपा है; प्रकाशक हैं नवजादिक लाल श्रीवास्तव, २३ शंकर घोष लेन, कलकत्ता; दाम छ: आना है। शुरू में महादेव प्रसाद सेठ लिखित एक पेज की भूमिका है। इसके आगे 'शारदा के भूतपूर्व संपादक और वर्तमान शिक्षा सम्पादक साहित्याचार्य पडित चंद्र शेखर शास्त्री की सम्मान्य सम्मति' है। पुस्तक के प्रारंभ में निम्नलिखित श्लोक 'मोटो' की तरह दिया गया है :

"पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे
कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदास :
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद्-
अनामिका सार्थवती बभूव !"

कवर की पीठ पर लगभग एक दर्जन छोटी-मोटी पुस्तकें अपना विज्ञापन कर रही हैं।

पुस्तकों के कलेवर में जाते हैं तो पाते हैं कि 'उच्छ्वास' में एकमात्र कविता है, जिसकी आदि से अंत तक एक शैली है, और उसे पढ़ने पर एक संश्लिष्ट प्रभाव पड़ता है। 'अनामिका' में नौ कविताएँ हैं, मोटे तौर पर मुक्त छंद—और छंदोबद्ध की दो शैलियों में—'पंचवटी', 'अधिवास', 'जुही की कली' पहली में है; 'अध्यात्म फल', 'माया', 'सच्चा प्यार', 'जलद', 'लज्जिता' दूसरी में। 'तुम और मैं' में दोनों शैलियों का सम्मिश्रण है।

यहाँ केवल जन्मपत्रियों के ग्रहों के नाम गिना, उनका फल किसी कल्पना-शील आलोचक-ज्योतिषी के ऊपर छोड़ना पर्याप्त होगा। फिर भी, इतना कहना चाहूँगा कि 'अनामिका' में निराला दो सुस्पष्ट, विभिन्न परंपराओं के अंतर्गत सृजन करते दिखलाई पड़ते हैं—एक समृद्ध, परिपक्व, सुस्थिर; दूसरी निस्तेज, कच्ची और प्रयोगात्मक; एक बँगला साहित्य की परपरा, जिसमें रवीन्द्र और नज़रुल रचनाएँ कर रहे थे और दूसरीद्विवेदी युगीन—इतिवृत्तात्मक—जिसका परिचय उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका से प्राप्त किया था; वंगाल में जन्मने, पलने, बढ़ने, शिक्षित होने, युवावस्था तक रहने के कारण पहलो निराला के लिए अधिक स्वाभाविक, दूसरी कम, कृत्रिम भी। परिणाम स्पष्ट है। जहाँ निराला खड़ी-बोली की तत्सामयिक परंपरा, भाव, भाषा, छंद, रूपक आदि का अनुसरण करते हैं, वहाँ उनकी चीज़ें इतिवृत्तात्मक, सिलपट, फुसफुसी, भोंडी, सस्ती, सुधारवादी होती हैं—हालाँकि उनमें भी कहीं-कहीं छायावादी कल्पना के अंकुर

फूटते दिखाई देते हैं; पर जब वे बँगला की परंपरा के प्रभाव में लिखते हैं, तब उनकी लेखनी को पर लग जाते हैं; उनकी चीजें चुस्त, दुरुस्त, सुष्ठु होती हैं। 'जलद' की ये पंक्तियाँ देखिए :

भौंए तान दिवाकर ने जब भू का भूषण जला दिया,
माँ की दशा देख कर तुमने तब विदेश प्रस्थान किया,
वहाँ होशियारों ने तुमको ख़ूब पढ़ाया—बहकाया—
"द" जोड़ ग्रेड बढ़ाते ही तो जाल फूट का फैलाया—
"जल" से "जलद" कहा—समझाया भेद तुम्हें ऊँचे बैठाल—
दायें-बायें लगे रहे, तुम जिससे भूलो अपना हाल,
किंतु तुम्हारे चारुचित्त पर खिची सदा माँ की तस्वीर—
क्षीण हुआ मुख, छलक रहा है नलिनी-दल-नयनों से नीर,
पवन शत्रु ने तुम्हें उतरते देख उड़ाया पथ-अम्बर,
पर तुम कूद पड़े, पहनाया माँ को हरा वसन सुन्दर;
धन्य तुम्हारी मातृभक्ति को ! दुःख सहे, डिगरी खोई,
ऊर्ध्वग जलद ! बने निम्नग जल, प्यारे ! प्रीति बेलि बोई !"

द्विवेदी युगीन कविता की असमर्थता, निर्बलता, त्रुटि बोल रही है।

चौथी पंक्ति में मात्राएँ पूरी हैं, पर लय दोषपूर्ण है। हमें न भूलना चाहिए कि दस वर्ष पूर्व हिंदी 'भारत भारती' दे चुकी थी।

अब 'पंचवटी-प्रसंग' की कुछ पंक्तियाँ देखिए, जो मेरी सम्मति में 'अनामिका' की सर्वश्रेष्ठ पंक्तियाँ हैं और जिन्हें, संपूर्ण निराला-साहित्य में से सर्वश्रेष्ठ चुनते हुए भी शायद ही भुलाया जा सके। अपने-आप में यह गीत-सी पूर्ण हैं :

राम—छोटे-से घर की लघु सीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव, यह सच है प्रिये !
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निस्सीम भू पर।
प्रेम की महोर्मि माला तोड़ देती क्षुद्र ठाट;
उसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण सम बह जाते हैं।

हाथ मलते भोगी, धड़कते हैं कलेजे उन कायरों के,
सुन-सुन प्रेम-सिंधु का सर्वस्व-त्याग-गर्जन घन !
अट्टहास हँसता प्रेम पारावार
देख भय-कातर की दृष्टि में
प्रार्थना की मलिन रेखा;
तट पर चुपचाप खड़ा हाथ जोड़ मोह मुग्ध
डरता है गोते लगाते प्रेम सागर में;
जीवनाशा पैदा करती है सन्देह,
जिससे संकोच पाता सारा अंग;
यादकर प्रेम-वड़वाग्नि की प्रचंड ज्वाला
फेरता है पीठ वह;
दिव्य-देहधारी ही कूदता है इसमें, प्रिये।

इसमें 'कविता-कलाप' के राय देवीप्रसाद साहब अथवा पंडित कामताप्रसाद गुरु की प्रतिध्वनियाँ नहीं—इसमें प्रतिध्वनियाँ हैं रवीन्द्र और नजरुल की—शायद नज़रुल की अधिक। ये पंक्तियाँ 'राम की शक्ति-पूजा' की बीज भी हैं, जो निराला की सर्वश्रेष्ठ रचना है। सेठ जी द्वारा उद्धृत महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में 'नई चीज' और चंद्रशेखर शास्त्री के शब्दों में 'एकदम नई' चीज थी—यह मुक्त छंद, जो निराला ने हिंदी को दिया था। सेठ जी ने भी 'पंचवटी-प्रसंग', 'अधिवास' तथा 'जुही की कली' में ही 'अभूतपूर्व नई शैली' देखी थी। निराला के छंद-जाल को तो सबने देखा था, पर उसने जो समेटा था, उसे किसी ने नहीं देखा। निराला का मुक्त छंद हिंदी का वह मुक्त हस्त था, जिसे फैलाकर उसने बंगाल की काव्य परंपरा—भारतीय काव्य परंपरा में उस समय सबसे समृद्ध—को आलिंगित करने का प्रयास किया। जाहिर है कि महज जाल फेंटने से कुछ हाथ नहीं लगना था, और जैसा कि मैंने अपने 'बुद्ध और नाचघर' की भूमिका में लिखा था, लगभग तीन दशक तक निराला अपने प्रयोग में एकाकी रहे। और इसके लिए क्षुब्ध भी रहे कि उनका 'अनुगमन' करनेवाले नहीं मिले। 'पल्लव' की भूमिका में अक्षर मात्रिक स्वच्छंद छंद का विरोध प्रासंगिक था; उसके प्रचलित न होने के कारण गहरे थे।

निराला जी को सर्वप्रथम मैंने १९२८-'२९ में देखा, जब वे बंगाल से विदा

लेकर उत्तरप्रदेश में आ गए थे और लखनऊ में व्यवस्थित या अव्यवस्थित रूप से रह रहे थे। उन दिनों मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का छात्र था। यूनिवर्सिटी में किसी कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था—विजयानगरम हाल में। उसी में भाग लेने वे आए थे—शरीर से लंबे, दुबले, साँवले—सिर पर लंबे, काले बाल—दाड़ी-मुँछ मुँडे; तहमत पर उन्होंने लंबा कुरता पहन रक्खा था। जब उनके कविता पढ़ने की बारी आई तो उन्होंने कहा, "मेरा गला ख़राब है, इस कारण गाकर कविता नहीं सुनाऊँगा।" उन दिनों गाकर कविता सुनाने की इतनी प्रथा थी कि केवल काव्य-पाठ करनेवाले को क्षमा-याचना-सी करनी पड़ती थी—उन्होंने पहले मुक्त छंद की कुछ कविताएँ सुनाईं। तन्मयता, उच्चारण की सुस्पष्टता, वाणी की ओजस्विता उनकी विशेषता थी। फिर लोगों के अनुरोध करने पर उन्होंने अपने कुछ गीत भी सुनाए—गले की ख़राबी का कोई पता नहीं। एक मित्र बग़ल में कह रहे थे, "ख़राब गले का यह कमाल है, गला अच्छा होता तब क्या होता!" उस समय तक पढ़ाई की धुन में मैं कविता लिखना छोड़ चुका था। बी० ए० करने के बाद ही मैंने फिर लिखना शुरू किया। मंच पर आने में तो कई वर्षों की देर थी। १६२६ में गंगा-पुस्तक-माला के सौवें पुष्प के रूप में उनका 'परिमल' निकला तो मैंने उसे खरीदकर अपनी पत्नी को भेंट किया। आज भी वह प्रति मेरे पास है।

'परिमल' ने निराला को उसी प्रकार हिंदी काव्य में स्थापित कर दिया, जिस प्रकार पंत को 'पल्लव' ने। भूमिका में निराला ने दो बातों पर विशेष बल दिया था—हिंदी के राष्ट्रभाषा बनने के लिए साहित्यिक पौरुष की और भावी कविता के लिए मुक्त छंद अपनाने की आवश्यकता पर। कविता का जीवन से जो संबंध मेरी कल्पना में उस समय था और शायद आज भी है, उसमें ये दोनों प्रश्न गौण थे। कुछ कौतूहल की बात थी, मुक्त छंद के आधार के संबंध में पंत-निराला के विपरीत मत। पंत ने लिखा था, "अन्य छंदों की तरह मुक्त काव्य भी हिंदी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छंद का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, दोनों में स्वरैक्य रहना चाहिए।··· कवित्त छंद, मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिंदी का औरस जात नहीं, पोष्य-पुत्र है; न जाने, यह हिंदी में कैसे और कहाँ से आ गया; अक्षर मात्रिक छंद बँगला में मिलते हैं, हिंदी के उच्चारण-संगीत की वे रक्षा नहीं कर सकते।" निराला ने

प्रत्युत्तर दिया, "मुक्त छंद तो वह है, जो छंद की भूमि में रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खंड में जितनी कविताएँ हैं, सब इस प्रकार की हैं। उनमे नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त-छंद का-सा जान पड़ता है। हिंदी में मुक्त-काव्य कवित्त-छंद की बुनियाद पर सफल हो सकता है। कारण, यह छंद चिर-काल से इस जाति के कंठ का हार हो रहा है—यदि हिंदी का कोई जातीय छंद चुना जाए तो यही होगा।" सैद्धांतिक बहस लंबी होगी। परिणाम तो यही देखने में आया कि निराला के बाद कोई उसका निर्वाह सफलतापूर्वक नहीं कर सका, और पिछले दशक में जो मुक्त छंद आया है, वह स्वर की लय पर नहीं, भाव और अर्थ की लय पर आधारित है, गद्यवत् है, यानी वह पढ़ने के लिए नही, देखने-समझने के लिए है। कविता की मूलभूत आवश्यकता से वह कितना दूर-निकट है, यह प्रश्न और है। और उसके पीछे पश्चिम के 'वर्स लिब्रे' की प्रेरणा भी कम नहीं है।

'पल्लव' ने विषय और शैली से प्रभाव की एकता स्थापित कर दी थी। पंत कोमल-कांत-पदावली में प्रकृति के कवि हैं। 'परिमल' अपनी विविधता में बिखर गया था। यहाँ संस्कृत का ध्वनि-सौंदर्य, ठेठ हिंदी का ठाट, लखनवी ज़बान का चटखारा, बँगला का स्वर-वितान सब था। विषयों के लिए कवि प्रकृति, समाज, अध्यात्म, इतिहास, कल्पना सभी के पास गया था। कवि की प्रतिक्रिया में करुणा-जन्य विद्रवण, रहस्य-विमुग्धता, विद्रोह, क्रांति, संघर्षोत्तेजन, उद्बोधन, चुनौती, पलायन, दार्शनिक-चिंतन सब थे। 'परिमल' में जिस चीज़ ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया था, वह थी दीन, दुःखी, कातर, असहाय के प्रति निराला की करुणा-ममता। निराला ने बड़ी क़ीमत देकर यह पर-दु[illegible] मानवता प्राप्त की थी। करुणा के चित्रण में निराला अद्वितीय हैं। विश्व-पीड़ा का इससे अधिक सजीव चित्रण मैंने नही देखा :

> त्रस्त विश्व की आँखों से बह-बहकर,
> धूलिधूसरित धोकर उसके चिन्तालोल कपोल,
> श्वास और उच्छ्वासों की आवेग-भरी हिचकी से,
> दलित हृदय की रुद्ध अर्गला खोल,
> धीर करुण ध्वनि से वह अपनी कथा व्यथा की कहकर
> धारा भरती धराधाम के दुःख अश्रु का सागर।

एक और चीज जिससे मैं प्रभावित हुआ, वह था, निराला का पौरुषपूर्ण प्रखर नर-स्वर। छायावाद का व्यापक स्वर नारी-स्वर था।

इसके बाद निराला को मैंने १९३५ में ईविंग क्रिश्चियन कालेज, प्रयाग, के कवि-सम्मेलन में देखा। कवि-सम्मेलन उन्हीं के सभापतित्व में हुआ था। कविता पढ़ने के लिए मुझे भी निमंत्रित किया गया था। मैं अपनी 'मधुशाला' लिख चुका था और 'मधुबाला' के गीत लिख रहा था। निराला का शरीर भारी हो चला था, बाल पक चले थे। मेरे नाम-काव्य से शायद वे परिचित हो चुके थे। उनके सामने कविता-पाठ करने का मेरा यह पहला अवसर था। 'मधुशाला' सुनकर जो उन्होंने मुझसे कहा, उसे दुहराना मेरे मुँह से न सोहेगा। उनके कोमल-प्रखर-उदात्त स्वरों ने सबके कान पवित्र कर दिए। निराला का ही व्यक्तित्व था, जो कुसुम की साँस और वज्र का गर्जन साथ लेकर चलता था। कवि-सम्मेलन समाप्त हुआ तो उन्होंने मुझसे कहा, "आपको तो बड़ी जल्दी मान्यता मिल गई।" मैंने कहा, "बड़ों की तपस्या का फल छोटों को मिलना ही चाहिए।" कवि-सम्मेलन से लौटते समय मैं अपनी पत्नी से कह रहा था, "पंत और निराला को देखता हूँ तो मुझे लगता है कि ये कवि छोड़कर और कुछ भी नहीं हो सकते थे—ये तो अपनी प्रकृति से ही संकट-संघर्ष-मुसीबतों को न्यौता देने आए हैं। मैं तो जरूरत पड़ने पर कोयला भी ढो सकता हूँ।" मेरी पत्नी ने मज़ाक किया, "और कविता में भी आप कर क्या रहे हैं।"

इसके बाद निराला से मेरी मुलाक़ात शिमला साहित्य सम्मेलन में हुई—शायद १९२९ के प्रारंभ में। इस कवि-सम्मेलन में जो हंगामा मचा था, उसकी चर्चा मैं अपने लेख 'कवि-सम्मेलनों के मीठे-कड़ुए अनुभव' में कर चुका हूँ। निराला पीने लगे थे—नीट पीते थे—रूढ़ि-सुधारवादी त्रिपुण्डियों को दिखाकर पीते थे—उन्हें छेड़ने के लिए पीते थे। एक दिन मुझसे बोले, "बहुत हाला-हाला का हल्ला मचा रक्खा है। लो तुम भी।" मैं बोला, "अभी मेरी वेदनाएँ सहन की सीमा में हैं।"

इस बीच उनकी 'गीतिका' ('३६) निकल चुकी थी। इसमें १०१ गीत थे। मेरी प्रत्याशा को धक्का लगा। मुक्त छंद की इतनी वकालत करने के बाद निराला ने अपने को—अपनी अभिव्यक्ति को छंद-मात्रा में ही नहीं, संगीत

के लय-ताल में भी बाँध लिया था। बंधन के भी अपने गुण हैं। पर कविता की मुक्ति को कैसे भूल गए ? मेरी अपनी व्याख्या है, आगे संकेत करूँगा। मुझे अधिक चोट लगी, पुस्तक के अंत में २३ पेज के 'सरलार्थ' से। छायावादी कविता में जीवन की साँस का स्वर जो मुझे पहली बार केवल 'परिमल' में जहाँ-तहाँ मिला था, जिसके विकास की मुझे निराला से प्रत्याशा थी, उसपर यह सरलार्थ व्यंग्य कर रहा था। विगलित-हृदय कवि की परिणति सूक्ष्म कलाकार में हो गई थी। 'गीतिका की' कला समझने को मुझे दूसरा जन्म लेना होगा। भावनाएँ मैं सब कवियों की इसी जन्म में समझना चाहता हूँ।

मेरी धारणा है कि मुक्त छंद के लिए जिस बंगाल का साहित्यिक वातावरण निराला के अनुकूल पड़ा था, उससे वे कट गए थे। यह नहीं कि उन्होंने बाद को मुक्त छंद में लिखा नहीं पर अक्षर मात्रिक से अधिक वे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक पर आ गए, उर्दू बहरों का सहारा लिया, लेकिन उनकी कोई भी बाद की रचना बंगाल-काल की रचनाओं से होड़ न ले सकी और जीवन के अंतिम वर्षों में भी वे अपनी पुरानी रचनाओं को ही सुनाते रहे। सृजन पर परंपरा और वातावरण के महत्त्व को हमें अधिक गहराई से समझना है।

इसके बाद 'तुलसीदास' (१९३८), और अभिनव 'अनामिका' (१९३९) आई, जिसमें सर्वप्रथम 'राम की शक्ति-पुजा' छपी। निराला जी की स्मृति बड़ी अच्छी थी—दोनों कविताएँ कई बार उनसे पूरी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। संस्कृत शब्दावली का ध्वनि-सौंदर्य निराला के कंठ से खूब निखरता था। हिंदी की मनीषा संस्कृत का कितना ध्वनि-सौंदर्य समो सकेगी, यह प्रश्न अलग है। तुलसीदास जितने शब्दो में लिखा गया था, उसके चौगुने शब्दों में उसका सरलार्थ पुस्तक के साथ ही छापा गया था। 'राम की शक्ति-पूजा' के कुछ अंशों को उद्धृत कर किसी समालोचक ने लिख दिया था कि इसमें छूः लगा दिया जाए तो बिच्छू झाड़ने का मंत्र हो जाए। यह निराला के प्रति अन्याय था। निराला अपने संस्कार और परंपरा से बँधे थे; उन्हें जो कुछ गंभीर कहना था; उसका माध्यम संस्कृतगर्भित भाषा ही हो सकती थी। मेरी यह निश्चित धारणा है कि उद्बोधक-शक्ति कठिन-से-कठिन शब्द में भी भरी जा सकती है और सरल-से-सरल शब्दों को भी उससे रिक्त पाया जा सकता है। ध्वनि-संकेतों से जिस उद्बोधन-शक्ति का प्रकाश इन दोनों रचनाओं में किया गया

है, वह हिंदी-काव्य के लिए अप्रतिम है।

इसके बाद निराला जी को मैंने अबोहर के हिंदी साहित्य सम्मेलन देखा—दिसंबर १९४१ में। उन दिनों मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी लेक्चरर के रूप में काम करने लगा था। उप-कुलपति पं० अमरनाथ भ अबोहर अधिवेशन के सभापति थे। उनके आग्रह से मैं भी चला गया था पहली बार मुझे निराला के मानसिक असंतुलन का आभास मिला। वे सम्मेल में सबसे अंग्रेज़ी में बहस करते फिरते थे—हिंदुस्तानी अंग्रेज़ी में, टूटी-फू अंग्रेज़ी में, निराली अंग्रेज़ी में। एक दिन बोले, "अब मैं अंग्रेज़ी में कवित लिखना चाहता हूँ, जब योरोप में मेरी कविता का मान होगा, तब तुम लो मेरी इज़्ज़त करोगे।" मान और मान्यता की भूख को मैं निराला की महानत के साथ कभी नहीं बिठला सका। पर उसकी अतिशयता और उसका अभा उनकी बहुत बड़ी कुंठा बन गई थी। निराला डाक बँगले के एक कमरे में ठह थे, बग़ल के कमरे में मैं था। निराला ने तीन-चार दिनों के अंदर इतने मु खाए थे कि बिल देखकर सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष स्वामी केशवानंद अपन सिर पीटने लगे।

हिंदी कविता में प्रगतिवाद की चर्चा १९३५-'३६ से आरंभ हुई। पंत जं की 'युगवाणी' १९३९, और 'ग्राम्या' १९४० में प्रकाशित हुई। दोनों रचनाओं में ऊपरी ऐसा बहुत-कुछ था, जिसे देखकर प्रगतिवादियों ने उन्हें अपना नेता सा मान लिया। निराला जगह-जगह कहते सुने जाते, "मैं प्रोग्रेसिव नहीं ऐग्रेसिव हूँ।" पर उनके मन का क्षोभ दिन-दिन बढ़ने लगा। कारण कुछ भं हो, छायावादी काल में जो लोकप्रियता पंत को मिली थी, वह निराला को नहं मिली थी। निराला इसे हिंदी का अज्ञान मानते थे। इसे दूर करने के लि उन्होंने 'पंत और पल्लव', 'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबंध लिखे थे। शाय दूसरे का उत्तर भी पंत जी ने दिया था। जब हिंदी कविता में नया आंदोल चला, तब भी उसका नेतृत्व लोग पंत को ही दे रहे थे। निराला की तत्साम यिक रचनाएँ 'गीतिका', 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति-पूजा', सामयिक से अधिक शाश्वत की कोटि में थीं। पर निराला के व्यक्तित्व का एक पक्ष तो उस सम से प्रगतिवादी था, जब प्रगतिवादियों का जन्म भी नहीं हुआ था। मेरा संके प्रथम 'अनामिका' की 'अधिवास' शीर्षक कविता से है :

"मैंने 'मैं'-शैली अपनाई,
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय पर मेरे—
झट उमड़ वेदना आई;
उसके निकट गया मैं धाय;
लगाया उसे गले से, हाय !—
फँसा माया में हूँ निरुपाय;
कहो फिर कैसे गति रुक जाय ?
उसकी अश्रुभरी आँखों पर मेरे करुणांचल का स्पर्श
करता मेरी प्रगति अनंत किंतु तो भी है नहीं विमर्ष।"

करुणा यदि 'माया' में भी फँसाए तो भी वे उसे छोड़कर 'गतिहीन अधिवास' अथवा 'ब्रह्म' को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। निराला के अंदर का संघर्षशील लेखक, स्वावलंबी साहित्यकार, सर्वहारा क़लम का मज़दूर, स्वाभिमानी प्रखर कवि—फन-फनाकर उठ खड़ा हुआ। पंत ने दस बरस कुँवर सुरेशसिंह के साथ कालाकाँकर के राजभवन में बिताए थे। अब उन्हें प्रगतिशील बनाया जा रहा है। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' के अजस्र, ओजस्वी पाठ-कर्ता ने एक दिन कवि-सम्मेलन में 'कुकुरमुत्ता' सुनाकर सबको स्तब्ध कर दिया। क्या व्यंग्य, क्या कटाक्ष, क्या ज़बान की सफाई, क्या मुहावरेदानी कि जिससे उर्दू भी कुछ सीखे—वास्तव में इसके प्रवाह में उर्दू बहरों का काफ़ी सहारा लिया गया था—और क्या सर्वहारा का सटीक समर्थन। सर्वहारा के प्रतीक निराला थे, कुकुरमुत्ते की आवाज़ में निराला बोले थे; निराला का प्रतीक कुकुरमुत्ता था, निराला ही कुकुरमुत्ता थे—

"अबे सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई ख़ुशबू, रंगोआब,
ख़ून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट—
शाहों, राजों, अमीरों का रहा प्यारा,
इसलिए साधारणों से रहा न्यारा—
देख मुझको, मैं बढ़ा,

डेढ़ बालिश्त और ऊँचा हूँ चढ़ा;
और अपने से उगा मैं,
बिना दाने का चुगा मैं
क़लम मेरा नहीं लगता
मेरा जीवन आप जगता;—
मैं कुकुरमुत्ता······आदि (१९४२)

और गुलाब कौन था? 'कुकुरमुत्ता' का समर्पण 'श्री कुँवर सुरेशसिंह को' संकेत-विहीन नहीं था। जहाँ तक मुझे मालूम है, कुँवर साहब से निराला की घनिष्ठता नहीं थी। निराला ने पंत की 'ज्योत्स्ना' की भूमिका में लिखा था, "प्रांजल श्री श्री सुमित्रानंदन काव्योपवन के सांजलि खिले हुए प्रकाश-दृष्टि सुंदर गुलाब हैं।···मैं गुलाब को देखता हूँ, उसके काँटों को नहीं।" 'साहित्यिक सन्निपात या वर्तमान धर्म' में प्रतीकों के लिए जो सूक्ष्म और पैनी अंतर्दृष्टि निराला ने प्रदर्शित की है, उसे जानने पर किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं रह जाती।

निराला का वार खाली नहीं गया था।

१९४३ के आरंभ में, पंत दिल्ली में डाक्टर जोशी के यहाँ टाइफ़ाइड में पड़े थे, जिसके बीच उनके मरने की भी खबर छप गई थी। पंत ने स्वीकार किया है, "मेरी अस्वस्थता का कारण एक प्रकार से मेरी मनःक्लांति भी थी।" ('उत्तरा' की भूमिका पृ० १८)

पंत के 'मरने' की खबर पाकर रात भर मछली की तरह तड़पना भी निराला के लिए ही संभव था।

'कुकुरमुत्ता' प्रगतिवाद की सबसे बड़ी उपलब्धि और अब तक हिंदी का सबसे प्रखर व्यंग्य काव्य है। महादेवी जी ने कुछ समझा होगा, तभी निराला के आग्रह करने पर भी उसे उनके सर्वश्रेष्ठ कविताओं के संग्रह 'अपरा' में स्थान नहीं दिया।

पंत जी चार वर्ष के लिए उत्तर भारत से हटकर मद्रास, पांडीचेरी, बंबई, विशेषकर दक्षिण भ्रमण में रहे। उत्तर भारत में निराला प्रगतिवादियों के नेता बना लिए गए। 'अणिमा' १९४३ में निकली। 'कुकुरमुत्ता' की तुक-संयमित मुक्त छंद की रचनाओं ने जैसे सामाजिक विपर्यय के प्रति निराला के भीतर

के क्रोध-कटाक्ष-व्यंग्य-हास्य का रेचन कर दिया था। इस संग्रह में 'स्फटिक शिला' को प्रवाद-स्वरूप मानना होगा, जिसमें प्रकृति और ग्राम्य-जीवन की यथार्थता के भीतर से सांस्कृतिक मूल्य को उभारा गया है। 'कुकुरमुत्ता' की प्रखरता को बाद दे दें, तो 'स्फटिक शिला' मुझे इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ रचना लगती है। 'अणिमा' की आधी से अधिक रचनाएँ प्रशस्तिपरक हैं—जिस किसी को भी उन्होंने देखा, उदार दृष्टि से देखा। शेष रचनाओं में जो प्राय: गीत हैं, निराला अपने अंदर पैठे हैं। 'मैं'-शैली की मार्मिकता वास्तव में यहीं देखने को मिलती है। पहले तो 'मैं'-शैली अपनाते ही उन्होंने एक निज भाई को दुखी देखा था और उसी की छाया ने उनके हृदय को छा लिया था। निराला की वास्तविक 'मैं'-शैली उस गहरी चोट से प्रस्फुटित हुई, जिसका संकेत 'सरोजस्मृति' (१९३५) में है। और जो अभिनव 'अनामिका' के '३५-'३८ के मध्य लिखित कतिपय कविताओं में विकसित होती रही। 'अणिमा' के इन गीतों में निराला का स्फटिक-पारदर्शी अंतर दिखाई पड़ता है—जिसपर होकर कोई तूफ़ान निकल चुका है—बहुत कुछ क्षत-विक्षत, नमित-शमित हो चुका है, पर कवि को न क्रोध है, न पश्चात्ताप है; जो है—जैसा है उसे स्वीकार करने को कवि तैयार है। यदि कहीं कुछ व्यथा-वेदना है तो वह पंक्तियों में नहीं, पंक्तियों के बीच के रिक्त को पढ़ सकनेवाले के लिए है :

> "उन चरणों में मुझे दो शरण।
> इस जीवन को करो हे मरण।
> बोलूँ अल्प, न करूँ जल्पना,
> सत्य रहे, मिट जाय कल्पना,
> मोह-निशा की स्नेह गोद पर
> सोये मेरा भरा जागरण।
>
> × ×
>
> फूल जो तुमने खिलाया,
> सदल क्षिति में ला मिलाया,
> मरण से जीवन दिलाया
> सुकर जो वह मुझे वर दो।
>
> × ×

मरण को जिसने वरा है
उसीने जीवन भरा है
परा भी उसकी, उसी के
अंक सत्य यशोधरा है।

× ×

स्नेह-निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—"अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।"

× ×

मैं अकेला;
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सांध्य बेला
पके आधे बाल मेरे
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मंद होती आ रही
हट रहा मेला।

× ×

कोई नहीं पूछता, न पूछे,
भरे रह गए हैं वे, इसलिए
तेरी नज़रों में हैं छूँछे;
ढलकाता चल उनका जल रे,
भर जैसे मिलना है तेरा—
गया अँधेरा !"

'अणिमा' की कुछ कविताओं, कुछ पदों, कुछ पंक्तियों में निराला मर्म की जिस गहराई से बोले हैं, वह मुझे बहुत प्रिय है—यहाँ न कवि का पैग़म्बरी ठाट होता है न उसमें वचन-प्रवीण अथवा वाग्विदग्ध होने की आत्म-चेतना।

उसकी सहज अनुभूति होती है, 'कवि न होउँ'। उसका सहज स्वर होता है, मानवता के प्रतीक बने हृदय का अनिवार्य, अनियंत्रित, अनिरुद्ध उद्‌गार। उससे कोई आतंकित, चमत्कृत नहीं होता। वह भावप्रवण हृदय की सहज प्रतिध्वनि होती है। पाठक या श्रोता कवि को अपने-सा ही सहज मानव पाता है। वह उनका सम्राट, गुरु, आचार्य, औलिया, शिक्षक, उपदेशक नहीं रह जाता; वह उनका सहज मीत—'मित्र' नहीं—होता है। कवि की इस धारणा से कविता-संबंधी बहुत-से परिणाम निकलते हैं, पर यहाँ तो उन्हें कल्पनाशील पाठकों पर छोड़ना होगा।

क्या भावी निराला यहीं से बोलेगा ? निराला के बारे में भविष्यवाणी करने का दुःसाहस कौन करेगा ! बाढ़-बवंडर, उल्का-विद्युत की गतिविधि के बारे में भविष्यवाणी कौन करेगा ! निराला अनेक दर-दरवाज़ों वाले महाप्रासाद के अधिवासी हैं; आप एक से उन्हें पकड़ने का प्रयत्न करते हैं, वे दूसरे से निकल जाते हैं—आपको यही कहना पड़ता है—"तेरे घर के द्वार बहुत हैं।"

'बेला' और 'नए पत्ते' उनके दो काव्य-संग्रह १९४६ में प्रकाशित हुए। 'बेला' के 'आवेदन' से पता चलता है कि यह संग्रह १९४३ में तैयार हो गया था। संभव है, कुछ कविताएँ 'अणिमा'-काल की हों। प्रकाशन में विलंब से, संभव है, कुछ कविताएँ बाद की भी हों। 'अणिमा' के जिस मर्मस्पर्शी स्वर की ओर मैंने संकेत किया है, उसकी क्षीण प्रतिध्वनियाँ 'बेला' में भी हैं :

"रूप की धारा के उस पार
कभी धँसने भी दोगे मुझे ?—
मधुर, उर से उर, जैसे गंध
कभी बसने भी दोगे मुझे ?

× ×

आँखें वे देखी हैं जब से,
और नहीं कुछ देखा तब से।

× ×

कैसे गाते हो ? मेरे प्राणों में
आते हो, जाते हो।"

लेकिन पूरी पुस्तक पढ़ने पर जो प्रभाव मन पर रह जाता है, वह कुछ अनगढ़-असफल ग़ज़लों का है, जो कुछ समय से पत्र-पत्रिकाओं में छप रही थीं। उर्दू

बहरों से परिचय का सबूत तो 'कुकुरमुत्ता' की कुछ कविताओं ने ही दे दिया था। ग़ज़ल छंद को हिंदी में लाने के कुछ भोंडे-भद्दे प्रयोग पहले भी हो चुके थे; निराला की प्रतिभा भी उसमें कोई विशेष निखार-सँवार नहीं ला सकी। हिंदी के घर में ग़ज़ल के निभने की कठिनाइयों पर मैं अपनी एकाधिक भूमिकाओं में प्रकाश डाल चुका हूँ। भाषा-साम्य के कारण ग़ज़लों में हिंदी की उपलब्धि का मानदंड उर्दू की उच्चतम उपलब्धियों से आएगा। अपनी सत्ता और मौलिकता बनाए हुए उर्दू ग़ज़लों की सफ़ाई, सांकेतिकता और अर्थ-गंभीरता लाना हिंदी के लिए संभव भी नहीं और मेरी सम्मति में, स्पृहणीय भी नहीं—हिंदी का जन्म उर्दू की उपलब्धियों को दुहराने के लिए नहीं हुआ।

ग़ज़लों की ओर निराला का झुकाव देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। निराला यह घोषणा करते हुए आए थे कि 'कविता की मुक्ति (है) छंदों के शासन से अलग हो जाना।' 'गीतिका' के साथ उन्होंने छंद और तुक के साथ लय-ताल का भी बंधन स्वीकार कर लिया था। अब उन्होंने काफ़िया-रदीफ़ का नियंत्रण मान लिया। अगर कोई चीज़ निराला की उन्मुक्त प्रतिभा के विपरीत थी तो यह काफ़िया-रदीफ़ का बंधन था। इसने उर्दू कविता को भावना, आंतरिक प्रेरणा से हटाकर रूप और बाहरी शब्द-साम्य पर निर्भर कर दिया था। शब्दों के इस अत्याचार ने ग़ालिब ऐसे महाकवि से एक नैसर्गिक शेर यदि यह लिखाया :

"नग़्म हाए ग़म को भी ऐ दिल, ग़नीमत जानिए,
बेसदा हो जाएगा यह साज़े हस्ती एक दिन।"

तो उसी के बाद एक कूड़ा शेर भी लिखा दिया था :

"धौलधप्पा उस सरापा नाज़ का शेवा नहीं,
हम ही कर बैठे थे ग़ालिब पेश-दस्ती एक दिन !"

क्योंकि 'हस्ती', 'मस्ती' के बाद 'दस्ती' को भी जगह देनी थी। निराला की एक ग़ज़ल शुरू होती है :

"आँख के आँसू न शोले बन गए तो क्या हुआ।"

और समाप्त होती है इसपर :

"धार से निखरे हुए ऋतु के सुहाए बाग़ में,
आम झरने के न झोले बन गए तो क्या हुआ !"

एक और ग़ज़ल शुरू होती है :

"भेद कुल खुल जाय वह
सूरत हमारे दिल में है।"

और बीच में एक शेर आता है :

"पेड़ टूटेंगे, हिलेंगे, जोर की आँधी चली,
हाथ मत डालो, हटाओ पैर, बिच्छू बिल में है।"

'शोले' के भाई 'झोले' और 'दिल' की बहन 'बिल' ने कविता पर जो ज़ुल्म किया है, वह न कहने ही क़ाबिल है। इस ज़ुल्म की हद तो तब होती है जब निराला इन हथकड़ियों-बेड़ियों में बँधे-छँदे हुए छंदों को भी आज़ाद करने की उद्घोषणा करते हैं :

"संकोच को विस्तार दिए जा रहा हूँ मैं
छंदों को विनिस्तार दिए जा रहा हूँ मैं।
प्रस्तार को प्रस्तार दिए जा रहा हूँ मैं
जैसे विजय को हार दिए जा रहा हूं मैं।"

'हार' का अर्थ 'पराजय' करके ही मुझे कुछ संतोष होता है। इसी रदीफ़ पर जिगर की प्रसिद्ध ग़ज़ल न याद आए तभी ग़नीमत है। इतना ही नहीं, निराला ग़ज़ल को उस समय अपना रहे थे, जब उर्दू प्रगतिवादियों के 'क़ायदे-आज़म' जनाब सज्जाद ज़हीर ग़ज़ल के खिलाफ़ जिहाद छेड़ रहे थे।

इसी समय तुलसी के 'रामचरित मानस' को खड़ीबोली में रखने के निराला के प्रयास भी पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा सामने आए। चॉसर को नई अंग्रेज़ी में रखने का प्रयत्न ड्राइडेन ने भी किया था। उनकी किसी उपलब्धि की उपेक्षा शायद इससे अधिक नहीं की गई। तुलसी के आधुनिकीकरण पर मैंने तो अपना सिर ही धुन लिया। सूखे तुलसी को खड़ीबोली से हरियाने-लहलहाने का विश्वास जिन्होंने व्यक्त किया है, उनसे अपनी रुचि अलग रखने के लिए क्षमा-याचना करना चाहूँगा।

'नए पत्ते' की विविधता के संबंध में स्वयं लेखक सचेत था। प्रस्तावना में निराला ने लिखा था, "इसमें सभी तरह के आधुनिक पद्य हैं।" २८ कविताओं में ७ कविताएँ 'कुकुरमुत्ता' की भी सम्मिलित कर दी गई थीं—एकाधिक यत्र-तत्र परिवर्तनों के साथ शायद। 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक कविता ने पाठकों को इतना

आकर्षित कर लिया था कि इन कविताओं की ओर लोगों का ध्यान ही न गया था—ताड़ के आस-पास के लता-कुंज पर किसकी दृष्टि जाती है, पर 'स्फटिक शिला' के छोटे-सादे किन्तु दिव्य मंदिर को अनदेखा करना शायद ही किसी के लिए संभव हुआ हो। फिर भी 'नए पत्ते' में उन्हें रखकर कदाचित कवि उन्हें अधिक अनुकूल परिवेश देना चाहता था। एक शोक गीत था, स्वर्गीय रणजीत पंडित के प्रति, एक प्रशस्ति थी रामकृष्ण परमहंस के प्रति। दो कविताएँ स्वामी विवेकानंद की अंग्रेज़ी कविताओं के अनुवाद के रूप में थीं। एक और कविता में स्वामी जी के साथ कैलाश यात्रा का काल्पनिक वर्णन था। शेष कविताओं में, अधिकांश में, व्यापक अर्थ में, निराला का दृष्टिकोण प्रगतिवादी था—ज़मींदार, साहूकार, उच्चवर्ग, अधिकारीवर्ग, स्वार्थसाधक, राजनीतिक दल के बीच निराला की हार्दिक सहानुभूति त्रासित-शोषित किसान के साथ स्पष्ट थी। ग्राम और ग्रामीण जनता को पंत ने 'केवल बौद्धिक सहानुभूति' दी थी। 'देवी सरस्वती' में, जो इस संग्रह में सर्वप्रथम आई कविताओं में, मेरी सम्मति में, सर्वश्रेष्ठ थी, षट् ऋतु वर्णन के व्याज से कवि ने ग्राम्य प्रकृति और ग्राम्य जीवन के क्रिया-कलाप और आमोद-प्रमोद का बड़ा सजीव चित्र खींचा था। किसान के लिए सबसे अधिक कष्टकर शीत ऋतु में उसका चित्र जितना करुण है, उसके भविष्य का आश्वासन उतना ही सबल :

"प्रखर शीत के शर से जग को वेधा तुमने
हरीतिमा के पत्र-पत्र को छेदा तुमने।
शीर्ण हुई सरिताएँ साधारण जन ठिठुरे;
रहे घरों में जैसे हों बाग़ों में गिठुरे।
छिना हुआ धन, जिससे आधे नहीं वसन तन,
आग तापकर पार कर रहे हैं गृह-जीवन।
उनको दिखा रही हो, तारे टूट रहे हैं
पत्तों के, डालों के सहारे टूट रहे हैं।
जीवन फिर दूसरा उन्हें पल्लवित करेगा,
किसी अस्त्र से अन्न-वस्त्र के दुःख हरेगा।"

चूंकि 'नए पत्ते' में एक बार फिर निराला जी ने मुक्त छंद का उपयोग किया है और शायद अंतिम बार, इसलिए अभिनव 'अनामिका', 'कुकुरमुत्ता'

'अणिमा' पर एक बार फिर दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा। 'परिमल' की मुक्त छंद की कविताओं का माधुर्य-ओज तो ग़ायब ही हो गया है। उसकी अंतिम प्रतिध्वनि शायद 'सम्राट एडवर्ड अष्टम के प्रति' रचना में सुनाई पड़ी। 'तोड़ती पत्थर' से संस्कृत पदावली के ध्वनि-सौन्दर्य को छोड़ बोल-चाल की मुहावरेदार, सरल भाषा में मुक्त छंद लिखने का जो प्रयोग आरंभ हुआ, वह 'कुकुरमुत्ता' की व्यंग्यात्मक कविताओं में, प्रायः उर्दू बहरों का आश्रय लेकर, निखरा। 'अणिमा' के मुक्त छंद में अक्षर-मात्रिक और ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक दोनों का प्रयोग किया गया है। 'नए पत्ते' में इनके अतिरिक्त ऐसे भी प्रयोग हैं, जहाँ पंत जी के शब्दों में 'कोई भी नियम नहीं', अर्थात् स्वाभाविक गद्य की लय है जिसे नए कवियों ने अर्थ की लय कहा है। यदा-कदा ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं का विशेष संघट (पैटर्न) भी है, जिसकी थोड़े-बहुत विपर्यय के साथ, आवृत्ति होती जाती है, जैसे 'तोड़ती पत्थर' में। निराला जी न जाने किस आधार पर उसमें अंग्रेज़ी संगीत बताया करते थे। कम से कम अंग्रेज़ी संगीत में मेरी कोई गति नहीं। निराला का मुक्त छंद एक स्वतंत्र लेख की माँग करता है। उनके प्रयोग-क्रम में शायद विकास-ह्रास दोनों ही देखा जा सकता है। सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों के लिए मेरी दृष्टि 'परिमल' की ही ओर जाती है, निराला की भी जाती थी। पर यह भी सच है कि जीवन की यथार्थता, कटुता, नग्नता को उत्तरोत्तर जिस निकटता से वे देख रहे थे, उसके लिए 'परिमल' की शैली उपयुक्त न होती। विचार-भाव की प्रगतिशीलता के साथ भाषा-शैली की प्रगतिशीलता अपरिहार्य रूप से जुड़ी है, इसे निराला खूब समझते थे। वे उसमें कवित्व की कितनी स्फूर्ति भर सके हैं, यह विषय विवादास्पद है। जीवन के लिए कवित्व को बलि-दान कर देना बहुत बड़े जीवट के कवि का काम है।

निराला के प्रयोगों का यह परिणाम है कि मुक्त छंद आज एक प्रकार की कविता का स्वीकृत माध्यम है। एकमात्र माध्यम की सैद्धांतिक घोषणा करके भी उन्होंने कितना छंद-तुक-लय-ताल-काफ़िया-रदीफ़बद्ध लिखा ! प्रकार की संभावनाएँ भी उनके प्रयोगों में शायद समाप्त हो गई हैं। कौन हिंदी की मनीषा के अधिक अनुकूल और उसको अधिक ग्राह्य होगा, इसका निर्णय प्रमाण से अधिक प्रत्यक्ष पर निर्भर होगा। प्रयोग के लिए प्रयोग की महत्ता स्वीकार न करते हुए भी, मेरे मन में उस कवित्व के खरेपन और आत्म-

विश्वास की बड़ी इज़्ज़त है, जो नई-नई आग में धँसने का खतरा उठाता, फिर-फिर परीक्षा देता, नए-नए रूप लेता, और तत्त्वतः एक ही बने रहने की घोषणा करता है। निराला की कवित्व-शक्ति किसी रूप में प्रकट हो, निरालापन लिए रहती है।

१९४७ के वसंत पर काशी में निराला की स्वर्ण-जयंती मनाई गई—अभिनंदन ग्रंथ और बारह हज़ार की थैली समर्पित करने की भी योजना थी, पर संगठन ठीक न होने से अभिनंदन का यह रूप विद्रूप मात्र बनकर रह गया। इसमें सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। निराला जी विवेकानंदी वेष-भूषा में, ठाठ-ठस्से से आए थे, प्रसन्न और सन्तुष्ट थे; मान और मान्यता उन्हें बच्चों की तरह खुश कर देती थी। बाद को एक चित्र भी देखने में आया, जिसके नीचे उनके नाम के पूर्व, कुछ-कुछ याद है, श्री १०८ महर्षि आदि छपा था। रामकृष्ण विवेकानंद के प्रति उनकी आस्था, 'समन्वय' आध्यात्मिक पत्रिका से उनके संबंध से यह कुछ अप्रत्याशित न था। कुछ दिन पूर्व उनके घर छोड़ संन्यास लेने की बात भी पत्रों में छप चुकी थी। दूसरे दिन जो कवि-सम्मेलन हुआ था, उसकी चर्चा मैं अन्यत्र कर चुका हूँ। रात भर दिनकर और मैंने कविता सुनाकर सबेरा कर दिया था। निराला जी से कविता सुनाने को कहा गया तो वे बोले, "मेरा ही स्वर बोल रहा है।" मैं कैसे कहूँ, उन्होंने ठीक ही कहा था; उन्होंने उदारता दिखलाई थी। आरंभ में वे अपनी कुछ प्रसिद्ध पुरानी कविताएँ सुना चुके थे।

इसके पश्चात् ही निराला जी की विक्षिप्तता के समाचार इधर-उधर सुनाई पड़ने लगे। १९४७ के मध्य में पंत जी दक्षिण-प्रवास से आकर एडेल्फ़ी क्लब प्रयाग में मेरे पास ठहरे। कुछ महीनों के पश्चात्, सामने के कमरे में श्री गंगा प्रसाद पांडे आकर रहने लगे और उनके अतिथि के रूप में निराला जी कभी-कभी एडेल्फ़ी में आकर रहते। अप्रैल-मई १९४८ की बात है। प्रयाग में जोर की गर्मी आरंभ हो गई थी। पंत जी पहाड़ जाने की तैयारी में थे; श्री अमृतलाल नागर उनसे मिलने को आए हुए थे। हम तीनों लगभग चार बजे के अपने कमरे में चाय पी रहे थे। बरामदे में किसी के पाँवों की आहट सुन पड़ी। मैं पर्दा उठाकर बाहर निकला। देखता हूँ एक पहलवान बाहर खड़ा है—अरे ये तो निराला जी हैं!—पाँवों में पंजाबी जूता, ऊपर मटमैली

विश्वास की बड़ी इज़्ज़त है, जो नई-नई आग में धँसने का खतरा उठाता, फिर-फिर परीक्षा देता, नए-नए रूप लेता, और तत्त्वत: एक ही बने रहने की घोषणा करता है। निराला की कवित्व-शक्ति किसी रूप में प्रकट हो, निरालापन लिए रहती है।

१६४७ के वसंत पर काशी में निराला की स्वर्ण-जयंती मनाई गई—अभिनंदन ग्रंथ और बारह हज़ार की थैली समर्पित करने की भी योजना थी, पर संगठन ठीक न होने से अभिनंदन का यह रूप विद्रूप मात्र बनकर रह गया। इसमें सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। निराला जी विवेकानंदी वेष-भूषा में, ठाठ-ठस्से से आए थे, प्रसन्न और सन्तुष्ट थे; मान और मान्यता उन्हें बच्चों की तरह खुश कर देती थी। बाद को एक चित्र भी देखने में आया, जिसके नीचे उनके नाम के पूर्व, कुछ-कुछ याद है, श्री १०८ महर्षि आदि छपा था। रामकृष्ण विवेकानंद के प्रति उनकी आस्था, 'समन्वय' आध्यात्मिक पत्रिका से उनके संबंध से यह कुछ अप्रत्याशित न था। कुछ दिन पूर्व उनके घर छोड़ संन्यास लेने की बात भी पत्रों में छप चुकी थी। दूसरे दिन जो कवि-सम्मेलन हुआ था, उसकी चर्चा मैं अन्यत्र कर चुका हूँ। रात भर दिनकर और मैंने कविता सुनाकर सबेरा कर दिया था। निराला जी से कविता सुनाने को कहा गया तो वे बोले, "मेरा ही स्वर बोल रहा है।" मैं कैसे कहूँ, उन्होंने ठीक ही कहा था; उन्होंने उदारता दिखलाई थी। आरंभ में वे अपनी कुछ प्रसिद्ध पुरानी कविताएँ सुना चुके थे।

इसके पश्चात् ही निराला जी की विक्षिप्तता के समाचार इधर-उधर सुनाई पड़ने लगे। १६४७ के मध्य में पंत जी दक्षिण-प्रवास से आकर एडेल्फ़ी क्लब प्रयाग में मेरे पास ठहरे। कुछ महीनों के पश्चात्, सामने के कमरे में श्री गंगा प्रसाद पांडे आकर रहने लगे और उनके अतिथि के रूप में निराला जी कभी-कभी एडेल्फ़ी में आकर रहते। अप्रैल-मई १६४८ की बात है। प्रयाग में ज़ोर की गर्मी आरंभ हो गई थी। पंत जी पहाड़ जाने की तैयारी में थे; श्री अमृतलाल नागर उनसे मिलने को आए हुए थे। हम तीनों लगभग चार बजे के अपने कमरे में चाय पी रहे थे। बरामदे में किसी के पाँवों की आहट सुन पड़ी। मैं पर्दा उठाकर बाहर निकला। देखता हूँ एक पहलवान बाहर खड़ा है—अरे ये तो निराला जी हैं!—पाँवों में पंजाबी जूता, ऊपर मटमैली

तहमत, शरीर पर लंबा कुर्ता, मुँडे सिर पर छोटी-सी साफी बँधी हुई, गर्दन-गाल पर मिट्टी भी लगी, बड़ी-बड़ी आँखों में लाल डोरे उभरे।

"पंत है ?"

"हैं।"

"मिलूंगा।"

"आइए।"

कमरे में घुसते ही उन्होंने आवेश-भरे स्वर में कहना शुरू किया, "पंत, तुमने कविता तो बहुत लिखी, आज हमारी-तुम्हारी कुश्ती भी हो जाए, मैं निराला नहीं हूँ, मैं हूँ तुत्तन खाँ का बेटा मुत्तन खाँ, मैंने गामा, जुविस्को, टैगोर—सबको चित किया हुआ है—आओ, आओ !"—आदि।

यह सब कहते-कहते उन्होंने अपने सारे कपड़े उतार दिए, सिर से साफ़ी उतारकर लँगोट की तरह बाँधी और डंड-पर-डंड लगाने लगे, फिर ताल ठोंकी।

अमृतलाल जी सतर्क हो गए; मूर्ति हिल सकती थी पंत जी नहीं हिल सकते थे। उन्हें चुप देखकर उन्होंने मेरी तरफ़ देखा, "तुम आओ !" मैंने कहा, "मैं तो आपका चरण छूने योग्य भी नहीं हूँ, आपसे कुश्ती क्या लड़ूँगा !" निराला शांत हो गए। मैंने कहा, "निराला जी, चाय पीजिए।" बोले, "निमंत्रित नहीं हूँ—पानी पी सकता हूँ—लोटे में लाना।" निराला को कौन सरेख कहे, कौन पागल कहे ? कौन बाहोश कहे ? कौन बेहोश ? उन्होंने गट-गट पानी पिया और झपटकर कमरे से बाहर हो गए। पाँच मिनट हम तीनों सिर नीचा किए बैठे रहे। फिर मैं ही बोला, "अमृतलाल जी, निराला ने अपना अमृत निचोड़ दिया; अब उनके जीवन का विष ही उन्हें खा रहा है।"

इसके बाद मैंने निराला जी के दर्शन १९५० में उनके जन्मदिन पर साहित्यकार संसद, रसूलाबाद, प्रयाग में किए; जहाँ वे कुछ दिनों से स्थायी रूप से रहने लगे थे। छोटा-सा आयोजन किया गया था। नीम के पेड़ के नीचे निराला गेरुए वस्त्रों में बैठे थे। वे शांत थे, कि दिखे, कौन कहे। गंगा के किनारे, इस एकांत, स्वच्छ-खुले स्थान में उनके रहने की व्यवस्था थी। पर एक दिन वे इसे छोड़ दारागंज की गंदी, पतली गली में जा बसे, क्यों ? राम जाने !

१९५० में निराला जी की 'अर्चना' प्रकाशित हुई। 'भणिति' और 'वस्तु' की दृष्टि से प्रभाव की एकता निराला जी की संभवतः एकमात्र पुस्तक 'तुलसीदास' में है। 'भणिति' के अंतर्गत शब्द-संगीत की एकता 'गीतिका' में भी मानी जाएगी। 'भणिति' और 'वस्तु' दोनों की दृष्टि से 'अर्चना' में भी विविधता है। कहीं पर एकदम संस्कृतनिष्ठ शैली है, कहीं बिल्कुल बोलचाल की भाषा। 'अर्चना' के सब गीत १९५० में लिखे गए हैं। गीतों के नीचे रचना-तिथि भी दी है। आश्चर्य तब होता है, जब निराला जी एक ही दिन दोनों शैलियों में लिखते हैं। इससे सरल लिखना कठिन है :

"सहज-सहज कर दो :
सकलश रस भर दो।
ठग ठग कर मन को
लूट गए धन को,
ऐसा असमंजस, धिक्
जीवन-यौवन को :"

और उसी दिन की रचना है : पूरी दे रहा हूँ :

"वासना-समासीना
महती जगती दीना।
जलद-पयोधर-भारा,
रवि-शशि-तारक-हारा,
व्योम मुखच्छवि सारा
शतधारा पथ-हीना।
ऋषिकुल-कल-कण्ठस्तुति,
दिव्य-शस्त्र सकलाहुति,
निगमागम-शास्त्रश्रुति
रासभ-वासव-वीणा।"

कहीं देश-दशा का वर्णन है, सरलता में मर्मवेधी :

"आशा-आशा मरे
लोग देश के हरे।
देख पड़ा है जहाँ,

सभी झूठ है वहाँ,
भूख-प्यास सत्य,
होठ सूख रहे हैं अरे !"

कहीं वसंत का वर्णन है, सरसता से रंजित,

"फूटे हैं आमों में बौर
भौंर बन-बन टूटे हैं।
होली मची ठौर-ठौर,
सभी बंधन छूटे हैं।
फागुन के रंग-राग,
बाग-बन फाग मचा है,
भर गए मोती के झाग,
जनों के मन लूटे हैं।"

कहीं आत्म-वेदना की अभिव्यक्ति, जितनी ही सच्ची उतनी ही करुण,

"हार गया जीवन-रण,
छोड़ गए साथी जन,
एकाकी, नैश क्षण,
कंटक पथ, विगत पाथ।"

लेकिन कुल मिलाकर 'अर्चना' का व्यापक स्वर मध्यकालीन संत-बानी का है, स्वस्थ भगवत-समर्पण,

"पंक्ति-पंक्ति में मान तुम्हारा,
भुक्ति-मुक्ति में गान तुम्हारा,"

से लेकर अस्वस्थ जीवन विरक्ति तक,

"कौन गुमान करो ज़िन्दगी का ?
जो कुछ है कुल मान उन्हीं का।
बाँधे हुए घरबार तुम्हारे,
माथे है नील का टीका,
दाग़-दाग़ कुल अंग स्याह हैं,
रंग रहा है फीका—
तुम्हारा कोई न जी का।"

बीच में छोटे-बड़े संत कवियों के भजनोपदेशों की कितनी ही प्रतिध्वनियाँ हैं— पार पारावार कर तू, पतित हुआ हूँ भव से तार; अशरण हूँ, गहो हाथ; मोह-जाल घेर रहे हैं कराल; जगज्जाल छाया, माया ही माया; भव सागर से पार करो, माया का संहार करो; दो सदा सत्संग; हरि का मन से गुनगान करो, निशिवासर ईश्वर ध्यान करो; भजन कर हरि के चरण, मन ! पार कर माया-वरण मन आदि-आदि। जैसा कि निराला जी ने स्वयं लिखा था, "पुस्तक का अंतरंग विषय यौवन से अतिक्रांत कवि के परलोक से संबद्ध है।" जहाँ कवि की प्रतिक्रियाएँ अपने प्रति, किसी अन्य व्यक्ति—वास्तविक अथवा काल्पनिक—के प्रति, समाज युग अथवा इतिहास के प्रति, प्रकृति के प्रति और परा प्रकृति (सुपरनेचुरल) के प्रति मान्य हैं, वहां 'परलोक' अथवा 'परब्रह्म' के प्रति, विशेषकर इस धर्मप्राण देश-भाषा-संस्कृति में, उसकी प्रतिक्रिया को अमान्य कौन ठहराएगा ?—"रूप के गुण गगन चढ़कर, मिलूं तुमसे, ब्रह्म।" पर इन गीतों के संबंध में निराला जी के मन में कोई ग़लतफ़हमी नहीं थी। 'स्वयोक्ति' में उन्होंने लिखा था, "रस सिद्धि की परताल कीजिएगा तो कहना होगा कि हिंदी के भाषा-साहित्य में ज्ञानी और भक्त कवियों की पंक्ति की पंक्ति बैठी हुई है, जिनकी रचनाएँ साधारण जनों के जिह्वाग्र से अमृत की धारा बहा चुकी हैं; ऐसी अवस्था में लोकप्रियता की सफलता दुराशा मात्र है। अतः यहाँ प्राचीन परंपरा से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि,

> "भाव कुभाव अलख (अनख ?) आलसहू,
> राम जपत मंगल दिशि दसहू।"

फिर भी, कवि की विनम्रता हमें उसकी विशिष्टता के प्रति उदासीन नहीं बना सकती। निराला, नए माध्यम से—मेरा मतलब खड़ीबोली से है—चिरंतन की बात कहकर भी कुछ नवीन दिए बग़ैर नहीं रह सकते। निराला की अभिव्यंजना की साधना इतनी ज़बर्दस्त है कि एक अत्यंत चर्वण-चर्वित और निहायत घिसे-पिटे विषय को लेकर भी वे उसे कुछ निरालापन दे गए हैं। उनका छुआ कुछ भी उनकी छाप लिए बग़ैर नहीं जाता।

१९५२ के आरंभ में मैं इंग्लैंड चला गया। निराला जी के अंतिम दो काव्य-संग्रह—'आराधना' और 'गीत गुंज' मेरे विदेश-प्रवास-काल में प्रकाशित हुए। लौटकर साहित्यिक मित्रों की चर्चा से पता लगा कि इन दोनों संग्रहों में

'अर्चना' की ध्वनियाँ ही क्षीण-क्षीणतर हुई हैं। फिर भी, संग्रहों के देखने पर कुछ पंक्तियाँ मन में गड़ गईं :

"दुखता रहता है अब जीवन,
पतझड़ का जैसा वन-उपवन।
झर-झरकर कितने पत्र नवल
कर गए रिक्त तनु का तरु दल,
है चिन्ह शेष केवल संबल,
जिनसे लहराया था कानन !"

× × (आराधना)

"सुख का दिन डूबे डूब जाय।
तुमसे न सहज मन ऊब जाय।

× ×

भग्न, तन, रुग्ण मन,
जीवन विषण्ण बन।
क्षीण क्षण-क्षण देह,
जीर्ण सज्जित गेह,
घिर गए हैं मेह,
प्रलय के प्रवर्षण।
चलता नहीं हाथ,
कोई नहीं साथ,
उन्नत, विनत माथ,
दो शरण, दोषरण !"

सहसा महाभारत के उद्योग पर्व का 'भज्येतापि न संनमेत' याद हो आया और साथ ही तुलसी का चातक जो 'मान राखिबो, मांगिबो', एक साथ करता है—वह मानी मंगन जो 'सीस नाइ नहि लेह'। निराला शरण मांगते हैं, पर 'उन्नत…माथ' !

१९५४ में इंग्लैंड से लौटने पर मैं निराला जी के दर्शनों के लिए गया। श्री हरिमोहन टंडन और गोपेश जी मेरे साथ थे। निराला जी कमरे में एक तरफ बिना बिछावन के तख्त पर एक मोटी मसनद के सहारे लेटे थे—सिर पर

अधपके लंबे बाल, अधपकी लंबी-भरी दाढ़ी, शरीर पहले से मोटा—लगा कोई वृद्ध सिंह सो रहा है। आहट पाकर उठे, तख्त चरमराया, पालथी मारकर बैठ गए हम लोग नीचे फ़र्श पर बैठे। कुशल-प्रश्न के पश्चात् उन्होंने कहा,

"सुना है, विलायत से डाक्टरेट लेकर आए हो। किस यूनिवर्सिटी से डाक्टरेट ली ?"

मैं बोला, 'केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से।"

निराला जी सहसा गंभीर हो गए, बोले, "तुम झूठ बोलते हो। तुमने कैलकटा यूनिवर्सिटी से डाक्टरेट ली है। कौन था कैलकटा यूनिवर्सिटी का फ़ांउडर (संस्थापक) ? मैंने कैलकटा यूनिवर्सिटी फ़ाउंड की थी। मैंने सर आशुतोष को डाक्टरेट दी और--टैगोर को डाक्टरेट दी।"

न जाने कितने नाम उन्होंने गिनाए। मैं चुप सुनता रहा। मैंने विदा लेने की इच्छा प्रकट की तो किसी को घर से बुलाकर कहा, "डाक्टर बच्चन को चाय पिलवाओ !"—मेरे नाम के साथ 'डाक्टर' लगा बड़े गर्व और प्रसन्नता का अनुभव करते हुए।

चलने लगा तो उन्होंने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा,

"मेरी दाढ़ी टैगोर जैसी नहीं लगती ?"

जिस समय हम लोग चाय पी रहे थे, उस समय भी वे बहुत-सी असंगत बातें अपने आप से हो जैसे करते रहे। उसी दिन मुझे लगा था कि निराला बौद्ध शब्दावली में 'अनृण्ये' हो चुके हैं—अपना परिपूर्ण आत्मदान कर चुके हैं—अमृत भी, विष भी—अमृत, रस-मधु, कटु, फीका जो भी वह बन सकता था, बना करके। उनके इस दान का विश्लेषण आनेवाली न जाने कितनी पीढ़ियाँ करेंगी। और यह अमृत-विष उनके जीवन में आरंभ से था। यही उनके वज्र-कुसुम विरोधी स्वभाव में था जो उनके साहित्य और जीवन में अनेक रूपों में प्रकट हुआ है।

'प्रसाद' जी ने आज से पचीस वर्ष पूर्व 'गीतिका' पर अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए जब यह कहा था :

"'अमिय-गरल शशि सीकर-रविकर राग-विराग भरा प्याला। पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है 'यह मतवाला'' मतवाला के मुखपृष्ठ पर छपा हुआ हिन्दी में उनका जो सबसे पहला छंद मैंने देखा है, वह आज कई बरसों के बाद भी कवि के

जीवन में, रचना में, खुली आँखों और निर्विकार हृदय से देखनेवाले को, स्पष्ट और विकसित देख पड़ेगा।" तब निराला जी के संबंध में उन्होंने अंतिम बात कह दी थी—या वह सूत्र कह दिया था, जिसकी व्याख्या में ग्रंथ के ग्रथ लिखे जा सकेंगे। जब-जब मैंने 'प्रसाद' के इस वाक्य को पढ़ा है, मैं उनकी काल-भेदी अंतर्दृष्टि पर चकित रह गया हूँ। क्या 'प्रसाद' ने उस समय निराला को बंद आँखों और विकृत हृदय से देखनेवालों को भी भविष्य चीरकर देख लिया था? अवश्य देख लिया था। मैं उनके नाम गिना सकता हूँ। इन दोनों प्रकार के लोगों ने उनपर जितना चंदन लपेटा है, जितना कीचड़ उछाला है, उसे धो-पोंछकर निराला के सच्चे रूप को सामने लाना भविष्य की संतुलित समालोचना का काम होगा।

उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सूत्र एक-दूसरे से इतने उलझ-पुलझ गए थे कि उन्हें अलग करके देखना कठिन था। शायद साहित्य का मूल्यांकन कृतित्व पर ही आधारित होगा। यथाशक्य दोनों को—जितना मैंने उन्हें जाना-समझा है—अलग करके देखता हूँ तो मुझे निराला का मानव उनके साहित्यकार से भी बड़ा मालूम होता है। कहने का मतलब है, निराला तब भी महान होते, जब वे एक पंक्ति भी न लिखते। तब शायद उनकी चर्चा पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों में न होती पर महानता इनकी मुहताज कब रही है? ऐसे ही लोगों के लिए शेक्सपियर का यह कथन सत्य है कि दुनिया अपनी महान आत्माओं के विषय में नितांत अनभिज्ञ रहती है। व्यक्तित्व कृतित्व में प्रतिबिम्बित हो, यह एक बात है, और व्यक्तित्व से कृतित्व का मूल्यांकन हो, यह दूसरी बात है। कीट्स का करुण जीवन दशकों तक उनके मूल्यांकन को संतुलित होने से वंचित करता रहा। दुनिया की सर्वश्रेष्ठ समालोचनाएँ उन कवियों के संबंध में हैं, जिनके जीवन के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। निराला के समालोचकों को इन दो बाहरी और भीतरी खतरों से बचना होगा।

निश्चय ही वह पीढ़ी बड़ी सौभाग्यशाली थी, जिसे प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी अग्रज के रूप में मिले। कविता और हिंदी कविता में विशेष रुचि होने के कारण अपने जीवन और यत्किंचित सृजन के लिए जाने-अनजाने कितनी प्रेरणाएँ मैं इनसे लेता रहा हूँ, इसे बता सकना मेरे लिए कठिन है। भावों की गहराई के लिए महादेवी के पास, काव्यात्मक, पर सुस्पष्ट-संतुलित

चिंतन के लिए पंत के पास, जीवन की हर परिस्थिति में अप्रतिहत शब्द-साधना के लिए निराला के पास, आर्यों की अमलिन परंपरा की यज्ञ-ज्वाला के लिए 'प्रसाद' के पास (जैसे मध्यकालीन संस्कृति में उदात्त के लिए गुप्त के पास और अनुदार-संकीर्ण के प्रति जीवन-तृष्णा के विद्रोह के लिए 'नवीन' के पास) मैं कितनी बार गया हूँगा, मुझे याद नहीं। किसी अंश में समकालीन होने के कारण कभी-कभी मैंने ऐसा भी सोचा है, काश महादेवी की चूनर अधिक चौड़ी होती! काश पंत का हृदय अधिक धड़कता-पिघलता! काश निराला का मस्तिष्क अधिक सजग, सचेत, सतर्क रहता! फिर भी, 'को बड़-छोट कहत अपराधू'। आज मुझे यह सोचकर कुछ संतोष हो रहा है कि इस वर्ष जब पिछले तीन वर्षों की मेरी कविताओं का नया संग्रह 'त्रिभंगिमा' प्रकाशित हुआ तो मै उसे अपने इन तीनों अग्रजों को एक साथ समर्पित कर सका—"कवि शार्दूल निराला, काव्यश्री महादेवी और संतों में सुमधुर कवि सुमित्रानदन पंत को।" प्रसंगवश ये तीनों ही कवि बाहर से आकर प्रयाग में व्यवस्थित हुए, जब मैं वहीं की मिट्टी होकर दिल्ली की खाक छान रहा हूँ।

सात वर्ष से निराला जी से नहीं मिला था। सोचा था कि 'त्रिभंगिमा' प्रकाशित होगी तो प्रयाग-पुरी जाऊँगा, त्रिवेणी में स्नान करूँगा, त्रिमूर्ति के—आधुनिक हिंदी काव्य के जगन्नाथ के—दर्शन करूँगा। पर दिल्ली की 'तीन मूरतों' के चक्कर से निकलना संभव न हो सका—मेरा निवास स्थान 'तीन मूरती' के निकट है और हर बार घर आते समय उसकी परिक्रमा करनी पड़ती है। 'मेघ-संदेश' ही की शरण लेनी पड़ी—दिल्ली में चलते-फिरते डाकखाने का नाम, शायद आपने सुना होगा, 'मेघ-संदेश' है।

यह भी एक घटना ही है कि इसी मास की 'कल्पना' में मेरी एक कविता आई है 'नभ का निमंत्रण', जिसे लिखते समय शायद ये मेरे अग्रज और समकालीन मेरे दिमाग से बाहर नहीं थे :

"याद आते हैं गरुड़-दिग्गज घनों को
चीरने वाले झपट कर,
और गौरव-गृद्ध सूरज से मिलाते
आँख जो धँसते निरंतर

गए अंबर में न जलकर पंख जब तक
हो गए बेकार उनके. क्षार उनके,
हंस, जो चुगने गए नभ-मोतियों को
और फिर लौटे न भू पर,
चातकी, जो प्यास की सीमा बताना,
जल न पीना, चाहती थी,
उस लगन, आदर्श, जीवट, आन के
साथी मुझे क्या फिर मिलेंगे।
शब्द के आकाश पर उड़ता रहा
पद-चिह्न पंखों पर मिलेंगे।"

निराला का तन-पंख जलकर क्षार हो चुका है, पर उनकी मन की उड़ानें बहुतों को, बहुत काल तक, ऊपर उठने, उड़ने और जीवन-गगन को मथने की प्रेरणाएँ देती रहेंगी।

अक्टूबर, १९६१]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री : एक संस्मरण

पिछले सप्ताह आचार्य चतुरसेन शास्त्री के देहावसान का समाचार हिंदी पत्रों में पढ़कर हृदय को भारी धक्का लगा। इसके पूर्व उनकी बीमारी का कोई समाचार-पत्रों में पढ़ने या परिचितों से सुनने को न मिला था। पिछली बार मुझे उनके दर्शन करने का सौभाग्य लगभग एक मास पूर्व श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के जन्मोत्सव समारोह में मिला था। उन्होंने छोटा-सा भाषण भी दिया था—"यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि नवीन जी उम्र में मुझसे कई वर्ष छोटे हैं, पर इतने अस्वस्थ रहते हैं और मैं हट्टा-कट्टा हूँ।" शास्त्री जी को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि उनका अंत इतना निकट है, पर महाकाल का शस्त्र कब किसके सिर पर आकर गिरेगा, इसे कौन जान सका है। वह सदा ही दूर भी है और निकट भी। शास्त्री जी सहसा हमारे बीच से उठ गए हैं और हिंदी संसार का एक प्राणवान कोना सूना हो गया है।

वे हमारे बीच से उठ भी गए हैं और हमारे बीच बैठे भी हैं और सदा बैठे रहेंगे। मृत्यु के समय शास्त्री जी की अवस्था लगभग सत्तर के थी। पिछले प्राय: पचास वर्षों के सक्रिय साहित्यिक जीवन में अपनी लौह लेखनी से उन्होंने जो कुछ लिखा है वह हिंदी की अमिट और स्थायी संपत्ति है। उनकी सप्राण, सबल और ठोस कृतियों ने खड़ीबोली हिंदी गद्य की अडिग और सुदृढ़ आधारशिला रख दी है और उस पर हिन्दी गद्य का प्रासाद प्रशस्त, विस्तृत और उन्नत होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। गुण का ध्यान करना थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दें तो उनका लेखन परिमाण में भी इतना है कि हमें आश्चर्य-चकित कर देता है। हिंदी के इस महाप्राण लेखक ने न कभी विश्राम किया और न अपनी लेखनी को करने दिया। एक महारथी परिश्रम से थककर सो गया है। उसे आराम की आवश्यकता थी। आइए उसकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करें और उसके जीवन और कृतित्व से प्रेरणा ग्रहण करें। वे उन

आशावान भविष्यद्रष्टाओं में थे जिन्होंने सदियों से विश्रृंखल भारत देश को एक आंतरिक सूत्र में आबद्ध करने के लिए एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता का विश्वास लेकर अपना संपूर्ण जीवन उसे सजीव और सशक्त बनाने के लिए समर्पित कर दिया था। वह कार्य अभी अपूर्ण है और शायद आनेवाली कई पीढ़ियों को इन मनीषियों द्वारा निर्दिष्ट पथ की ओर श्रम और साधना से बढ़ना होगा। शास्त्री जी का सृजन और जीवन सदा हमें उस ओर प्रेरित करता रहेगा, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

समय आएगा जब शास्त्री जी की संपूर्ण रचनाएँ संगृहीत होकर हमारे सामने आएँगी, शोधक उन पर अनुसंधान करेंगे और उनकी कृतियों और उनके जीवन का समुचित मूल्यांकन किया जाएगा। प्रबंध और व्यवस्था के अभाव में हमारे देश में लेखकों के मरने के बाद शोध-सामग्री प्रायः तितर-बितर हो जाती है। अब इस संबंध में हमें सतर्क रहने का समय आ गया है। शास्त्री जी के ग्रंथों की संख्या लगभग सवा सौ के बताई जाती है। हमें चाहिए कि हम उनकी समस्त अप्राप्य और दुष्प्राप्य रचनाओं की खोज आरंभ करके उन्हें कहीं संगृहीत कर लें—शोध की दृष्टि से उनके विभिन्न संस्करणों की भी महत्ता है। उनकी हस्तलिखित पांडुलिपियों को भी सुरक्षित करने की आवश्यकता है। पचास वर्षों के साहित्यिक जीवन में उनके लेख आदि कब-किन पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए इनकी भी प्रामाणिक और परिपूर्ण तालिका बनाने की ओर प्रयत्नशील होना चाहिए। इसी प्रकार उनके पत्रों को भी संकलित और सुरक्षित करने की ज़रूरत है। प्रसिद्ध अंग्रेज़ी लेखक विलियम बट्लर ईट्स के पत्रों की खोज में एलेन वेड ने अपने जीवन के पंद्रह वर्ष लगा दिए और लगभग १००० पृष्ठों का ग्रंथ प्रकाशित किया। व्यक्तिगत संपर्क में आए हुए लोग अपने संस्मरण लिखें। समुचित शोध के लिए ये सब चीज़ें सहायक सिद्ध होंगी, और इन सब कार्यों में जल्दी करना चाहिए। बहुत तरह का काम व्यक्तिगत अध्यवसाय और लगन से किया जा सकता है। कुछ काम संस्थाओं द्वारा करने के हैं। दिल्ली अथवा आगरा के विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग इस कार्य में रुचि लेंगे, ऐसी आशा मैं रखता हूँ।

इस समय इस बात का स्मरण कर कि शास्त्री जी जैसे महारथी से मेरा परिचय लगभग तीस वर्षों का था, मैं बड़े गौरव का अनुभव कर रहा हूँ। उनसे

मेरा प्रथम साक्षात्कार सन् १६३० या '३१ में हुआ था।

उन दिनों सन् १६३० के सत्याग्रह आंदोलन में एम० ए० की पढ़ाई छोड़, प्रयाग विश्वविद्यालय से नाम कटा, मैं एक राष्ट्रीय संस्था, इलाहाबाद हाई स्कूल में अध्यापन का काम करता था। साहित्य के स्वाध्याय में मुझे रुचि थी और यदा-कदा कहानियाँ और कविताएँ लिखा करता था। उन्हीं दिनों प्रयाग के मुहल्ला कीटगंज के एक रईस का लड़का बहुत बीमार हो गया था और उनने शास्त्री जी को अपने बेटे का इलाज करने के लिए बुलाया था। शास्त्री जी उसी रईस की कोठी में कुछ दिन ठहरे थे। शास्त्री जी से मेरी पहली भेंट स्वर्गीय मुंशी कन्हैयालाल एडवोकेट के निवासस्थान—'कृष्ण-कुंज' में हुई थी। मुंशी जी मेरे पड़ोसी और निकट के संबंधी थे। साहित्य और कला में उन्हें रुचि थी, प्रयाग में पहला संगीत सम्मेलन, जिसमें विष्णु दिगंबर भी सम्मिलित हुए थे, 'कृष्ण-कुंज' में ही हुआ था। वे उर्दू 'चाँद' का संपादन भी कर चुके थे—हालाँकि यह पत्र ज़्यादा दिन नहीं चला। फ़ारस के सूफ़ी कवियों की रचनाओं का एक सानुवाद संकलन उन्होंने चांद प्रेस से प्रकाशित कराया था। वैसे वे प्रधानतया उर्दू क्षेत्र के आदमी थे, पर हिंदी में भी सक्रिय रूप से रुचि लेना चाहते थे। उनमें संगठन-शक्ति बड़ी प्रबल थी और आगे चलकर उन्ही के उत्साह और प्रबंध से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अभिनंदन में प्रयाग में द्विवेदी मेला हुआ, जिसके जोड़ का साहित्यिक समारोह न मैंने पहले कभी देखा था और न बाद को देखा।

शास्त्री जी से मुंशी जी का परिचय कब और कैसे हुआ यह मैं नहीं जानता। वे हर शाम रईस की बग्घी में बैठकर 'कृष्ण-कुंज' आते, दो-तीन घंटे की बैठक होती, कभी-कभी शास्त्री जी 'कृष्ण-कुंज' में ही भोजन करते। उस समय तक मैं शास्त्री जी के 'हृदय की परख' उपन्यास, 'अंतस्तल' गद्यकाव्य और उनकी कुछ कहानियों से परिचित हो चुका था। 'अंतस्तल' के भावों की सूक्ष्मता, तीव्रता और विविधता तथा उसकी भाषा की स्वाभाविकता, सजीवता और नाटकीयता से मैं बहुत प्रभावित हुआ था। जिस दिन से मुझे शास्त्री जी के 'कृष्ण-कुंज' में आने का पता लगा, मैं भी उनकी बैठकों में शामिल होने लगा। शास्त्री जी के व्यक्तित्व में बड़ा आकर्षण था। बैठक में तो मैं उनके साथ रहता ही; कभी-कभी जब रईस की बग्घी शास्त्री जी को छोड़कर चली जाती

तो रात को वे मुंशी जी की फिटन में वापस जाते, मैं कीटगंज तक उन्हें छोड़ने जाता और वहाँ भी कुछ देर उनके पास बैठकर लौटता। शास्त्री जी आए तो थे मरीज़ का इलाज करने पर साथ अपने दो-तीन बड़े बक्स किताबों के भी लाए थे। एक दिन हँसी में कहने लगे, "मैं तो सुबह से अपने इन साहित्यिक ग्रंथों को पढ़ता रहता हूँ और रईस समझता है कि ये ग्रंथ वैद्यक के हैं जिनका मनोयोगपूर्वक अध्ययन करके मैं उसके बेटे का इलाज करता हूँ, इससे वह मुझसे बहुत संतुष्ट और प्रसन्न है कि अच्छी फ़ीस लेता हूँ तो अच्छी मेहनत भी करता हूँ।"

उन दिनों शास्त्री जी चूड़ीदार पाजामा, शेरवानी और किश्तीनुमा टोपी पहना करते थे; ४० की उमर थी—थोड़ा स्थूल शरीर, गेहुँआ रंग, भरा हुआ चेहरा, ऊँचा प्रतिभाशाली माथा, काले-चिकने बीच से कढ़े बाल, घनी मूँछें, और चश्मे के पीछे सजग बड़ी-बड़ी तेजस्वी आँखें, अधरों पर थोड़ा व्यंग्य और बहुत आत्मविश्वास भरी मुस्कान—जैसे कह रहे हों, यहाँ से तो ज्ञान, अनुभव और निश्चय भरी बात निकल रही है पर जितना समझने की तुममें क्षमता है उसका हमें पता है। शास्त्री जी के व्यक्तित्व का मुख्य आकर्षण था उनका वार्तालाप।

मैं मुंशी कन्हैयालाल से कहा करता था, और लोग तो साहित्य लिखते हैं, पर शास्त्री जी साहित्य बोलते हैं। उनकी आवाज़ पतली थी, पर कर्कश नहीं; हर शब्द पूरा, शुद्ध उच्चरित; हर वाक्य शब्दों के ठीक क्रम में ढला; वाक्य के बाद वाक्य ठीक सिलसिले में बँधा; बीच-बीच में इतना विश्राम कि जैसे कहीं 'कामा' रख रहे हैं, कहीं 'कोलन', कहीं पूर्ण विराम और यह सब पूर्णतया स्वाभाविक रीति से। कारण यह था कि शास्त्री जी की हर विषय पर निश्चित धारणाएँ थी, गोलमोल बातें न वे करते थे और न उन्हें पसंद आती थीं। उनके स्पष्ट विचार और उनकी समर्थ अभिव्यक्ति में इतना सामंजस्य था कि उनकी ज़बान न कहीं अटपटाती थी, न कहीं अटकती थी। वे धाराप्रवाह बोलते थे और उन्हें सुनते मन नहीं भरता था। क़िस्सा मशहूर है कि मीर ने अपने एक बकबासी हमसफ़र से कहा था, "किराया दिया है साथ चलें, पर मेरी ज़बान क्यों ख़राब करते हैं?" मीर के साथ शास्त्री जी होते तो मुझे विश्वास है मीर कहते, "आप बात करते चलें तो यह रास्ता भले ही जहन्नुम को भी ले

जाए, मैं आपका साथ न छोड़ूं।"

शास्त्री जी विभिन्न रुचि के व्यक्ति थे और साधारण जीवन से संबद्ध सभी विषयों पर अधिकारपूर्वक बोलते थे। उनका अध्ययन विस्तृत था और उन्होंने देश-काल को निकटता से देखा था। वैद्य होने के नाते राजा, महाराजाओं, पूंजीपतियों, रईसों के जीवन से उनका घनिष्ठ परिचय था। इसको उन्होंने वैद्य होने के कारण सहानुभूति और कलाकार होने के कारण व्यंग्य की दृष्टि से देखा था। उनका 'गोली' उपन्यास पढ़नेवालों को इन दोनों दृष्टिकोणों के संमिश्रण की सहज अनुभूति होगी। उन दिनों भी वे राजा-रईसों के कितने ही क़िस्से सुनाया करते थे। उनकी मर्मभेदी दृष्टि से कुछ भी न छिपा था, कुछ भी न छूटा था। जब वे बातें करते, हमें ऐसा लगता जैसे हम तो किनारे की रेत से खेलते रहे हैं और ये गहरे पैठे हैं। जब वे बोलते, न जाने कितनी सुस्पष्ट लगनेवाली वस्तुओं पर से आवरण उतरते जाते और उनका कुछ और ही रूप आंखों के आगे आने लगता। वार्तालाप की कला में वे कुशल थे और दूसरों की शंकाओं, जिज्ञासाओं, प्रश्नों, प्रतिवादों को भी ध्यान से सुनते थे। क्रुद्ध होते तो नहीं, पर आवेश में आते मैंने उन्हें कई बार देखा है। सार्थक विरोध तो वे समझते थे पर अनर्गलता उनको बरदाश्त न थी।

प्रयाग में रहते हुए रोगी का उपचार करने में उनका जो थोड़ा-बहुत समय लगता हो, उसको छोड़कर वे बराबर, अध्ययन, लेखन के काम में लगे रहते थे। उनका 'आरोग्य शास्त्र' प्रेस में था और उन दिनों उसके प्रूफ़ आया करते थे; मैं भी प्रूफ़ देखने में यदाकदा उनकी सहायता कर देता था। पुस्तक प्रकाशित हुई तो उसकी एक प्रति उन्होंने मेरे लिए भेजी। इन दिनों वे विशेषकर 'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन कर रहे थे। उनसे मैंने 'रासो' के कई स्थल सुने भी थे। रासो पर आधारित एक लघु ऐतिहासिक उपन्यास 'खवास का ब्याह' उन्होंने प्रयाग में ही लिखा था। जब यह उपन्यास पूरा हो गया तो उन्होंने सबका सब, शायद दो या तीन दिन की बैठकों में, हमें सुनाया था। उनके पढ़ने का ढंग इतना मनमोहक था, इतना भावानुरूप, इतना प्रवाहपूर्ण कि कुछ घंटों के लिए हम मध्यकालीन युग में ही चले जाते थे। मुझे हिंदी के कुछ विशिष्ट गद्यकारों का गद्य उनके मुख से सुनने का अवसर मिला है, जैसे जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा, पर किसी को मैंने

इतना मंत्रमुग्ध होकर नहीं सुना जितना शास्त्री जी के गद्य को। यहाँ मैं शैली की बात न करके केवल पढ़ने के ढंग की बात कर रहा हूँ। डिकेंस अपने उपन्यासों को बड़ी-बड़ी मजलिसों में पढ़कर सुनाया करते थे। काश कि शास्त्री जी से उनके उपन्यासों को सुनने की कोई योजना बनाई गई होती—उनके यौवनकाल में। बाद को 'ख़वास का ब्याह' गंगा-पुस्तक-माला से प्रकाशित हुआ। संभवतः इसी से प्रेरणा लेकर मुंशी कन्हैयालाल ने 'हत्यारे का ब्याह' नाम की एक कहानी लिखी और उसी नाम से उनका एक कहानी-संग्रह निकला, पर कुजा 'ख़वास का ब्याह' कुजा 'हत्यारे का ब्याह'! प्रतिभा का अनुकरण हमेशा भदेसपन में बदलकर रह जाता है।

उन्हीं दिनों प्रयाग में एक और वयोवृद्ध साहित्यकार पधारे। श्री किशोरीलाल गोस्वामी हिंदी साहित्य सम्मेलन, झाँसी, का सभापतित्व कर कुछ दिनों के लिए प्रयाग आए और लाला निरंजनलाल भार्गव की कोठी में ठहरे। शास्त्री जी ने गोस्वामी जी का साहित्य तो पढ़ा था, पर उनका दर्शन कभी न किया था। जब उन्हें पता लगा कि गोस्वामी जी प्रयाग में ही हैं तो वे उनके दर्शनों के लिए उतावले हो उठे। मुझे वह संध्या अच्छी तरह याद है जब शास्त्री जी और मुंशी जी के साथ मैं भी गोस्वामी जी के डेरे पर पहुँचा। गोस्वामी जी की आँख उस समय तक जा चुकी थी। मसनद के सहारे पलँग पर बैठे थे, शास्त्री जी ने उनके पाँव छुए, पूछने पर 'कौन ?' अपना नाम बताया। गोस्वामी जी ने पलँग से उतरकर उन्हें अपनी बाँहों में भर लिया। अंधे होने पर भी वे औरों से पढ़वाकर बहुत कुछ साहित्य सुना करते थे। उन्होंने शास्त्री जी की कहानी 'आम्रपाली' की बड़ी प्रशंसा की। उनके अनुरोध पर दूसरे दिन शास्त्री जी ने अपनी 'प्रबुद्ध' कहानी उन्हें पढ़कर सुनाई। हम लोगों के अतिरिक्त भार्गव परिवार के लोग और उनके इष्ट मित्र भी आ गए और सबने शास्त्री जी के कहानी-पाठ का आनन्द लिया। गोस्वामी जी ने अपने दुपट्टे से अपना सिर बाँध लिया, बोले, "शास्त्री जी, आपने मुझे और ही लोक में पहुँचा दिया। आपकी लेखनी ने हिंदी कहानी में कितना जीवन, कितनी रंगीनी भर दी है।" शास्त्री जी ने उत्तर दिया, "मैं तो आपकी ही क़लम का विद्यार्थी हूँ। कुछ लोगों में गोस्वामी जी आत्मश्लाघी और शास्त्री जी उदग्र और मुदम्मिग़ समझे जाते थे, पर उस दिन हिंदी की दो पीढ़ियों के

प्रतिनिधियों के बीच जो स्नेह, संवेदन और समादर देखा गया उसने लोगों को विभोर कर दिया। काश कि हम भी अपने पूर्ववर्तियों को यही आदर दे सकते, अपने अनुवर्तियों को वही स्नेह !

उन दिनों की बैठकों में मुंशी जी के अनुरोध पर मैंने भी एक रात अपनी कुछ तुकबंदियाँ सुनाई थीं—उस समय तक मेरी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। शास्त्री जी पर, स्वाभाविक ही, कोई विशेष प्रभाव न पड़ा था और मुंहदेखी कहने और झूठी प्रशंसा करने की उनकी आदत न थी।

इसके बाद मैं शास्त्री जी को १९३४ में लखनऊ के एक कवि-सम्मेलन में मिला। मेरी कविताओं का एक संग्रह 'तेरा हार' के नाम से सन् '३२ में प्रकाशित हुआ था और 'फ्लैट' गया था पर 'मधुशाला' की १०-१५ रुबाइयाँ दिसंबर, १९३३ में 'सरस्वती' में प्रकाशित होते ही हिंदी-संसार भर में ध्वनित-प्रतिध्वनित होने लगी। कवि-सम्मेलन में शास्त्री जी सपत्नीक श्रोताओं में विराजमान थे। मैं कविता पढ़ चुका तो वे स्वयं उठकर मेरे पास आए—"क्या 'मधुशाला' तुमने ही लिखी है ? क्या तुम वही 'बच्चन' हो जिसे मैंने दो-तीन वर्ष पूर्व प्रयाग में देखा था ? तब तो तुम मुँह खोलकर बात भी नहीं कर पाते थे; आज तो तुम्हारी वाणी को पर लग गए हैं। बड़ी प्राणमयी रचना है !" मैंने कहा, "मैं तो आपकी ही क़लम का विद्यार्थी हूँ।" शास्त्री जी समझ गए और देर तक मेरी पीठ थपथपाते रहे।

इसके बाद मैं शास्त्री जी को सन् १९३९ में किसी कवि-सम्मेलन में मिला। १९३६ में मेरी पत्नी का देहावसान हो चुका था। 'मधुशाला' की मस्ती मुझे छोड़ चुकी थी; 'निशा निमंत्रण' के बाद मैं 'एकांत-संगीत' के गीत लिख रहा था, उन्हीं को प्रायः सुनाता भी था। एक अवसाद, विषाद की छाया मुझे घेरे रहती थी। शास्त्री जी मुझे देखकर बोले, "'मधुशाला' और 'मधुबाला' के लेखक की यह दशा ! तुम्हें हो क्या गया है ?" मैंने उन्हें अपनी कथा-व्यथा बताई। बोले, "तुम अस्वस्थ हो, इसीसे तुमने जीवन का एक अस्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया है; इसे छोड़ो, मेरे पास आओ, मैं तुम्हारा इलाज करूँगा। शरीर और मन कोई अलग सत्ताएँ नहीं हैं।" शास्त्री जी ने मेरे प्रति जो आत्मीयता दिखलाई, उससे मैं कृतकृत्य हो गया।

शास्त्री जी को सचमुच मेरी चिंता थी। उन्होंने कई पत्र मुझे लिखे;

अंततोगत्वा सन् १९४० में मैं दिल्ली आया, और दो-तीन दिन मैं उन्हीं के साथ लालबाग, शाहदरा में ठहरा। शास्त्री जी को अधिक निकट से देखने का अवसर मिला। उनको मैंने अथक परिश्रमी, अदम्य उत्साही और अबाध कर्मठ के रूप में देखा। वे नियमित रूप से दो बजे रात को उठते और बारह बजे दिन तक काम करते, फिर स्नानादि कर भोजन करते और थोड़ी देर आराम करते। शाम को उनके रोगी, मित्र मिलनेवाले आते और वे उन्हें दवा आदि देते और उनसे बातें करते। लेखन से जो आमदनी उन्हे होती थी, उससे वे असंतुष्ट थे, वे चाहते थे कि वैद्यक छोड़कर अपना सारा ध्यान साहित्य-सृजन की ओर लगाएँ पर परिस्थितियाँ उन्हें मजबूर करती थीं कि वे इस पेशे से कुछ धन कमाते रहें। वे निराश नहीं थे; उन्होंने अपने भविष्य का एक बड़ा मनोरम स्वप्न बना रक्खा था और उसे सत्य करने की दिशा में लगे रहना चाहते थे, उपलब्धि हो, कम हो, कुछ भी न हो।

मुझे उन्होंने अपनी हार्दिक संवेदना दी, स्नेह दिया। मेरी विधिवत स्वास्थ्य-परीक्षा की, घंटों बैठकर बचपन से मेरी ईमारियों-बीमारियों का इतिहास पूछा। अंत में उन्होंने मुझे अपनी सलाह दी, "तुम्हें अभी बहुत दिन जीना है, तुम घर-परिवार बसाकर ही शांत और सुखी रह सकोगे, तुम फिर से विवाह कर लो। मैं बिल्कुल तुम्हारी जैसी मनस्थिति से गुजर चुका हूँ, इसलिए तुम मेरे अनुभवों से लाभ उठाओ।" फिर कुछ रुककर हँसकर बोले, "अगर तुम जाति-पाति का बंधन नहीं मानते तो तुम्हारे लिए एक सुघड़ कन्या भी मेरी दृष्टि में है······

मैं केवल इतने पर राज़ी हो सका कि यदि कोई लड़की अनिवार्य रूप से मेरे जीवन में आएगी तो मैं विवाह कर लूँगा। शास्त्री जी को बड़ा संतोष हुआ। मैं चलने लगा तो उन्होंने मुझे एक ओषधि दी, खान-पान, संयम-नियम भी बताया। एक राजा के लिए उन्होंने एक रसायन तैयार किया था। बोले, "तुम्हें इससे बड़ा लाभ होगा।" मैंने पूछा, "दाम?" बोले, "दाम इसका कुछ नहीं, पर कुछ मरीज़ों को दवा तब फ़ायदा करती है जब वे जान लें कि दवा महँगी है, इसलिए कहता हूँ कि पूरी खूराक के लिए अगर हज़ार रुपए भी माँगे जाएँ तो इसका दाम कम है।" तीन महीने की दवा ख़त्म हो गई तो उन्होंने तीन महीने की दवा पार्सल से अपने ख़र्च पर भिजवाई। मेरे स्वास्थ्य में अद्भुत

परिवर्तन हुआ और शायद उसके कारण मेरे मनःस्वास्थ्य में भी।

कभी सोचता हूँ, शास्त्री जी से इतनी संवेदना, ममता, कृपा पाने का अधिकारी मैं किस नाते था। केवल हिंदी-लेखन-क्षेत्र में उनका एक छोटा-सा सहकर्मी होने के नाते। वे अपना सच्चा नाता साहित्यकारों से ही मानते थे। जब से दिल्ली आया वे अपने जन्म-दिन पर मुझे बराबर बुलाते थे, उनके यहाँ देखना था, उनके संबंधी कहो तो, मित्र कहो तो, साहित्यकार ही हैं। इसी कारण आज उनके हमारे बीच से उठ जाने से हम सबको ऐसा लग रहा है कि कोई अपना निकट संबंधी ही जैसे हमसे बिछुड़ गया है। आज के ईर्ष्या, द्वेष, पीठ पीछे निंदा, अहम्मन्यता के वातावरण में भी शास्त्री जी अपने चलते छोटे-बड़े सबके साथ पारस्परिक सद्भावना, सहिष्णुता, स्नेह और कृपा का उदार नाता ही निभाते रहे।

हम सबका कर्तव्य है कि उस महामना साहित्यकार की कीर्ति की रक्षा करें और उसके जीवन से अपने कर्म और व्यवहार के लिए प्रेरणा लें।

१९६०]

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' : एक संस्मरण

आज समाचारपत्रों में पढ़ा कि पंडित गिरिधिर शर्मा 'नवरत्न' का स्वर्गवास हो गया। यह दुःखद समाचार अप्रत्याशित नहीं था। पिछली जून में उन्होंने अपने जीवन के अस्सी वर्ष पूरे किए थे। उस समय हिंदी के कई पत्रों में उनका जो संक्षिप्त परिचय छपा था, उसमें उनकी दीर्घकालीन अस्वस्थता की चर्चा थी। तीन-चार दिन हुए उनके पौत्र श्री योगेश्वर शर्मा का पत्र आया था, जिसमें उन्होंने लिखा था कि शर्मा जी की हालत चिंताजनक है। 'धर्मयुग' में इनका जो चित्र छपा था, वह भी रोग-शय्या का था। दुर्भाग्यवश यह रोग-शय्या उनकी मृत्यु-शय्या सिद्ध हुई। भगवान उनकी आत्मा को अपनी शरण में लें और उनके परिवार के सदस्यों एवं उनके मित्रों को यह वियोग सहने की शक्ति दें।

नई पीढ़ी के लेखकों एवं पाठकों में उनका नाम अपरिचित-सा हो सकता है। लगभग तीस वर्ष से वे प्रकाशन के प्रति उदासीन पर सृजन के प्रति शायद पहले से भी अधिक जागरूक थे। वे द्विवेदी युग के लेखक थे। द्विवेदी जी का दर्शन करने के लिए एक बार वे झालरापाटन से द्विवेदी जी के निवासस्थान दौलतपुर (रायबरेली) भी गए थे और द्विवेदी जी ने उनका बड़ा सम्मान किया था। उन दिनों इस प्रकार की तीर्थ-यात्रा को साहित्यकार-धर्म का मुख्य अंग माना जाता था। कोई किसी के लेख-काव्य में कोई गुण देख या उससे प्रभावित हो उससे मिलने, या संपर्क स्थापित करने का अवसर ढूंढ़ता रहता था। 'दिनकर' जी की प्रारंभिक कविताओं से आकर्षित हो एक बार श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने कहीं कहा था कि यदि 'दिनकर' अफ्रीका के जंगलों में रहते होते तो उनसे मिलने को मैं वहाँ भी पहुँचता। लेखकों के पारस्परिक परिचय, नैकट्य एवं संबंध का परिणाम यह था कि साहित्य-संसार में सद्भावना का एक स्निग्ध वातावरण बना हुआ था। यदि कहीं ईर्ष्या-द्वेष था भी तो वह जैसे एक ही

परिवार के लोगों में था, परिवार की मर्यादा से सीमित, नियंत्रित। जीवन आज अधिक व्यस्त हो गया है, लेखकों के दृष्टिकोण बदल गए हैं और साहित्य-क्षेत्र अधिक प्रतियोगितापूर्ण है। पहले सब हिंदी के लिए कुछ न कुछ कर रहे थे; आज सबको दूसरों को पीछे छोड़ते हुए या पीछे समझते हुए अपने को आगे बढ़ाना-बढ़वाना है। दूर-दूर बैठी जो क़लमें एक-दूसरे पर विष उगला करती हैं, यदि उन्हें पास-पास कर दिया जाए तो मुझे विश्वास है कि वे सहसा रस भले ही न बरसाने लगें, अपनी बहुत-सी अवांछित और अभद्र कटुता और तीक्ष्णता से मुक्त हो जाएँगी। क्या कोई ऐसी तरकीब बतला सकता है जिससे इन साहित्यिक तीर्थ-यात्राओं का महत्त्व फिर से नई पीढ़ी के लेखकों में दृढ़ाया जा सके?

'नवरत्न' जी के प्रथम दर्शन मुझे उनकी इसी प्रकार की एक साहित्यिक तीर्थ-यात्रा में हुए थे। यह बात है सन् १९३५ की। मेरी 'मधुशाला' निकल गई थी और उसने मेरे विषय में एक विचित्र प्रकार का कौतूहल उत्पन्न कर दिया था। कौन है यह आदमी? क्या इसके पास बड़ी दौलत है? क्या यह दिन-रात नशे में पड़ा रहता है? क्या यह जो लिखता है, वह सब उसका अनुभूत सत्य है? क्या यह मधुशाला में रहता है, मधुबालाओं से घिरा, एक आधुनिक उमर ख़ैयाम की तरह?—शायद कुछ इसी प्रकार की जिज्ञासा थी, जिसने 'नवरत्न' जी को लाकर मेरे मकान के सामने खड़ा कर दिया। उन दिनों मैं अपने इलाहाबाद के मुट्ठीगंज वाले मकान में रहता था। मैं घर के किसी मरीज़ की दवा लाने या किसी ट्यूशन पर गया हुआ था। मेरी अनुपस्थिति में वे मेरे लिए एक पुर्ज़ी छोड़कर वापस चले गए। मैं लौटकर आया तो देखता हूँ कि गली में बड़ी स्फूर्ति-सी है, जो ही मिलता है, वही कहता है, एक बड़ी-सी मोटर आपके घर आई थी, कई आदमी थे! जैसे मेरे घर किसी की मोटर आने से ही मुझे बड़प्पन मिल गया था और लोगों की दृष्टि में मेरा आदर बढ़ गया था। पुर्ज़ी में लिखा था, "हम तो आपकी मधुशाला देखने आए थे, पर साक़ी ही ग़ायब था। हम महाराज बनारस की कोठी में ठहरे हैं। अब वहीं आपकी प्रतीक्षा करेंगे—गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', झालरापाटन वाले।" शर्माजी के नाम से मैं अपरिचित नहीं था, इसकी याद तो नहीं थी कि कभी 'सरस्वती' के पृष्ठों में उनकी रचना छपती थी, पर उनका 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का

अनुवाद मैंने पढ़ा था और उसकी एक प्रति मेरे पास थी। यह अनुवाद उनका १९३१ में प्रकाशित हुआ था। उस पुस्तक से जाना था या किसी और से सुन रक्खा था कि वे झालरापाटन राज्य के राजगुरु हैं। इसकी तो मैं कभी प्रत्याशा ही नहीं कर सकता था कि वे मेरे घर पर आएँगे। पुर्ज़ी पढ़कर मैं यह सोचने लगा कि जब शर्मा जी ने मधुशाला की कल्पना लेकर मेरे २५५ नंबर, मुट्ठीगंज के अधबने, बेढंगे, बे-कलई किए हुए मकान को देखा होगा, तब उनकी क्या प्रतिक्रिया हुई होगी। यदि उन्हें यह पंक्ति याद होगी कि 'चहक रहे सुन पीने वाले, महक रही ले मधुशाला' तो मेरे घर के सूनेपन और मेरे मकान के आगे बहती हुई दुर्गंधित नाली से उन्हें कितनी निराशा हुई होगी।

शाम को मैं बलुआ घाट-स्थित महाराज बनारस की कोठी पर पहुँचा, जो मेरे घर से बहुत दूर नहीं थी। वास्तव में मधुशाला तो वहाँ थी। बाहर कई मोटरें खड़ीं, फाटक पर राजस्थानी पीली पगड़ी में बंदूकधारी पहरेदार; मालूम हुआ महाराज झालरापाटन आए हुए हैं और कोठी में ठहरे हुए हैं; शर्माजी उन्हींकी पार्टी में आए हुए हैं। उनके पास पहुँचते ही मैंने उन्हें पहचान लिया; उनकी पुस्तक में मैं उनका चित्र देख चुका था—भरा हुआ, साँवला, लंबा शरीर, बंद कालर के कोट पर रेशमी पगड़ी, ललाट पर चंदन। मुझे देखकर उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ, बोले, "आप तो अपने नाम के अनुरूप ही हो, बच्चे की तरह बच्चन। हमने आपकी पुस्तक पढ़ी है। महाराज साहब भी आपकी कविता के प्रेमी हैं। अभी नवयुवक हैं, आप ही की उम्र के, मैंने ही उन्हें हिंदी पढ़ाई है। मैं आपसे मिलने गया था तो वे भी मोटर में बैठे थे। वे भी थोड़ी-बहुत कविता करते हैं। आपसे मिलने को उत्सुक हैं।"

उनकी बातें सुनते हुए मेरी कल्पना इतिहास को बेधती हुई उस आत्म-बलिदानी, स्वामिभक्त झाला सरदार की ओर चली गई, जिसने हल्दीघाटी की लड़ाई में महाराणा प्रताप के छत्र को अपने सिर पर लगवाकर उनके निकट से शत्रुओं का दबाव अपने ऊपर ले लिया था और स्वयं वीरगति प्राप्त कर महाराणा को बचा लिया था। उन्हीं के वंशज महाराज झालरापाटन को आज मैं साक्षात देख सकूँगा, मेरा कितना सौभाग्य है। तभी ध्यान आया, यह तो अच्छा हुआ कि जब वे मेरे घर पर पधारे तब मैं नहीं था, नहीं तो मुझे ग़ालिब के दो शेरों को उलट-पलट कर कुछ इस तरह कहना पड़ता :

वो आएँ घर पे मेरे
यह ख़ुदा की रहमत है,
कभी हम उनको कभी
बोरिए को देखते हैं।

उनको बिठलाने के लिए मेरे बाहर के कमरे में सिवा एक लकड़ी के नंगे तख़्त के और था ही क्या।

शर्मा जी ने कहा, 'मैं तो एक प्रकार की तीर्थयात्रा पर निकला हूँ। मेरी आँखों पर मोतियाबिंद का आक्रमण हो रहा है, सोचा, इसके पूर्व कि मेरी आँखों की ज्योती पूरी तरह से चली जाए, अपने साहित्यिक बंधुओं के दर्शन कर आऊँ।" परिवार के किसी वृद्ध की वत्सलता से उन्होंने मेरी शिक्षा-दीक्षा, मेरी पारिवारिक स्थिति, मेरी नौकरी, मेरी तनख्वाह आदि के विषय में पूछा। सच्चाई को छिपाने की मेरी आदत न थी—मैं उन दिनों अग्रवाल विद्यालय में ३५) रुपये प्रतिमास पर काम कर रहा था। यह सब सुनकर वे दुखी हुए और उन्होंने मेरे प्रति बड़ी सहानुभूति दिखलाई। कहने लगे, "देखिए, उर्दू के कितने शायरों को निज़ाम और नवाबों के यहाँ से वज़ीफ़े मिलते हैं, पर हमारे राजे-महाराजे हिंदी की ओर से उदासीन हैं; मैं चाहता हूँ नवयुवक महाराज में हिंदी के प्रति कुछ प्रेम जगाऊँ। आप उन्हें मिलें तो अपनी कुछ बहुत अच्छी कविताएँ सुनाएँ।"

पर मैं तो उनसे मिलने के लिए भद्रजनोचित पोशाक में भी नहीं आया था। वे मुझसे कह रहे थे—"महाराज के सामने नंगे सिर जाने की प्रथा नहीं है; ख़ैर, मैं आपको एक पगड़ी देता हूँ; और हाँ, महाराज को 'खमा घणी अन्नदाता' कहकर संबोधित करना चाहिए।" और मेरे मन में 'मधुशाला' की ये पंक्तियाँ गूँज रही थीं, 'राज्य उलट जाएँ, भूपों की भाग्य सुलक्ष्मी सो जाए, जमे रहेंगे पीनेवाले, जगा करेगी मधुशाला' और 'रक-राव में भेद हुआ है कभी नहीं मदिरालय में।' मेरे मन में बड़ा संकोच हो रहा था, और मैं महाराज से बिना मिले ही, केवल पुरोहित जी के दर्शन करके लौट आने का विचार कर रहा था कि बाहर 'खमा घणी अन्नदाता' के स्वरों के बीच महाराज स्वयं कमरे में आ गए। दरबारी औपचारिकता की परवाह न करके उनके इस प्रकार आ जाने से हम दोनों अचकचा उठे—गोरा, लंबा, भरा शरीर, चेहरे पर

मुस्कान और सरलता, बदन पर बासंती रंग का राजस्थानी ननमुख। मेरा मन तो उसके अंदर परिव्याप्त झाला सरदार के रक्त को ही नमन कर रहा था। शर्मा जी ने मेरा और मेरे कवित्व का परिचय अतिशयोक्तियों में दिया। बीच-बीच में उनकी और महाराज की कुछ बातें राजस्थानी बोली में भी हो जातीं। शर्मा जी के संकेत पर मैंने कुछ कविताएँ और 'मधुशाला' की रुबाइयाँ सुनाईं। दोनों ने ही बड़ी सहृदयता से सुनीं। महाराज चले गए तो पुरोहित जी ने मुझसे कहा, "महाराज, आपसे बहुत ही प्रभावित हुए हैं, आपसे फिर मिलना चाहेंगे।"

दूसरे दिन उन्होंने मुझे फिर बुलाया और बातचीत के सिलसिले में मेरे सामने एक प्रस्ताव रख दिया—"महाराज आपको अपने साथ रखना चाहते हैं, आपका भाग्य जाग जाएगा,—स्वमन्दिरे वा नृपमन्दिरे वा—कवि की शोभा तो राजप्रासाद में ही होती है।"

मेरे गले में गुड़ भरी हँसिया अटक गई। अपने प्रिय कवि पंत जी के कालाकाँकर राज्य में आश्रय लेने से मैं बहुत विक्षुब्ध था। क्या मैं वही खुद करूँगा ! मैंने निर्भयता से वह हँसिया अपने गले से खींच ली। शर्मा जी दरबारी आदमी थे, मेरा रुख पहचान गए, बोले, "मूर्खता कर रहे हो, पछताओगे।"

दो-तीन दिन बाद शर्मा जी के स्वागत में प्रयाग विश्वविद्यालय में लॉ कालेज हाल में, एक कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका सभापतित्व महाराज झालावाड़ ने किया। शर्मा जी का स्वर स्पष्ट और गंभीर था, हालाँकि कविताएँ उन्होंने विनोदात्मक ही सुनाई थीं। उन दिनों वे कुछ ऐसे पद्य लिख रहे थे जिनके अंत में कोई कहावत फ़िट बैठ जाती थी—भाव में भी और तुक में भी। याद है, एक पद का अंत हुआ था इस कहावत से :

"अंधी पीसे कुत्ता खाए।"

मगर अधिक रस बरसा था उनके 'रूबाइयात उमर खैयाम' के अनुवाद से। एक पंक्ति आज तक नहीं भूल सका :

"वह गुलाब गर्वीली नगरी अरम कहाँ है ?"

"Iram, indeed, is gone with all its Rose"

अब तक तो उमर खैयाम के दर्जन से ऊपर अनुवाद हिंदी में निकल चुके

हैं । शर्मा जी संभवतः उसके सर्वप्रथम अनुवादक थे—जैसे कि वे 'गीतांजलि' के भी थे । हिंदी में अपना अनुवादक प्रकाशित करने के दो वर्ष पूर्व उन्होंने 'रूबाइयात' का अनुवाद संस्कृत में भी प्रकाशित करा दिया था । रूबाइयों के अनेक अनुवाद सामने आ जाने के बावजूद शर्मा जी के अनुवाद की अपनी विशेषता है । विचित्र बात है कि रूबाई के लिए जिस छोटी पंक्ति का उपयोग उन्होंने किया था, उसे अपनाने का साहस फिर किसी अनुवादक को नहीं हुआ । अनुवाद अथवा स्वतंत्र रूबाई की पंक्ति कितनी बड़ी रक्खी जाए, यह अभी हिंदी के लिए प्रयोगावस्था में है । ज़्यादा लोगों ने पंक्ति को ज़्यादा बड़ी ही किया है । छोटी पंक्तियों के प्रयोग कम हुए हैं । शर्मा जी की पंक्ति एक माध्यमिक स्थिति की ओर सकेत करती है । अनुवाद में, कम से कम, इस लंबाई की पंक्ति में, मूल के विचारों को किसी भी तरह बढ़ाया नहीं जा सकता । उन्हें थोड़े में, सिमटा कर, संक्षिप्त करके ही रक्खा जा सकता है । इसमे शर्मा जी के अनुवाद में विचारों का जो कसाव है, जो संयमन है, वह किसी अनुवाद में नहीं आ पाया है, भाषा में कुछ शिथिलता अवश्य है । ऊपर उद्धृत पंक्ति ही इसका उदाहरण है । अंग्रेज़ी का शब्दार्थ यों होता, 'अवश्य ही अपने समस्त गुलाबों के साथ अरम गायब हो गया है ।' शर्मा जी इससे कम शब्दों में लगभग वही भाव और प्रभाव व्यक्त और उत्पन्न कर देते हैं ।

उस कवि-सम्मेलन में मैंने 'प्याले का परिचय' सुनाया, जिसमें ये पंक्तियाँ आती हैं :

"मुझको न सके ले धन कुवेर
दिखला कर अपना ठाट-बाट,
मुझको न सके ले नृपति मोल
दे माल-ख़ज़ाना, राजपाट,
अमरों ने अमृत दिखलाया" आदि—

मुझमे और शर्मा जी से तीन दिन पहले जो बातचीत हो चुकी थी, और जिसकी खबर महाराज साहब तक पहुँच ही गई होगी, उसके संदर्भ में इन पंक्तियों में एक अजीब लाक्षणिकता आ गई ! शायद उन्होंने यह भी समझा हो कि मैंने ये पंक्तियाँ उक्त प्रसंग के बाद रचीं पर पूरी रचना कम-से-कम साल भर पुरानी थी । इतना स्वाभिमान और इतनी उग्रता से व्यक्त उन्हें कब सहन हो

सकता था ! उनका रुख मेरी तरफ़ से बदल गया। फिर न उन्होंने मुझे बुलाया ही और न मैं ही अपने से गया।

आज जब शर्मा जी की मृत्यु का समाचार सुना तो ये सब बातें एक-एक करके याद आने लगीं। आज सोचता हूँ कि मेरे सामने जो प्रस्ताव उन्होंने रक्खा था, उसमें उनकी कितनी वत्सलता, कितनी सहृदयता, कितनी हिंदी के एक ग़रीब लेखक की सहायता करने की भावना थी—उनके रोष में भी कितना अपनत्व था !

शर्मा जी की मातृभाषा गुजराती थी ; उनके कुछ प्रकाशन गुजराती में भी हुए हैं। हिंदी को उन्होंने राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया था और उसके विकास में उन्होंने अपना सक्रिय और सृजनशील योग दिया था। संस्कृत में उनकी मौलिक रचनाओं का संग्रह 'गिरिधर सप्तशती' के नाम से प्रकाशित हुआ था। वे अपनी रचनाएँ स्वयं प्रकाशित करते थे और परिचितों, इष्ट-मित्रों में बाँट देते थे। विज्ञापन और आलोचना के अभाव में उनकी रचनाएँ बहुसख्य होकर भी अल्पसंख्य वर्ग में सीमित रह गईं। लेखन से धनार्जन उनका लक्ष्य नहीं था। इससे एक हानि भी हुई कि उनकी रचनाओं का व्यवस्थित वितरण, प्रचार नहीं हो सका। आज जब वे नहीं हैं तब इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि उनके साहित्य को लुप्त होने से बचाया जाए। शर्मा जी के पौत्र सुशिक्षित नवयुवक हैं। उन्हें चाहिए कि अपने पितामह की समस्त रचनाओं को 'नवरत्न रचनावली' के नाम से संगृहीत करें और कोई बड़ा प्रकाशक, अथवा ज़्यादा अच्छा हो, राजस्थान साहित्य अकादमी उसे स्मारक-संस्करण के रूप में प्रकाशित करे।

साहित्यकार का सबसे बड़ा श्राद्ध यही है कि उसके साहित्य की रक्षा हो और उसका प्रचार किया जाए।

जुलाई, १९६१]

प्रेमचंद : एक संस्मरण

आधुनिक गद्य में 'सेवा-सदन' और पद्य में 'भारत-भारती' में कुछ ऐसी विशेषता थी कि प्रकाशित होते ही ये पुस्तकें प्रत्येक हिंदी-प्रेमी के पास पहुँच गई। 'सेवा-सदन' को पहली बार पढ़ने का अवसर मुझे तब मिला था, जब मैं अंग्रेज़ी की सातवीं या आठवीं कक्षा में पढ़ता था। पुस्तक मुझे अपने किसी पड़ोसी से मिली थी। रोचक इतनी थी कि जब तक वह समाप्त न हो गई, मैं और कोई काम न कर सका। शायद उसे समाप्त करने में मुझे तीन दिन लगे थे। अपने समय को तीन दिन तक नष्ट करने के लिए मुझे घर पर पढ़ानेवाले पंडित जी की डाँट-फटकार भी सहनी पड़ी थी। उसके कई स्थान मैंने बार-बार पढ़े थे। अपने कई मित्रों से मैंने उसकी बड़ाई की थी और उसे पढ़ने का अनुरोध किया था। 'प्रेमचंद' नाम से वह मेरा प्रथम परिचय था और उस प्रथम परिचय से ही मैं प्रेमचंद का प्रेमी बन गया। जब पुस्तकालयों में जाता तो उनकी लिखी हुई किताबों की खोज करता और निराश होता। उस समय भारती-भवन का पुस्तकालय ही प्रयाग में हिंदी पुस्तकों के लिए सबसे बड़ा समझा जाता था और वहाँ 'प्रेमचंद' जी की रचनाएँ न थीं। 'अप-टू-डेट' तो हमारे पुस्तकालय आज भी नहीं हैं, पंद्रह वर्ष पहले की तो बात ही और थी। पत्रिकाओं में मैं उनकी कहानियाँ पढ़ता और उसी से संतोष करता।

हमारी कुछ ऐसी प्रकृति होती है कि जब हम किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम सुनते हैं, उसकी रचनाएँ देखते हैं, या उसके कार्य के विषय में सुनते हैं तो उसके रूप की कल्पना करना आरंभ कर देते हैं। शायद हमारी उसी आकांक्षा की पूर्ति करने के लिए आधुनिक समय के पत्रकार शीघ्रातिशीघ्र उस व्यक्ति का चित्र भी जनता के सामने उपस्थित कर देते हैं, जो अपने किसी कार्य के कारण प्रसिद्ध हो जाता है। प्रेमचंद जी कैसे होंगे, इसकी कल्पना करनी मैंने आरंभ कर दी थी। प्रेमचंद—गोरे होंगे, दुबले-पतले होंगे और

सुंदर होंगे। नाम में आया प्रत्येक अक्षर जैसे मेरी कल्पना को कुछ-कुछ संकेत-सा दे रहा था। प्रेमचंद जी का चित्र कुछ विलंब से ही जनता के सामने आया और उनका पहला चित्र जो मैंने देखा, वह था, 'रंगभूमि' के प्रथम भाग में। चित्र देखकर मुझे कुछ निराशा हुई। फिर आश्चर्य हुआ। अरे, ऐसे साधारण-से दिखाई देने वाले आदमी ने यह असाधारण पुस्तक लिखी है।

प्रेमचंद जी को साक्षात् देखने का अवसर मुझे १९३० में मिला। उस समय मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० (प्रीवियस) में पढ़ रहा था। उसी वर्ष पहले-पहल विश्वविद्यालय की हिंदी-परिषद ने विद्यार्थियों में गल्प लिखने की रुचि उत्पन्न करने के लिए गल्प-सम्मेलन करना निश्चित किया था। प्रतियोगिता में केवल विश्वविद्यालय के विद्यार्थी ही भाग ले सकते थे। सूचना दी गई थी कि सम्मेलन के सभापति श्री प्रेमचंद जी होंगे। इस प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए ही मैंने अपनी पहली कहानी लिखी।

निश्चित समय से पहले ही हाल विद्यार्थियों से भर गया था। मेरे ही समान अनेक विद्यार्थियों में श्री प्रेमचंद जी को देखने की उत्सुकता थी। उस समय तक वे उपन्यास सम्राट के नाम से विख्यात हो चुके थे। उनके साथ छत्र-चँवर की प्रत्याशा तो शायद ही किसी ने की हो, पर ऐसा तो प्रायः सभी ने सोच रक्खा था कि उनकी सूरत-शक्ल-पोशाक में कुछ ऐसी विशेषता होगी कि लोग उन्हें देखते ही पहचान लेंगे। विद्यार्थियों के अतिरिक्त नगर के अन्य साहित्य-प्रेमी भी निमंत्रित किए गए थे। आगंतुकों में हमारी दृष्टि किसी प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व की खोज कर ही रही थी कि श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा ने ताली बजाई और उनके संकेत पर सारा हाल तालियों से गड़गड़ा उठा। प्रेमचंद जी आ गए थे। सभापति के लिए प्रस्ताव हो जाने पर वे मेज़ के सामने बीच की कुर्सी पर आकर बैठ गए। मेरे कानों में कई बार धीमे-धीमे स्वर में आवाज़ आई—'अरे, यही प्रेमचंद जी हैं! अरे, यही प्रेमचंद जी हैं!'

प्रेमचद जी धोती के ऊपर खुले कालर का गरम कोट पहने हुए थे। जाड़े के दिन थे। नीचे बास्कट भी थी। सिर खुला था। उन्हें देखकर मुझे मालूम हुआ कि जो चित्र मैंने उनका देख रक्खा था, उसकी अपेक्षा वे मेरी प्रथम कल्पना के अधिक समीप थे। उस समय वे घनी-लंबी मूँछें रक्खे हुए थे।

गल्पें पढ़ी गई। मुझे प्रथम पुरस्कार मिला था; पर, प्रेमचंद जी को

द्वितीय पुरस्कार-विजेता की कहानी अधिक पसंद आई थी। सम्मेलन के पश्चात मेरा परिचय उनसे कराया गया। कहानी पढ़ने की मेरी रीति को उन्होंने बहुत पसंद किया था। साथ ही सुनाई जाने वाली कहानी को सफल बनाने के कई गुर भी उन्होंने मुझे बताए थे। जब मैंने उन्हें बतलाया की यह मेरी पहली ही कहानी थी तो उन्हें आश्चर्य हुआ और उन्होंने मुझे बराबर लिखते रहने की सलाह दी। हम लोगों ने उन्हे बड़ी देर तक घेरे रक्खा, तरह-तरह के प्रश्न किए और सभी का उन्होंने उत्तर दिया। उनकी बातचीत में उर्दू के शब्द बहुत आते थे और सुनकर हमें आश्चर्य होता था कि ये हिंदी लिखते कैसे होंगे? प्रेमचंद जी चले गए और उनकी सादगी, उनकी सरलता, उनकी मिलनसारी सदा के लिए हमारे हृदय में स्थान बना गई। उनके चले जाने पर भी हमारे मन में यही प्रश्न उठता रहा, क्या हमने सचमुच प्रेमचंद को देखा?

कुछ अपनी सफलता, कुछ प्रेमचंद जी का प्रोत्साहन, कुछ बेकारी—सबने मुझे साल-भर कहानी लिखने में सहायता दी। दूसरे वर्ष फिर गल्प-सम्मेलन हुआ। मुझसे भी कहानी माँगी गई थी, यद्यपि अब मैं विश्वविद्यालय का छात्र न था। मेरी कहानी उस बार भी सर्वोत्तम रही और परिषद वालों ने उसे प्रेमचद जी के पत्र 'हंस' में भेज दिया। कहानी प्रेमचंद जी को पसंद आई और उसे उन्होंने अपने विशेषांक में स्थान दिया। मेरे पास उन्होंने पत्र लिखा, तुमने वर्ष-भर में काफी उन्नति की है, 'हंस' के लिए कुछ भेजते रहा करो। मैंने शीघ्र ही दूसरी कहानी भी भेजी। कहानी पहली-सी अच्छी न थी। प्रेमचंद जी ने मुझे अंग्रेजी में पत्र लिखा। कहानी के विषय में लिखा था: "I hope, you won't mind if I take the liberty of making certain changes in your story." अर्थात्, मैं आशा करता हूँ, यदि मैं तुम्हारी कहानी में कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन करने की स्वतंत्रता ले लूँ तो तुम बुरा न मानोगे।

हिंदी का अदना-से-अदना संपादक यह अधिकार लिए बैठा है कि जिस लेख को जैसा चाहे घटाए-बढ़ाए, तोड़े-मरोड़े; और वह अपने इस अधिकार का इच्छानुसार उचित-अनुचित उपयोग किया करता है। कहानी-प्रधान पत्र के लिए प्रेमचंद जी से अधिक अधिकारी संपादक कौन हो सकता था? मुझसे अधिक नगण्य लेखक भी कौन हो सकता था? फिर भी कहानी में परिवर्तन करने की उन्होंने मेरी अनुमति चाही। प्रेमचंद जी के स्वभाव में बड़ी विनम्रता थी। अपने

बड़प्पन का उन्हें कभी भी ध्यान न होता था। वे कितने बड़े हैं, इसे वे न जानते थे और मेरी समझ में तो उनका यह न जानना कुछ दोष की सीमा तक पहुँच गया था। पिछले दिनों जब कुछ नासमझ लोगों ने उनके ऊपर आक्षेप करना आरंभ किया तो उन्हें चाहिए था कि हाथी के समान गभीर गति से वे चले जाते और कुत्तों को भूँकने देते। प्रेमचद जी हाथी तो थे, पर यह न जानते थे कि मैं हाथी हूँ, और इसी कारण वे कभी-कभी अपने क्षुद्र विरोधियों से उलझ पड़ते थे। हाथी का अपने को हाथी जानना खतरनाक है; ज़्यादा ख़तरनाक है गीदड़ का अपने को हाथी मानना।

मेरी कहानी जब परिष्कृत होकर 'हंस' में छपी तो मुझे मालूम हुआ कि प्रेमचंद जी को कहीं-कहीं नहीं, सभी जगह अपनी लेखनी चलानी पड़ी थी। मैं बहुत लज्जित हुआ। आगे जब उनसे मिलने का अवसर मिला तो उसकी भी बात चली। कहने लगे, "हिंदी के संपादक 'पकी' हुई चीज़ें कम ही पाते हैं। दस कहानी में शायद एक कहानी ऐसी आती हो जिसे ठीक करने में मिहनत न करनी पड़ती हो।"

इस बीच में मेरी कविताओं का प्रथम संग्रह 'तेरा हार' के नाम से निकल चुका था। 'हंस' में उसकी समालोचना भी निकल चुकी थी, पर प्रेमचंद जी को इसका पता न था कि उसका लेखक मैं ही हूँ। 'तेरा हार' 'वच्चन' के नाम से निकला था और वे मुझे अब तक 'हरिवंश राय' के नाम से ही जानते थे। उन्हें जब यह मालूम हुआ तो बहुत प्रसन्न हुए, पर उन्होंने मुझे साहित्य के लिए एक ही नाम रखने की सलाह दी। कहने लगे, "अगर आज मैं दूसरे नाम से लिखने लगूँ तो मुझे भी अपना स्थान बनाने में मुश्किल हो।" इस वार्तालाप के सिलसिले में प्रेमचंद जी ने कुछ ऐसी बातें बतलाईं, जिनका प्रभाव मेरे जीवन पर बहुत पड़ा। बोले, "कहानी और कविता की मनोवृत्ति में भारी अंतर है। रविबाबू जैसे प्रतिभावालों की बात और है। सफल कहानी-लेखक और सफल कवि दोनों होना कठिन है। कम-से-कम आरभ में अपनी मनोवृत्ति जिस ओर अधिक हो, उसी ओर प्रयत्नशील होना चाहिए।" उन्होंने साफ़-साफ़ तो न कहा था, पर उनका तात्पर्य यह था कि मैं कहानी में संभवतः अधिक सफल हो सकता हूँ, पर मेरी रुचि कविता की ओर अधिक बढ़ी। जीवन की अनिवार्य प्रगति ही कुछ ऐसी थी।

मेरे छोटे भाई की बदली प्रयाग से काशी को हो गई थी। मैं भी उन दिनों अंग्रेजी दैनिक पायोनियर के ट्रैविंग रिप्रज़ेंटेटिव के पद पर कार्य करता था। मेरा बनारस आना-जाना बराबर बना रहता था। जब-जब मैं बनारस आता था, उनके दर्शनों के लिए अवश्य जाता था और जब उनके पास से लौटता था, तब कुछ सीखकर, कुछ सबक़ लेकर। उन दिनों प्रेमचंद जी बेनिया पार्क के पासवाले मकान में रहते थे और प्रति दिन प्रसाद जी के साथ पार्क में लगभग एक घंटे टहला करते थे। जितने दिन मैं बनारस में रहता, मैं भी टहलने के समय पार्क में पहुँच जाता और दोनों साहित्यिक महारथियों के पीछे-पीछे चलता। कभी-कभी श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' भी आ जाते थे। प्रसाद जी कम बोलते, पर प्रेमचद जी अनेकानेक मनोरंजक बातें करते, हँसते-हँसाते रहते थे। मैं जब पहले दिन गया तो मैंने यह सोचा कि जब प्रसाद जी और प्रेमचद जी चलते होंगे तो कैसा साहित्यिक वार्तालाप होता होगा। पर उनकी बातचीत में साहित्यिक चर्चा का अंश सबसे कम होता था। वे जीवन के साधारण-से-साधारण विषयों पर कैसी जानकारी से बातें करते थे, कैसी रुचि से! मैं तो कुछ देर के लिए उनके लेखक-स्वरूप को भूल ही जाता था। इसे मैंने उनकी महानता का चिह्न समझा। छोटे लेखक सदा अपनी रचित पुस्तकों के पन्नों से ढके हुए दिखाई पड़ते हैं, महान लेखक अपनी रचनाओं से अधिक महान होते हैं, वे उनसे ढके नहीं जा सकते, ढके रहना पसंद नहीं करते।

एक बार की बात है। मैं बनारस गया हुआ था। मेरे मन में इच्छा हुई कि जिस समय प्रेमचद जी और प्रसाद जी बेनिया पार्क में घूम रहे हों, उस समय उनका एक चित्र ले लिया जाय। मैंने अपना प्रस्ताव उनके सामने रक्खा और अनुमति मिल गई। दूसरे दिन फ़ोटोग्राफ़र नियत समय पर पार्क में पहुँच गया था।

फ़ोटोग्राफ़र को देखकर प्रेमचंद जी कुछ नाराज़-से हुए। बोले—"भाई, यह क्या? मैंने समझा था कि तुम्हारे पास कैमरा होगा और तुम 'स्नैप' ले लोगे। यहाँ कोई हाल पूछनेवाला नहीं और तुम पाँच रुपये खर्च करके तस्वीर खिचाओगे। अभी नए-नए युनिवर्सिटी से निकले हो। भावुकता भरी है। पैसों का मूल्य नहीं समझते। मैं ऐसा जानता तो कभी तस्वीर खिचाने को तैयार न होता।"

मैं कुछ लज्जित हुआ, पर उससे अधिक दुखी। यदि प्रेमचंद जी ऐसे व्यक्ति किसी अन्य देश में होते तो अब तक क्या उन्हें यही कहना पड़ता कि कोई पुर्सा हाल नहीं ?

ख़ैर, फ़ोटोग्राफ़र आ ही गया था। उनका चित्र लिया गया। इस समय भी वह चित्र मेरी आँखों में है। प्रेमचंद जी नगे सिर, खद्दर का कुर्ता पहने खड़े हैं। उनके चेहरे पर पड़ी हुई प्रत्येक पंक्ति संघर्षमय जीवन का इतिहास-सा बता रही है। उनकी आँखों की चमक में उनका उच्चादर्श झलक रहा है। उनके चेहरे की मुस्कराहट में उनका भोलापन फूटा पड़ता है। नम्रता, सरलता और निरभिमान, उनके रूप में रसा-बसा-सा प्रतीत होता है। प्रेमचद जैसे रोज़ घूमने आते थे, आ गए थे—बाल बे-कढ़े, दाढ़ी बे-बनी, कुर्ते में जहाँ-तहाँ शिकन पड़ी। प्रसाद जी फ़ोटो खिचाने की तैयारी से आए थे—बाल जगे-कढ़े, दाढ़ी बनी, कुर्ता रेशमी।[१]

जब मेरी 'मधुशाला' प्रकाशित हुई तो मैंने उन्हें एक प्रति भेजी। इसके पूर्व भी वे 'मधुशाला' मुझसे सुन चुके थे। 'हंस' में उन्होंने स्वयं इसकी समालोचना लिखी। दक्षिण भारत में सभापति के पद से भाषण देते हुए भी वे इस लघु कृति को न भुला सके। चारों ओर के विरोध के बीच में उनके कुछ शब्दों से मुझे जो बल प्राप्त हुआ, उसे मैं ही जानता हूँ।

अंतिम बार उनके दर्शन मुझे आरा में हुए थे। वे वहाँ की विद्यार्थी-सभा के वार्षिक अधिवेशन में सभापति होकर गए थे। मुझे भी बुलाया गया था। कवि-सम्मेलन में वे पधारे थे। मैं उनके बगल में ही बैठा था। मेरे लिए पानी आया। मैंने पूछा—"बाबूजी आप भी पानी पिएँगे ?"

"तुम्हारे हाथ से पानी पिएँगे ?" कहकर क़हक़हा लगाकर वे हँस पड़े। उनकी-सी उन्मुक्त हँसी, गांधीजी की हँसी छोड़कर, मैंने किसी और की नहीं देखी।

कवि-सम्मेलन हुआ। जिस समय मैं कविता पढ़कर मंच से नीचे उतरा, प्रेमचंद जी ने कुर्सी से उठकर मुझे छाती से लगा लिया। उन्होंने मुझसे जो

---

१. बाद को यह चित्र 'हंस' के प्रेमचंद-स्मृति अंक में छपा। शायद प्रेमचंद-प्रसाद का साथ-साथ यह एकमात्र चित्र है।

कहा, वह तो उनका मेरे लिए आशीर्वाद था। कहने की क्या आवश्यकता ? मैंने झुककर उनके पैर छुए। उस समय यह न जान सका कि फिर उन्हें न देख सकूंगा। उन दिनों मेरी तंदुरुस्ती ठीक नहीं थी। कितना जोर दिया था उन्होंने मुझे तंदुरुस्ती पर सबसे अधिक ध्यान देने के लिए ! पर इस विषय में तो उन्हें मैं 'पर उपदेश कुशल' ही समझूँगा। यदि वे उसका एक-चौथाई भी ध्यान अपने स्वास्थ्य की ओर देते तो शायद अभी हमको उनकी असामयिक मृत्यु का दुखद समाचार सुनने को न मिलता।

उनकी बीमारी का समाचार पत्रों में देखने को मिला था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि जाकर उनको देख आऊँ, पर अपनी पत्नी की कठिन बीमारी के कारण जाना न हो सका और एक दिन सहसा पत्रों में पढ़कर दिल बैठ गया कि अब वह उपन्यास-देश का सम्राट इस संसार में नहीं रहा।

ज्ञानी कहेंगे कि प्रेमचंद जी तो अपनी रचनाओं में सदा के लिए वर्तमान हैं, पर मैंने तो मनुष्य प्रेमचंद को, लेखक प्रेमचंद से कहीं ऊँचा पाया था। और अब उस मनुष्य प्रेमचंद को हमने सदा के लिए खो दिया है !

शोक करने के अतिरिक्त हम कर ही क्या सकते हैं ?

नवंबर १९३६]

किशोरीलाल गोस्वामी : एक सप्ताह की भेंट

बन्धुवर मुन्शी कन्हैया लाल बड़े ही साहित्यानुरागी हैं। उनका साहित्य-प्रेम केवल पुस्तकों को पढ़ने या लिखने तक ही परिमित नहीं है। वे साहित्य के सजीव सम्पर्क में आना चाहते हैं। उनकी इच्छा सदा साहित्यकारों के पास बैठने की, उनसे बात करने की तथा उनसे मिलने-जुलने की रहा करती है। इन कामों के लिए उनके पास समय की कभी कमी नहीं रहती। स्वर्गीय पंडित किशोरीलाल जी गोस्वामी से मेरी भेंट उन्हीं की बदौलत हुई।

इसी वर्ष जनवरी के महीने में श्री गोस्वामी जी अपने पुत्र पंडित छबीले लाल जी के साथ प्रयाग पधारे थे। उन दिनों पंडित चतुरसेन जी शास्त्री भी प्रयाग में ही थे। प्रतिदिन सुबह-शाम घंटों हम लोगों को शास्त्री जी के साथ बैठकर साहित्य-चर्चा करने का सुअवसर मिलता था। श्री गोस्वामी जी के आने का समाचार पाकर हमें उनसे मिलने की उत्सुकता हुई। भाई साहब तो उनसे पहले भी मिल चुके थे, किन्तु शास्त्री जी और मैंने उन्हें कभी न देखा था। मैंने उनकी कुछ पुस्तकें पढ़ी थीं, इतिहास ग्रन्थों में उनके विषय में पढ़ा था, जानता था कि हिंदी उपन्यास मंदिर को नींव देनेवालों में उनका प्रमुख स्थान है, पर मुझे यह विश्वास न था कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गोष्ठी में बैठनेवाला यह व्यक्ति अब भी मौजूद है। पचास से अधिक उपन्यास लिखकर पंडित रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, उपन्यासों का 'अड़ार' लगा देनेवाला, सौ-डेढ़ सौ कहानी, इससे दुगने लेख और बहुत-सी कविताओं के लेखक के दर्शनों की मेरी उत्सुकता को यदि कौतूहल कहा जाए तो अधिक उपयुक्त होगा। छब्बीस जनवरी को भाई साहब और शास्त्री जी के साथ मैं उनके डेरे पर गया। वे उस समय बाबू निरंजनलाल जी भार्गव की कोठी में ठहरे हुए थे।

हम लोग ऊपर के कमरे में गए, जहाँ वे ठहरे थे। रात का समय था, कमरे में बिजली जल रही थी। बीच में एक चारपाई पर मैंने एक वृद्ध सज्जन

को बैठा देखा। यही पंडित किशोरीलाल गोस्वामी थे। सिर पर एक चौगोशिया सफ़ेद टोपी थी, शरीर पर एक हरे रंग की रूईदार मिर्जई। पैरों पर एक दुशाला पड़ा था। भाई साहब के कमरे में पैर रखते ही उन्होंने कहा, "कौन ?"

मुझे यह सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ, क्योंकि इतना मैंने देख लिया था कि वृद्ध महोदय की आँखें खुली हुई हैं। भाई साहब ने अपना नाम बताकर प्रणाम किया। सुनते ही वे चारपाई पर से उतर पड़े और उनके दोनों कंधों को पकड़कर उन्होंने आशीर्वाद दिया और बिठलाया। अब मुझे मालूम हुआ कि गोस्वामी जी की आँख की रोशनी बिलकुल जाती रही है। आँखें तो खुली हुई रहती हैं पर दिखाई उन्हें बिलकुल नहीं पड़ता। इसके पश्चात भाई साहब ने शास्त्री जी का परिचय दिया। शास्त्री जी का नाम सुनते ही उन्होंने उन्हें 'आम्रपाली' कहानी के लेखक के नाम से स्मरण किया और आगे बढ़कर उन्हें छाती से लगा लिया। फिर उनकी कहानियों और लेखों की बड़ाई करने लगे। शास्त्री जी ने बहुत नम्र-भाव से कहा, "महाराज, हम तो आपकी ही क़लम के विद्यार्थी हैं।" इसके पश्चात मेरा परिचय हुआ।

गोस्वामी जी के समय के लेखकों में पारस्परिक स्पर्धा की मात्रा बहुत अधिक थी। हमारी पहली बात-चीत इसी विषय पर हुई; इसके पश्चात साहित्यिक दलबन्दी, सम्मेलन, राजनीति, देश, धर्म, समाज सभी विषयों पर बातें हुई। बातें ऐसी धारा प्रवाह, हास्य, विनोद, व्यंग्य, चुटकुलों के साथ करते थे कि उठने का जी ही न चाहता था। बहुत-से वृद्धों में जो एक आतंक जमानेवाली गम्भीरता या निराशामिश्रित उदासीनता देखने में आती है वह उनमें बिलकुल न थी। ज़िंदादिली तो इतनी थी कि नौजवानों को भी ईर्ष्या हो। इतना ही नहीं, किसी-किसी समय जब वे छोटी से छोटी बात को भी मज़ाक के रूप में कहकर प्रसन्न होते थे तब उनमें बच्चों का-सा भोला सरल स्वभाव भी दृष्टि-गोचर होता था। सम्भवतः इसी विनोदप्रिय स्वभाव के ही कारण वृद्धता उनके जीवन को शुष्क और नीरस न बना सकी थी, हालाँकि आँखों के जाने के कारण उन्हें सदा पराश्रित रहना पड़ता था।

भाई साहब उस समय कहानियों का एक ऐसा संग्रह तैयार कर रहे थे, जिसमें हिंदी के जहाँ तक सम्भव हो सके सभी अच्छे कहानी-लेखकों की वे कहानियाँ हों, जिन्हें वे स्वयं सर्वोत्तम समझते हों। गोस्वामी जी से उन्होंने दो

कहानियाँ माँगी थीं । उन्हें इस समय अपनी सब कहानियों की याद तो थी नही कि बता सकें कि कौन ली जायँ । उन्होंने दो कहानियों का नाम लिया, 'प्रथम चुम्बन' और 'लीला' । साथ ही 'भारतवासी' की फ़ाइलें भी दीं कि इनमें प्रकाशित उनकी कहानियों को हम लोग देखें और यदि कोई उत्तम कहानी मिले तो उन्हें बतायें । मगर उन्होंने इस बात की सख़्त ताकीद कर दी कि ये सब फ़ाइलें बड़े यत्न से रक्खी जायँ और यथासम्भव दूसरे ही दिन लौटा दी जायँ । हमारी पहले दिन की भेंट इस प्रकार समाप्त हुई ।

दूसरे दिन हम लोगों का फिर उनके पास जाने का वायदा था, पर कुछ ऐसा काम आ पड़ा कि भाई साहब और शास्त्री जी न जा सके । 'भारतवासी' की फ़ाइलों को भी मैं न ख़त्म कर सका था । भाई साहब ने मुझसे उनके पास जाकर यह कहने को कहा कि वे फ़ाइलों को दो-एक दिन और हमारे पास रहने दें । साथ-ही-साथ उस दिन न आ सकने के लिए क्षमा चाही थी और दूसरे दिन आने का वादा किया था । मैं उनके पास पहुँचा । जो मैंने यह बात कही तो बड़े नाराज़ हुए । कहने लगे, "आप फ़ौरन जाकर फ़ाइलें लाइए । मैं कल जा रहा हूँ । उन्हें छोड़कर मैं नही जा सकता । मुंशी जी का काम हो गया, अब क्यों आएँगे ।" आदि-आदि । मैं वहाँ से लौटा । मैं तो सचमुच डर गया था । भाई साहब दस बजे रात को लौटे । जब उन्होंने सुना कि गोस्वामी जी नाराज़ हैं तो उसी समय मुझे लिवाकर वहाँ पहुँचे । उन्हें देखते ही उनका क्रोध न जाने कहाँ ग़ायब हो गया, और उस दिन लगभग डेढ़ घंटे तक बात हुई ।

भाई साहब इस समय एक और कहानी-संग्रह निकालने का भी विचार कर रहे थे । इसमें उनकी इच्छा थी कि एक ही प्लाट के ऊपर भिन्न-भिन्न कहानी लेखकों से कहानी लिखवाई जाय । बात-ही-बात में इसकी चर्चा गोस्वामी जी के सामने चली । फ़ौरन कहानी लिखा देने को प्रस्तुत हो गए । कहानी का 'प्लाट' बहुत साधारण न था । अनेक कहानी लेखकों को—और इनमें से कई बहुत प्रसिद्ध हैं—कहानी का प्लाट समझने में दिक़्क़त पड़ी थी । उसकी गुत्थियों को सुलझाने में उन्होंने कितना समय लिया होगा, यह तो वे जानें । गोस्वामी जी के सामने प्लाट कहा गया और उन्होंने दो मिनट के अन्दर कहानी को हल करके हमारे सामने रख दिया । हमें बहुत आश्चर्य हुआ, पर होना न चाहिए था, क्योंकि प्लाट कुछ रोमांटिक था और कदाचित हम हिन्दी के सबसे बड़े रोमांस-

लेखक के सामने बैठे हुए थे। भाई साहब ने मेरी ड्यूटी लगा दी कि मैं गोस्वामी जी के पास हर सुबह हाज़िर होऊँ और जो वे बोलें, लिखता जाऊँ।

फ़ाइलें हम लोग लेते गए थे। उन्हीं की बताई हुई दो कहानियों पर हम लोगों ने संतोष कर लिया। एक कहानी नक़ल हो चुकी थी, एक के लिए 'भारतवासी' के दो नम्बर रख लिए। इसे लौटाने को मैं स्वयं बनारस जानेवाला था, पर अफ़सोस है कि कुछ ऐसी असुविधा होती गई कि गोस्वामी जी के जीवनकाल में उन्हें लौटाने का मौक़ा न मिला। ख़ैर।

दूसरे दिन सवेरे-ही-सवेरे मैं काग़ज़-क़लम से दुरुस्त होकर गोस्वामी जी के यहाँ पहुँच गया। गोस्वामी जी पुरानी चाल के साहित्यिक थे और लिखने को सरस्वती की पूजा समझते थे। उठकर उन्होंने कुछ देर तक ज़ोर-ज़ोर से सरस्वती जी की स्तुति की और फिर काग़ज़-क़लम मांगा। अपने काँपते हाथों से उस पर 'श्री' लिख दी और तब लिखना आरम्भ करने को कहा।

धीमे-धीमे बोलते थे। जो कुछ वे बोलते थे उसे लिखकर मुझे ज़ोर से पढ़ना पड़ता था और तब वे आगे लिखाते थे। एक बार मैंने उनके लिखाए शब्दों को न पढ़कर 'जी' कह दिया।

"जी क्या! हम अन्धे आदमी 'जी' से क्या समझें? पढ़िए पूरा।"

फिर भी, इस 'जी' की ग़लती मैंने कई बार की और हर बार मुझपर डाँट पड़ी। शब्दों को दुहराने के अतिरिक्त हर वाक्य समाप्त होने पर मुझे उसे फिर से पढ़ना पड़ता था, इसी प्रकार 'पैरा' (पाराग्राफ़ को वे 'पैरा' कहा करते थे) ख़त्म होने पर शुरू से फिर सारा 'पैरा' और 'परिच्छेद' ख़त्म होने पर पूरा 'परिच्छेद' पढ़ना पड़ता था। कहानी जिन भागों में विभाजित की जाती है, उन्हें वे 'परिच्छेद' कहते थे। दूसरे परिच्छेद के आगे नया परिच्छेद आरम्भ करने से पहले मुझे शुरू से कहानी फिर पढ़नी पड़ती थी। पढ़ते-पढ़ते पचास पेज की यह कहानी मुझे कंठस्थ हो गई है। सवेरे ही कहानी समाप्त नहीं हो गई। संध्या को भी मैं लिखने गया। उस संध्या को भाई साहब और शास्त्री जी भी आए। जितनी कहानी लिखी जा चुकी थी, गोस्वामी जी ने मुझे पढ़कर सुनाने को कहा। सब लोगों ने कहानी पसन्द की। इसके पश्चात शास्त्री जी ने अपनी 'प्रबुद्ध' शीर्षक कहानी पढ़कर सबको सुनाई। गोस्वामी जी इसको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और एक लम्बी साँस खींचकर बोले, "शास्त्री जी, आपने तो मुझे

दूसरे ही लोक में पहुँचा दिया।" इसके पश्चात शास्त्री जी को बहुत-बहुत आशीर्वाद देते रहे।

तीसरे दिन इसी प्रकार सुबह-शाम लिखकर कहानी समाप्त हुई। वे बराबर कहानी ही न लिखाते रहते थे। बीच-बीच में और-और बहुत-सी बातें करते थे। कुछ तो बड़े मजे की हैं।

एक दिन कहने लगे कि कहानी-लेखक को अपनी कहानी के लिए सदा नए विचार नहीं सूझते रहते। लिखने के लिए कला पर ही न मुनहसर रहना चाहिए, कुछ तरकीब भी जाननी चाहिए। मेरे पास एक 'रजिस्टर' है। जहाँ कोई बात कहानी में लाने योग्य देखी, उसमें टीप दी। कोई समाचार देखा, कोई घटना देखी, टीप दी। वह रजिस्टर किसी को मिल जाय तो फिर लिखे 'कहाना'। 'कहाना' कहकर उन्होंने अपने दोनों हाथ ऊपर की ओर उठाए। इस नए शब्द और उसके अर्थ को सोचकर मारे हँसी के मेरा पेट फूलने लगा।

एक बार पूछ बैठे, "आपने किन-किन विदेशी औपन्यासिकों के ग्रंथ पढ़े हैं?"

मैंने कहा, "डिकेन्स, थैकरे, जार्ज ईलियट, टामस हार्डी, वेल्स, बेनेट, बालज़ाक, तोल्सतोय, आदि।"

बोले, "आपने रोलंड (रेनाल्ड को वे रोलंड कहते थे) साहब को तो पढ़ा ही नहीं।"

मैंने कहा, "महाराज, उसे तो पढ़ने को हमारे प्रोफ़ेसर लोग मना करते हैं।"

बोले, "वाह, वह तो सबसे बड़ा उपन्यास-लेखक हुआ है, उसी को तो पढ़कर मैंने उपन्यास लिखना सीखा, और उसी को तो मैं अपना गुरू मानता हूँ।"

अब मेरी हँसी भला क्यों रुकने लगी, पर बाद में उन्होंने समझाया कि एक समय था जब 'रोलंड' के उपन्यासों (लंदन-रहस्य) का बड़ा ज़ोर था। उस समय पढ़ने का शौक़ रखनेवाला मुश्किल से ऐसा आदमी मिलता, जिसने उसकी किताबों को न पढ़ा हो। उन्होंने जनता की इस रुचि को देखा और उसको हिन्दी के उपन्यासों की ओर खींचने के लिए उसी के समान सनसनी से भरे पेचीले उपन्यासों को हिन्दी जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया। साधारण जनता की रुचि को विदेशी साहित्य से खींचकर देशी साहित्य की ओर ले जाने

का काम कोई साधारण साहित्यिक महत्त्व नहीं रखता। अब मुझे उनके रेनाल्ड को 'गुरू' बनाने का रहस्य मालूम हुआ। चेला बनने के अर्थ हैं गुरू की गद्दी का हक़दार होना। निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य होने के कारण वे इसको ख़ूब समझते थे। रेनाल्ड का चेला बनकर उन्होंने हिंदी जनता के हृदय-सिंहासन से उसे उतारकर स्वयं हक़ जमा लिया।

संस्कृत समालोचकों के मतानुसार दुःखान्त कथाएँ उन्हें पसन्द न थीं। उनके सब कथानक सुखान्त हैं। उन्होंने कहा, "जब मुझे कोई किताब पढ़नी होती है, तब मैं उसके पीछे देखता हूँ। यदि देखता हूँ कि यह दुःखान्त है तो उसे नहीं पढ़ता।" उनका विनोदी मन भला दुःखान्त दृश्य कैसे देख सकता था?

चौथे दिन उनके सम्मान में 'कृष्णकुंज' में भोज हुआ था। उसके सम्बन्ध में भाई साहब ने 'माधुरी' में लिखा है।

इसके बाद भी दो-तीन दिन तक गोस्वामी जी प्रयाग में ठहरे। मैं बराबर उनसे मिलने जाता था। मुझसे वे इस बात से बड़े प्रसन्न थे कि मैंने उनकी कहानी शुद्ध-शुद्ध लिख दी। कहते थे कि अगर आप-सा लेखक मुझे मिले तो मैं अब भी बहुत लिखवाऊँ, मुझे अब भी बहुत-कुछ लिखना बाक़ी है।

भारतेन्दु के कुछ संस्मरण वे लिखना चाहते थे, पर अकृतज्ञ हिंदी जनता से उन्हें कभी इसके लिए प्रोत्साहन न मिला।

मनुष्य अपनी कितनी अपूरित अभिलाषाओं को अपने साथ लेकर चला जाता है, कितनी!

•

१९३२]

समकालीन हिंदी कविता की गति-विधि[1]

हिंदी कविता का रंगमंच इस समय बहुत ही आकर्षक और महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान शताब्दी के आरंभ से लेकर आज तक जिन स्कूलों ने हिंदी कविता को निरूपित अथवा प्रभावित किया है उन सबके प्रतिनिधि हमारे बीच केवल उपस्थित ही नही, सक्रिय भी हैं। वर्णनात्मक शैली के सबसे पुराने और कुशल कलाकार तथा हिंदुत्व की परंपरागत स्थापनाओं के कट्टर पक्षपाती श्री मैथिली शरण गुप्त इस समय सत्तर के लगभग हैं, काव्य में रहस्य तथा स्वच्छंदतावादी आत्माभिव्यक्ति का युग-प्रवर्तन करने वाली 'वृहत्रयी' के एक प्रमुख अंग श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' इस समय साठ के लगभग हैं, अपनी ओज एवं माधुर्यमयी मनीषा, सरल शब्द-योजना तथा तेजोज्ज्वल कल्पना से हिंदी कविता को जन साधारण तक पहुँचाने वाले श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' पचास के लगभग हैं, प्रगतिवादी स्कूल के संभवतः सर्वश्रेष्ठ कवि श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' लगभग चालीस के हैं; और तीस और बीस की अवस्था के बीच ऐसे बहुत-से कवि हैं जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छंद का उपयोग कर रहे हैं; यह और बात है कि उनका गुरु पचास के पेटे में है। ये लोग अपने को प्रयोगवादी कहते हैं और इनके विषय और इनकी प्रतिपादन-शैली के संबंध में किसी प्रकार की भविष्यवाणी करना असंभव है।

हिंदी काव्य संसार इस समय एक पुराने सम्मिलित परिवार के समान है जिसमें कम से कम पाँच पीढ़ियों के लोग एक साथ रह रहे हैं। इनमें से कुछ तो बहुत वृद्ध हैं—आदरास्पद और उदासीन; कुछ वृद्ध हैं जो परिवार के ऊपर अपना रोब-दाब बनाए रखने के लिए ज़ोर लगा रहे हैं, पर साथ ही शायद भीतर ही भीतर यह भी समझते हैं कि शासन की बागडोर अब उनके हाथों से खिसकती जा रही है; कुछ अधेड़ हैं, जो अपने यौवन की उपलब्धियों से

---

१. आकाशवाणी केंद्र, नई दिल्ली के साहित्य समारोह (कविता) १९५६ में पठित।

संतुष्ट, तथा अपने पद एवं प्रतिष्ठा के संबंध में आश्वस्त हैं, और अपने उत्तराधिकारियों को, अपने से छोटा समझते हुए भी, प्रोत्साहन देते रहते हैं; युवकों में कुछ तो परिपक्व हैं जिन्होंने अपनी क्षमता का अंदाजा लगा लिया है और आगे चलकर और बड़ी सफलता प्राप्त करने की आशा रखते हैं, साथ ही वे नए और पुराने के बीच एक प्रकार का सेतु बनाने अथवा बनने के लिए भी प्रयत्नशील हैं, और अंत में है वे उद्धत नवयुवक जो अपनी उफनती हुई शक्ति को संयमित नहीं कर पा रहे है, जिनके सिर पर बग़ावत का भूत सवार है और जो समस्त पुरानी परंपराओ के विरुद्ध ताल ठोककर खड़े हो गए है।

हिंदी कविता कामिनी, अगर हिंदी से यहाँ हमारा तात्पर्य केवल उसके खड़ीबोली रूप से है, तो वह भारत की काव्य-कामिनियों में सबसे छोटी है; भारतेंदु हरिश्चंद्र, जिनकी मृत्यु सन् १८८५ में हुई, अपने गद्य के लिए खड़ीबोली और पद्य रचनाओं के लिए ब्रजभाषा का उपयोग करते थे। आगे चलकर कुछ अधिक सूझ-बूझ के विद्वानों ने यह अनुभव किया कि यह तो एक विचित्र साहित्यिक विपर्यय है कि गद्य के लिए एक प्रकार की बोली का उपयोग किया जाय और पद्य के लिए दूसरी प्रकार की भाषा का। पद्य-रचना के लिए शुरू-शुरू में उन्होंने जो प्रयत्न किए उन्हें देखने से यह लगता है जैसे गद्य ही पद्य के नपे-तुले साँचों में ठूँस-ठाँसकर बिठाल दिया गया है।

सबसे पहली और बड़ी कठिनाई यह थी कि खड़ीबोली हिंदी की कोई साहित्यिक परंपरा नहीं थी। शुरू-शुरू में लेखकों ने हिंदी को जो रूप दिया वह बनावटी था, नक़ली था, परंतु जिस प्रेरणा से वे लोग इस कार्य की ओर अग्रसर हुए थे वह असली थी, स्वाभाविक थी। भारत के नए जागरण को एक नई भाषा की आवश्यकता थी।

हिंदी के प्रारंभिक पद्यकारों की रचनाओ का पढ़ना आज हमारे लिए कष्टकर और निराशाजनक है। लेकिन उनमें एक तत्त्व ऐसा है, जिसकी हम किसी भी हालत में उपेक्षा नही कर सकते। और वह है अपनी भाषा के भविष्य में उनका अदम्य विश्वास। उन्होंने उसे काव्य की सम्यक् संवाहिका बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया; उन्होंने उसकी कड़ी भारत के अतीत की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपरा के साथ जोड़ी; उन्होंने उसके द्वारा भारतीय पुनर्जागरण काल में प्रस्फुटित होनेवाले अनेकानेक विचारों और भावनाओं को

वाणी दी और उसके साथ सब तरह के प्रयोग किए।

इस सदी के दूसरे दशक में हमारी राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं को जो धक्का लगा उसने हमारे कवियों को अंतर्मुखी बना दिया। जब हम भारतीय अपने भीतर खोजना आरंभ करते हैं तब हम वहीं जाकर ठहरते हैं जहाँ हमारे प्राचीन ऋषियों द्वारा आरोपित एवं अभिसिंचित दर्शन का शाश्वत अश्वत्थ खड़ा है। यहीं छायावाद ने आश्रय पाया। हिंदी को विशुद्ध कविता में आबद्ध अपनी आत्मा के दर्शन हो गए।

छायावाद के उत्तराधिकारियों ने कविता को रहस्यवाद की सीमित परिधि से बाहर निकाला। उन्होंने उसे जग-जीवनोन्मुखी बनाया और साधारण मानव के उल्लास-अवसाद, उसकी आशा-निराशा, उसकी आकांक्षा-जिज्ञासा और संवेदना को मुखरित किया।

इनके बाद [illegible] आए। वे अपनी सामाजिक-आर्थिक मान्यताओं से इतने अभिभूत थे कि वे काव्य-कला की उन्नति में कोई सुनिश्चित योगदान न दे सके। परंतु जन-साधारण की ओर से चीज़ों को देखने का एक स्वस्थ दृष्टिकोण उन्होंने अवश्य दिया।

प्रयोगवादियों के विषय में अभी कुछ कहना जल्दबाज़ी होगी। उनके अंदर कभी एक चिन्गारी इधर, कभी एक चिन्गारी उधर फूटती दिखाई पड़ती है, परंतु अभी तक किसी अनवरत जलनेवाली लौ का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया।

जैसाकि मैंने प्रारंभ में कहा था, हिंदी कविता के लगभग सभी स्कूल आज सप्राण और सक्रिय हैं। कविता और जीवन की गति विचित्र होती है। कभी-कभी तो पुराने लोग नयों से ज़रूर बाज़ी मार ले जाते हैं, पर अक्सर नए लोग ही पुरानों को पीछे छोड़ देते हैं। इस प्रकार आज हम हिंदी कविता के भविष्य को बड़े कौतूहल की दृष्टि से देख रहे हैं।

(अंग्रेज़ी से स्वानुवादित)

आधुनिक हिंदी कविता में बुद्ध[1]

जिस समय अपभ्रंश से विकसित होकर हिंदी की बोलियों का आविर्भाव हो रहा था, अर्थात् लगभग बारहवीं सदी के. उस समय तक भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रभाव प्रायः लुप्त हो चुका था। जयदेव ने अपने गीत-गोविंद में दशावतारों की स्तुति करते हुए लिखा :

"निन्दसि यज्ञ विधेरहहश्रुतिजातम्
सदय हृदय-दर्शित पशुघातम्।
केशव ! धृत बुद्ध शरीर, जय जगदीश हरे !"

बुद्ध को अवतार-पद, लगभग छठी सदी के, पुराणों के रचना-काल में मिल चुका था।

वीर-गाथा काल के कवियों का ध्यान बुद्ध अथवा उनकी अहिंसा की ओर जाना असंभव था। भक्ति-काल में नाम, राम, श्याम और गिरिधर ही हृदयों पर छाए रहे। धनुर्धर और वंशीधर में लोग इतने रमे रहे कि पद्मपाणि की ओर उनकी दृष्टि ही न गई। तुलसी की राम-भक्ति व्यक्ति की मुक्ति की साधना मात्र न थी। उसमें उन्होंने समाज का कल्याण भी देखा था। उस भक्ति के सामाजिक रूप में वेद, विप्र, वर्णाश्रम धर्म—सबके प्रति निष्ठा निहित थी। इस कारण उनके विपरीत जानेवालों की उन्होंने कठोर और जोरदार शब्दों मे भर्त्सना भी की। बुद्ध पर भी उन्होंने एक छींट मारी। बुद्ध के अवतार होने की धारणा को तो वे बदल नहीं सकते थे, पर वेद के विरुद्ध उनकी क्रांति पर वे कैसे चुप रहते। 'विनय पत्रिका' में उन्होंने दशावतार की वंदना करते हुए लिखा :

प्रबल-पाखंड-महिमंडलाकुल देखि
निंद्यकृत - अखिल - मखकर्म - जालं।

---

१. आकाशवाणी केंद्र, नई दिल्ली से ३१-५-५६ को प्रसारित; पूर्व लेख १९५९ में संशोधित, परिवर्धित।

शुद्धबोधैक घनज्ञान गुनधाम अज
बुद्ध अवतार बंदे कृपालं ॥"

परंतु दोहावली में, जिसमें तुलसीदास अपने विचारों को अधिक स्वतंत्रता और साहस के साथ व्यक्त करते हैं, उन्होंने कहा :

"अतुलित महिमा वेद की तुलसी किएँ विचार ।
जेहि निदत निदित भयो विदित बुद्ध अवतार ॥"

रीतिकाल के कवियों ने, जहाँ तक मुझे मालूम है, किसी अलकार या रस के उदाहरण के लिए बुद्ध को स्मरण नहीं किया—करुण रस के लिए भी नहीं। खड़ीबोली के प्रादुर्भाव के पूर्व बुद्ध पर हिंदी के किसी बड़े कवि का यही विशेष कथन है कि वेदों की निदा करने के कारण बुद्ध इस देश में निंदित हुए ।

भारतीय नवजागरण के पुरोधाओं में—राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद ने भी बुद्ध से कोई प्रेरणा नहीं ग्रहण की। भारतेंदु की रचनाओं में बुद्ध पर कुछ पाने के लिए चिराग लेकर ढूँढ़ना पड़ेगा । ऋषभ भगवान और पार्श्वनाथ की स्तुति उन्होंने अवश्य की है ।

बुद्ध और बौद्ध धर्म में फिर से अभिरुचि जगाने का श्रेय १९वीं सदी की बहुमुखी योरोपीय जिज्ञासा को है। एक ओर अजंता, साँची, सारनाथ, कुशीनगर की खोज हुई तो दूसरी ओर बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद अंग्रेजी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में हुए । अंग्रेजों की सृजनशील प्रतिभा ने 'लाइट आफ़ एशिया' काव्य ग्रथ को जन्म दिया । भारतीय पुनरुत्थान का स्वप्न देखनेवालों में न जाने कितनों को इस काव्य से यह स्वाभिमान हुआ होगा कि एशिया को दीप्तमान करनेवाला यह सूर्य भारत में ही उदित हुआ था। श्री जवाहरलाल जी ने लिखा है, "Edwin Arnold's *Light of Asia* became one of my favourite books..." (एडविन आरनल्ड की 'लाइट आफ़ एशिया' को मैंने अपनी प्रिय पुस्तकों में स्थान दिया) महात्मा गांधी ने लिखा, "I read it with even greater interest than I did the *Bhagwadgita*, once I had begun it I could not leave off." (जितनी रुचि से मैंने भगवद्गीता पढ़ी थी उससे भी अधिक रुचि से मैंने यह पुस्तक पढ़ी, एक वार आरंभ करने पर मैं इसे बिना समाप्त किए न छोड़ सका।) आचार्य रामचद्र शुक्ल ने इसी 'लाइट आफ़

एशिया' के आधार पर ब्रजभाषा में 'बुद्ध-चरित' नामक काव्य लिखा। हिंदी में इससे पूर्व बुद्ध पर इतनी मधुर और सरस रचना नहीं हुई थी। बुद्ध जो प्रतिज्ञा करके घर से वन के लिए निकले थे उसे शुक्ल जी के शब्दों में सुनिए :

"होहु साक्षी आज गगन के सारे तारे,
और भूमि जो दबी भार सों आज पुकारे,
त्यागत हौं मैं आज आपनो यह यौवन, धन,
राजपाट, सुख भोग, बंधु, बांधव औ परिजन,
सबसों बढ़ि भुजपाश, प्रिये, तव तजत मनोहर,
तजिबो जाको या जग में है सबसों दुष्कर।
हे पत्नी, शिशु, पिता और मेरे प्रिय पुरजन,
कछुक दिवस सहि लेहु दुःख जो परिहै या छन,
जासों निर्मल ज्योति जगै सो अति उजियारी,
लहैं धर्म को मार्ग सकल जग के नर नारी;
अब यह दृढ़ संकल्प, आज सब तजि मैं जैहौं,
जब लौं मिलि है नाहि तत्त्व सो, नहि फिरि ऐहौं।"

खड़ीबोली में सर्वप्रथम जो श्रद्धापूर्ण स्वर बुद्ध के लिए निकले वे संभवतः श्री मैथिलीशरण गुप्त के थे। 'भारत भारती' में देश के अतीत गौरव को गाते हुए यह असंभव था कि उनका ध्यान बुद्ध की ओर न जाता। वैदिक धर्म जब पशुबलि-यज्ञों में विकृत हो गया तब :

"हिंसा बढ़ी ऐसी कि मानव दानवों से बढ़ गए,
भू से न भार सहा गया, अविचार ऊपर चढ़ गए।
सहसा हमारा यह पतन देखा न प्रभु से भी गया,
तब शाक्य मुनि के रूप में प्रकटी दयामय की दया।"

हिंदी में बुद्ध के ऊपर सर्वप्रथम स्वतंत्र और मौलिक कविता— मैं तो उसे गीत भी कहना ठीक समझूँगा - श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखी जो उनके 'पंचपात्र' में संगृहीत है। कविता एक प्रकार की व्याजस्तुति है और बख्शी जी की अन्य रचनाओं के अनुरूप सरल-साफ़ भाषा और विचार-प्रधान शैली में लिखी गई है :

"भगवन्, यह कैसी है रीति।
तुम हो यतिवर, ऐसी हमको
होती नहीं प्रतीति।
कपिलवस्तु था क्षुद्र, हो गया
वह तो तुमको त्याज्य।
किया प्रतिष्ठित अखिल विश्व में
आज अचल साम्राज्य।।
प्रणयी जन थे अल्प, छोड़ दी
तुमने उनकी प्रीति,
जोड़ लिया सम्बन्ध जगत से
यह क्या नहीं अनीति?
थी विरक्ति तो हुआ तुम्हारा
जग से क्यों अनुराग?
जग-सेवा कर सेव्य हो गए
यह कैसा है त्याग?
छूट गए तुम भव-बंधन से
यह केवल उपहास।
मानव-हृदय हुआ बंदीगृह,
वही तुम्हारा वास।"

छायावादी कवियों में संभवत: जयशंकर प्रसाद ने सर्वप्रथम बुद्ध को भावना-भरे हृदय से स्मरण किया। भारतीय संस्कृति का इतिहास, जिसके वे सूक्ष्म विद्यार्थी थे, बिना बुद्ध के कैसे पूर्ण हो सकता था। फिर बनारस में ही बैठे हुए—अब वाराणसी कहना चाहिए—वे कैसे भूल सकते थे कि उनके नगर से कुछ ही दूर पर बुद्ध ने अपना उपदेश दिया था। वरुणा की कछार पर लिखते हुए उन्होंने कहा:

"छोड़कर पार्थिव भोग विभूति,
प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार,
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य,
पुत्र का शैशव सुलभ दुलार,

दुःख का करके सत्य निदान,
प्राणियों का करने उद्धार,
सुनाने आरण्यक संवाद
तथागत आया तेरे द्वार
अरी वरुणा की शांत कछार,
तपस्वी आया तेरे द्वार।"

भारतीय बुद्धि-जीवियों में धीरे-धीरे बुद्ध की पुनरस्थापना हो रही थी, परंतु जिस दिन इस देश की कोटि-कोटि जनता ने एक स्वर से मोहनदास कर्मचंद गांधी को महात्मा गांधी कहकर उनका जय-जयकार किया उस दिन बुद्ध की स्मृति जैसे साकार हो उठी। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि देश जिस समय असहयोग और सत्याग्रह के आंदोलनों में जूझ रहा था, उस समय छाया-वादी कवि अनंत और असीम के गीत गा रहे थे। शायद इसमें बहुत कुछ सच भी है। इसके अपवादस्वरूप मैं श्रीमती महादेवी वर्मा की १९३४ में प्रकाशित कुछ पंक्तियाँ रखना चाहूँगा। महादेवी जी लिखती हैं :

"जाग बेसुध जाग।
अश्रुकण से उर सजाया त्याग हीरक हार,
भीख दुख की माँगने फिर जो गया प्रतिद्वार,
शूल जिसने फूल छू चंदन किया; संताप;
सुन जगाती है उसी सिद्धार्थ की पदचाप।"

और किसी दिन मैं महादेवी जी से पूछना चाहूँगा कि यह पदचाप क्या आपको डांडी की ओर बढ़ते हुए महात्मा गांधी के चरणों से नहीं आई थी ?

इसी समय के लगभग जब श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'बुद्धदेव' पर कविता लिखी, तब उसके पीछे महात्मा गांधी के दलितोद्धार की प्रेरणा स्पष्ट थी। कविता के अंत में वे कहते हैं :

"जागो विप्लव के वाक् ! दम्भियों के इन अत्याचारों से,
जागो हे जागो, तप-निधान ! दलितों के हाहाकारों से !
जागो हे गांधी पर किए गए मानव-पशुओं के वारों से,
जागो मैत्री-निर्घोष ! आज व्यापक-युगधर्म पुकारों से।

जागो, गौतम ! जागो महान !
जागो, अतीत के क्रांति-गान ?
जागो जगती के धर्म तत्त्व !
जागो हे ! जागो बोधिसत्त्व !"

१९३६ में श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' प्रकाशित हुई। काव्य की उपेक्षिता उर्मिला ने साकेत के गवाक्ष से यशोधरा की ओर संकेत किया था। देश की कितनी अज्ञात यशोधराओं ने अपने पतियों को जेलों, गोली की बौछारों, फाँसी के तख़्तों पर भेजकर कहा होगा :

"जाओ नाथ अमृत लाओ तुम मुझमें मेरा पानी,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी,
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी,
कहाँ तुम्हारी गुणगाथा में मेरी करुण कहानी।"

इस प्रकार बुद्ध का प्रतीक जीवन की परिस्थितियों में सार्थक हो रहा था।

१९४० के लगभग श्री सोहनलाल द्विवेदी की मुक्त छंद में लिखी 'वासवदत्ता' नामक कविता बहुत लोकप्रिय हुई। इसमें भगवान बुद्ध एक वेश्या का आत्म-समर्पण ठुकरा देते हैं, पर जब वह रुग्ण, गलित-पलित हो जाती है तब उसे अपनी करुणा का वरदान देने के लिए स्वयं चलकर उसके द्वार पर आते हैं :

"करुणामय विलोक उस शोक-युक्त रमणी को,
काँप उठे करुणा से,
पिघल उठे दुःख से।
गौतम ने अपने पुण्य पाणि से
फफोलों पर, छालों पर, घाव पर, पीव पर,
शीतल जल छिड़का,
निज हाथ से धोया उसे
जी-सी उठी मृत-हत वासवदत्ता तुरंत,
देखने लगी सतृष्ण गौतम की मूर्ति को
सेवा की स्फूर्ति को।

बोले तथागत,
'यह आया हूँ आज देवि,
आज अनिवार्य था आना यहाँ मेरा यह।'
कंठ भर आया,
वासवदत्ता नत चरणों में
मस्तक धर,
हृदय धर,
जीवन धर,
प्राण धर,
जड़-सी बनी बैठी रही,
बोल कुछ पाई नहीं,
अर्चना अचल बनी,
वेदना सफल बनी,
हो गई मौन, कह पाई कुछ बात नहीं।"

यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता पर आधारित है पर उसमें कवीन्द्र ने बुद्ध के स्थान पर उपगुप्त भिक्षु को रखा है जिससे काव्य प्रसंग अधिक मर्यादित प्रतीत होता है।

सिद्धार्थ को लेकर हिंदी में पहला महाकाव्य श्री अनूप शर्मा ने अभी कुछ ही दिन हुए प्रस्तुत किया है। शर्मा जी हिंदी के उन कवियों में हैं जिन्होंने खड़ीबोली को ब्रजभाषा के कवित्तों और संस्कृत के वर्णवृत्तों में बहुत सफलता से ढाला है। महाकाव्य के नायक के प्रति कवि की जो आस्था-निष्ठा होनी चाहिए, जैसी कि तुलसी की राम के प्रति है, उसकी प्रत्याशा 'सिद्धार्थ' में न करनी चाहिए। शर्मा जी गौतम के संबोध का प्रभाव इस प्रकार वर्णन करते हैं :

"पाई संसृति ने मनोजजित से, निर्वाण की संपदा,
प्राची में उदिता उषा छवि हुई, फैली प्रभा भूमि पै,
आया वासर दिव्य, सत्य रवि ने मेटी मृषा यामिनी,
मानो श्री भगवान की विजय की थी घोषणा हो रही"

स्वतंत्रता के पश्चात धर्मचक्र हमारी पताका पर है, सरकारी मुहर पर

अशोकस्तंभ के सिंह हैं, हमने परम वीरता के पदक का नाम अशोक चक्र रखा है। बुद्ध के पंचशील को नया रूप देकर हमारे प्रधान मंत्री ने उसे अंतर्राष्ट्रीय शांति का मूल मंत्र बना दिया है। सारिपुत्त और महामोगल्लान की अस्थियों का हमने राष्ट्रीय निधि के रूप में स्वागत किया है। तीन वर्ष पूर्व हमने बुद्ध परिनिर्वाण का ढाई हजारवाँ वर्ष राजकीय स्तर पर मनाया है। आगामी युद्ध की विभीषिका से आतंकित लोग स्वाभाविक ही आज शांति के अवतार बुद्ध की ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं। इन सब कारणों से बुद्ध आज हमारी भावना के संसार में दृढ़ चरण रखते हुए प्रविष्ट हो रहे हैं। निराला जी के शब्दों में :

"सत्य वाणी के मंदिर,
जैसे उतरे थे तुम, उतर रहे हो फिर-फिर
मानव के मन में—जैसे जीवन में निश्चित
विमुख भोग से, राजकुँवर, त्यागकर, सर्वस्थित
एक मात्र सत्य के लिए, रूढ़ि से विमुख, रत
कठिन तपस्या में, पहुँचे लक्ष्य को तथागत।"

धृष्टता क्षमा हो तो मैं एक अपनी रचना की भी चर्चा कर दूँ। छः वर्ष पूर्व केम्ब्रिज में मैंने 'बुद्ध और नाचघर' शीर्षक कविता लिखी थी, जो प्रकाशित हो चुकी है। कविता बुद्ध पर व्यंग्य नही, संसार पर है। निरपराध जानते हुए भी, पड़ोसी के आरोप लगाने पर और प्रायः उसी पर अपना क्रोध प्रकट करने के लिए मां कभी-कभी अपने बच्चे को ही पीटने लगती है।

बुद्ध परिनिर्वाण जयंती पर हिंदी के अनेकानेक कवियों ने श्रद्धांजलि के रूप में रचनाएँ प्रस्तुत कीं और इनमें से कई सुंदर बन पड़ी हैं। मुझे इनमें सर्वश्रेष्ठ कविता मुक्त छंद में लिखी श्री वीरेन्द्रकुमार जैन की लगी 'मेरे प्रणाम लो, मेरी चुनौती लो, हे भगवान अमिताभ' जो धर्मयुग के तीन अंकों में प्रकाशित हुई। इसे स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कर दिया जाय तो बड़ा अच्छा रहेगा।

इस लेख की परिसमाप्ति मैं श्री सुमित्रानंदन पंत लिखित एक कविता से करना चाहता हूँ। इसका शीर्षक है 'बुद्ध के प्रति,' जो 'वाणी' में संगृहीत है और संभवतः १९५७ में लिखी गई थी। जयंती के समय बुद्ध के प्रति स्तुति,

श्रद्धा, भक्ति की जो बाढ़ आई थी उसके शांत हो जाने पर, पंत जी ने तटस्थ होकर बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव, विकास, ह्रास पर विचार किया है और बुद्ध की करुणा के प्रति आदर दिखलाकर भी उनके शून्य और क्षणवादी सिद्धांतों का विरोध किया है और भविष्य में संसार के लिए उन्हें कल्याणकारी नहीं माना। इस कविता में विश्लेषण की जो सफ़ाई, मूल हिंदू सिद्धांतों के प्रति जो आस्था और उन्हें प्रतिपादित करने में जो मर्यादित निर्भीकता पंत जी ने दिखाई है उसके लिए उन्हें बधाई दी जानी चाहिए। वे कहते हैं कि बुद्ध के शून्यवाद और क्षणिकवाद क्या थे :

"शून्यवाद, जड़ क्षणिकवाद ने
घेर लिया जन-मन गगनांगण,
रिक्तवारि, सिकता रज के घन
दुर्लभ चातक हित जीवन कण !"

उनसे शांति पाने की आशा ऐसी ही थी जैसे रेत के अंधड़ मे पानी की बूँद पाने की आशा।

"उपनिषदों का शाश्वत दर्पण
जिस भारत का रहा शुभ्र मन,
वहाँ निषेध कलुष घुस आए,
मैं प्राय: करता था चिंतन !"

और इस निषेधात्मक दर्शन का प्रभाव क्या पड़ा :

"अकथनीय क्षति हुई देश की
उस युग के जीवन वर्जन से,
जीवन अस्वीकृति से निष्कृति
निष्कृति हो गत अध: पतन से !"

पंत जी कहते हैं कि जीवन को अस्वीकार करने पर करुणा भी मंगलपथ का सृजन नहीं कर सकती :

"मध्यमार्ग रत बोधिसत्त्व थे
लोक श्रेय हित अविरत तत्पर,
अंग न थे भू पर जीवन के
थे केवल करुणाहत अंतर !

इसीलिए सेवा करुणा व्रत
बन न सके जीवन मंगल पथ,
भूनिर्माण उसी से संभव
जो जीवन कर्दम में भी रत !"

आगे चलकर पंत जी का स्वर और दृढ़ होता है, वे कहते हैं :

"जड़ से चेतन, जीवन से मन,
जग से ईश्वर को वियुक्त कर
जिस चिंतक ने भी युग दर्शन
दिया भ्रांतिवश जन मन दुस्तर,
किया अमंगल उसने भू का
अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन,
जड़ चेतन, जीवन मन आत्मा
एक, अखंड, अभेद्य संचरण !"

तो क्या जो 'युग-दर्शन' बुद्ध ने दिया वह अमंगलकर था, केवल अर्ध सत्य था, अंधकारपूर्ण था ? कवि के मन में तनिक भी संदेह नहीं है। जिन्होंने उन्हे Light of Asia कहा है, उन पर भी व्यंग्य करते हुए वह कहता है :

"ह्रास विकास युगों का होता,
मानव मन भव गति का दर्पण,
क्षमा, एशिया के प्रकाश, उस
युग ने शुभ्र किया तम विकिरण !"

बुद्ध के व्यक्तित्व की स्तुति करते हुए भी यह बौद्धदर्शन का विरोध है। तुलसी का स्वर थोड़े परिवर्तन के साथ फिर से प्रतिध्वनित हो रहा है :

"अतुलित महिमा वेद की तुलसी किएँ विचार,
जेहि निंदत निंदित भयो विदित बुद्ध अवतार॥"

उपनिषदों ने सत्, चित्, आनंद को आदि सत्य माना था। बुद्ध ने इन्हीं को उलटकर सब्बा दुःखा, सब्बा अनिक्का, सब्बा अनत्ता किया। और हिंदुत्व को सदियों तक संघर्ष करके इसको पराजित करना पड़ा। पंत जी की कविता जैसे हमें आगाह करती है कि बुद्ध की करुणा और उनके वैयक्तिक आकर्षण में कहीं हम फिर उनके निषेधात्मक दर्शन की ओर न झुक जाएँ, क्योंकि ऐसा

होने से देश की 'अकथनीय क्षति' होगी :

"आज नहीं वह उद्यत जाग्रत
जो जड़ चेतन द्वंदों में रत
शुद्ध बुद्ध चैतन्य नहीं वह
जो जन भू जीवन से उपरत !

×

अंतः स्वर्णिम नव चेतन में
आज प्रवृत्ति निवृत्ति समन्वित,
वहाँ बुद्ध अंतस्थित निश्चित
जो जन भू जीवन में भी स्थित !"

आधुनिक हिंदी कविता में राष्ट्रीय भावना[1]

पिछले सितंबर में, रोम में, एक प्रीतिभोज में इटली के वयोवृद्ध कवि प्रोफ़ेसर अंगारेटी मुझसे कह रहे थे, "आधुनिक समय में जिस बात ने योरोप-निवासियों का ध्यान भारतवर्ष की ओर आकर्षित किया वह थी उसकी स्वतंत्रता की लड़ाई, स्वतंत्रता की प्राप्ति, और वह भी केवल नैतिकता के बल पर। आज योरोप के विचारकों और विद्वानों के मन में इस बात की जिज्ञासा है कि इस राजनीतिक आंदोलन के पीछे कौन-सी सांस्कृतिक, साहित्यिक हलचलें थीं जिन्होंने इस नैतिकता को पुष्ट किया। हमारा ऐसा विश्वास है कि यह नैतिकता केवल राजनीतिक नेताओं के जोशीले भाषणों अथवा नारे-बाज़ियों से न तो जनता में जगाई जा सकती थी और न उसको प्रभावकारी ही बनाया जा सकता था।" प्रोफ़ेसर अंगारेटी की बात सुनकर मुझे कुछ ही दिन पहले बेल्जियम में अंतर्राष्ट्रीय काव्य-समारोह में दिए गए एक भाषण का स्मरण हो आया। समाज में काव्य का स्थान क्या है ? इस विषय पर बोलते हुए फ्रांस के नवयुवक कवि इमैनुएल ने गरजकर कहा था, "हिटलर के दानवी बूटों से दबे हुए फ्रांस को किसने मुक्ति दिलाई ? मार्शल पेताँ की कूटनीति ने ? इंग्लैंड के टैंकों ने ? अमरीका के बममारों ने ? नहीं ! नहीं ! नहीं ! फ्रांस को मुक्ति दिलाई रेसिस्तांस (विरोध) आंदोलन ने।" जिस समय जर्मनी की दुर्द्धर्ष और दुर्निवार सेनाओं ने फ्रांस पर आक्रमण करके उसकी स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया, और उसके राजनीतिज्ञों ने हिटलर के आगे अपनी रीढ़ें झुका दीं, उस समय उसके कवियों ने एक रेसिस्तांस आंदोलन चलाया। कविगण उत्तेजना-पूर्ण कविताएँ लिखते, रातों जगकर अपने हाथों से उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार करते और डबलरोटियों में रखकर, सिगरेट के डिब्बों में छिपाकर उन्हें घर-घर पहुँचाते। फ्रांस उस समय तक पराजित नहीं हो सकता जिस समय तक उसके

---

१. दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित गोष्ठी में पठित—१९६०

कवियों की क़लम की स्याही नहीं सूखती। कठिन-से-कठिन समय में न फ्रांस के कवि की क़लम रुकी न उसकी स्याही सूखी। और आज वे दावा करते हैं कि उन्होंने फ्रांस को मुक्त किया। जिस समय इमैनुएल ने यह बात कही थी, सारा हाल तालियों की गड़गड़ाहट में डूब गया था। इधर आज़ादी मिलने के बाद भारत के कवियों ने सारा श्रेय अपने देश के नेताओं को दे दिया, या यों कहिए, नेताओं ने खुद ही ले लिया। हालांकि स्वर्गीय डा० बड़थ्वाल ने एक बार प्रयाग में भाषण देते हुए कहा था कि इस देश को जगाने में महात्मा गांधी ने जितना काम किया है उससे कम काम 'भारत-भारती' ने नहीं किया। इस कारण जब मुझे यह समाचार मिला कि दिल्ली विश्वविद्यालय एक ऐसी गोष्ठी की योजना कर रहा है जिसमें आधुनिक भारतीय कविता में राष्ट्रीय भावना का विवेचन किया जाएगा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और गोष्ठी का यह निमंत्रण मैंने सहर्ष स्वीकार किया कि आधुनिक हिंदी कविता की राष्ट्रीय प्रवृत्ति पर मैं अपने विचार आपके सामने रक्खूं।

बिना मूल के न किसी वृक्ष में पत्ते लगते हैं और न बिना परंपरा के कोई प्रवृत्ति प्रस्फुटित और विकसित होती है। हमारा देश बहुत ही प्राचीन है और इसका इतिहास बहुत जटिल है। ऐसा मैंने विद्वानों से सुना है कि हमारे प्राचीन-तम ग्रंथ वेद में भी मातृभूमि की वंदना की गई है। वेद मैंने नहीं पढ़े। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त के कुछ मंत्रों का अनुवाद अपने ग्रंथ 'माता भूमि' में दिया है। जो पृथ्वी हमें अन्न-जल देकर हमारा पालन-पोषण करती है वह हमारी माता के समान है और उसके प्रति हमारे कर्तव्य पुत्र के समान होने चाहिए, आदि-आदि। मैंने और भी कहीं पढ़ा है—अनुवादों से ही—कि वेदों में दासता के विरुद्ध भी आवाज़ उठाई गई है। उसको हर प्रकार बुरा कहा गया है, उसका हर प्रकार अमंगल चाहा गया है—'यो अस्माकम् अभिदास्यसि'—जो हमको दास बनाना चाहे। इस प्रकार हम देखते कि राष्ट्रीय भावना की जड़ हमारी जाति में बहुत पुरानी है।

हमारे महाकाव्यों और पुराणों में भी चक्रवर्ती राज्य और राजसूय यज्ञ की कल्पना इस देश की अखंडता यदि सिद्ध नहीं करती तो कम-से-कम इस आदर्श के प्रति हमारी अटूट आस्था तो अवश्य ही व्यक्त करती है। हमारे धार्मिक संकल्पों में पुरोहितगण न जाने कितनी शताब्दियों से सिंधु, गंगा, जमुना, ब्रह्म-

पुत्र, गोदावरी, कावेरी को एक साथ स्मरण करते आए हैं। राजाओं के बल-विक्रम का इसे सबसे बड़ा सबूत माना गया कि उनका राज्य उत्तरी पर्वत से दक्षिणी समुद्र तक है। इसमें चाटुकारिता और अतिशयोक्ति हो, तो भी इस देश को एक, और अखंड देखने की हमारी लालसा की पुष्टि होती है। शायद इस देश की विविधता और विशालता हमारी इस लालसा पर सदा से व्यंग्य करती आई है, फिर भी हमारा इससे चिपके रहना बेमानी नहीं है। भारत के कई टुकड़े हो जाने पर भी अखंड भारत की आवाज़ आज भी हमारे कानों में पड़ती है। इसी प्रकार हमारे राजाओं की प्रशस्तियों का सदा ही यह मुख्य अंग रहा है कि उन्होंने फ़लाँ बाहरी जाति अथवा सेना को देश में प्रवेश न करने दिया या उसे मार भगाया—जैसे शकारि आदि।

परंपराएँ पुनरुक्तियों से परिपुष्ट और ताज़ी बनी रहती है। मौर्य और गुप्त साम्राज्यों के बाद, मेरी ऐसी धारणा है कि, वे सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ जो भारत की एकता, अखंडता और आक्रमण-विरोध की भावना को जगाए रखती थीं, क्षीण पड़ने लगीं, जिसके फलस्वरूप यह विशाल देश छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। फिर भी भारतीय मनीषा अपनी पाचन-शक्ति से, बाहर से आनेवाली जातियों को अपना अंग बनाती रही।

मुसलमानों ने जब इस देश पर आक्रमण किया, उस समय यह पाचन-शक्ति भी समाप्त हो गई थी। मुसलमानों की विजय के अनेक कारण इतिहास-वेत्ता देते हैं। पर सबसे बड़ा कारण यह था कि इस देश के कंठ में स्वर लुप्त हो चुका था। लगभग हज़ार वर्षों के संघर्ष, जय-पराजय के काल में किसी कवि के मुख से ऐसी वाणी नहीं निकली कि सारे देश को हड़हड़ा दे। यह सत्य है कि मुसलमान राजाओं ने एक भी दिन इस देश में इस प्रकार राज्य नहीं किया कि उन्हें कहीं-न-कहीं से विद्रोह की आग, किसी-न-किसी रूप में उठती न दिखाई दे। पर आग तभी सफल होती है, जब उसके साथ राग भी हो। और जिस दिन यह राग उठा उस दिन इस देश में मुस्लिम राजसत्ता का सूर्य अस्त हो गया :

"इंद्र जिमि जंभ पर वाडव सुअंभ पर रावण सदंभ पर
रघुकुल राज है।

पौन वारिवाह पर, संभु रति नाह पर, ज्यों सहस्रबाहु पर
राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग झुंड पर, भूषण बितुंड पर
जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर, त्यों मलेच्छ वंस पर
सेर सिवराज है।

भूषण ने जिस दिन यह कविता लिखी थी उसी दिन औरंगज़ेब की भाग्य-लक्ष्मी कूच कर गई थी। मुग़लों के सिंहासन को उलटने में शिवाजी की तलवार ने जितना काम किया था, उससे कम काम भूषण की लेखनी ने नहीं किया था।

मुसलमान इस देश में ढोल बजाकर, झंडे लहराकर, तलवार निकालकर आए। अंग्रेज़ों ने इस देश में तिजारत के चोर-दरवाज़े से प्रवेश किया। हिंदू अभी मुस्लिम राज्य के पतन पर मोद ही मना रहे थे कि दोनों ने ही अपने को एक तीसरे के जाल में फँसा पाया। मुसलमानी राज्य-खंडों के पतन पर हिंदुओं के, और हिंदुओं के सद्यः प्रतिष्ठित राज्यों के पतन पर मुसलमानों के, दिल में अंदर-ही-अंदर किसी प्रकार के संतोष की भावना न होती तो अंग्रेज़ों के लिए इस सारे देश को इतनी सरलता से अपने कब्ज़े में कर लेना संभव न होता। ऐतिहासिक विभेदों को मन में बसाए हुए भी अब दोनों जातियों में मिलकर तीसरे को यहाँ से हटाने की भावना जागी। १८५७ का विद्रोह हुआ। पर सफलता नहीं मिली। यहाँ भी मुख्य कारण था—आग थी, राग नहीं था। तोपें गड़गड़ाईं, तलवारें झनझनाईं, लेकिन कंठों की वह ललकार नहीं थी जो जन-मानस को उत्तेजित और उल्लसित करे। बहुत खोज-बीन करने पर भी ग़दर-संबंधी कोई ऐसी कविता नहीं मिली, जिसमें जान हो।

इस दृष्टि से १९वीं शताब्दी के मध्य में एक सर्वभारतीय लोक भाषा की आवश्यकता का अनुभव, उसको पदस्थ एवं विकसित करने के प्रयत्न को जितनी भी ऐतिहासिक महत्ता दी जाय, कम है। जिस दिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यह कहा था :

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल"

उस दिन उन्होंने इस देश के महारोग के लिए संजीवनी बूटी दे दी थी। भारतेन्दु

के एक दूसरे वरदान की ओर भी विद्वानों ने प्राय: ध्यान दिलाया है। उन्होंने कविता के क्षेत्र को व्यापक बनाया। पर मैं तो यही समझता हूँ कि मुख में जीभ पाते ही यह देश अपने अतीत, वर्तमान, भविष्य—अतीत के गौरव, वर्तमान के असंतोष और भविष्य के स्वप्नों को मुखरित करने लगा। इस प्रकार खड़ीबोली हिंदी की सारी कविता, सारा साहित्य एक व्यापक राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है। हिंदी के आंदोलन को समझने में प्राय: ग़लती इस कारण हुई है कि उसे केवल भाषा का आंदोलन समझा गया है; वास्तव में वह भारतीय संस्कृति और भारतीय राष्ट्रीयता का आंदोलन है और इसी रूप में देखने से उसका पूर्ण महत्त्व प्रकट हो सकेगा।

जब जातियों का पुनरुत्थान होता है, तब वे सदा ही अपने अतीत की ओर देखती हैं, वर्तमान से उसकी तुलना करती हैं और उससे जो वेदना उत्पन्न होती है, उससे भविष्य के निर्माण के लिए प्रेरणा लेती हैं।

"रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई
हा हा! भारत दुर्दशा देखी न जाई।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो
सबके पहिले विद्या फल निज गहि लीनो
अब सबके पीछे सोई परत लखाई!
हा हा! भारत दुर्दशा देखी न जाई।"

× ×

"जागो, जागो रे भाई!
सोअत निसि बैस गँवाई। जागो, जागो रे भाई।
निसि की कौन कहै दिन बीत्यौ कालराति चली आई।
देखि परत नहिं हित अनहित कछु परे बैरि बस आई।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई।
अबहूँ चेति पकरि राखौ किन जो कछु बची बड़ाई।
फिर पछिताए कुछ नहीं ह्वै है रहि जैहौ मुँह बाई!'

× ×

"चलहु बीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रनरंग जमाओ।
परिकर कसि कटि उठहु धनुष पै धर सर साधौ।
केसरिया बानो सजि-सजि रन कंगन बाँधौ।" आदि।

इसमें संदेह नहीं कि भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियों के स्वर में भारत के पुनर्जागरण की हलचल है, अपने चारों ओर के जीवन से असंतोष है, उसे बदलने के लिए कुछ करने, कुछ उत्साह जगाने की उद्दाम कामना है, परंतु उसमें एक संकीर्णता भी है। वे अपनी बात समस्त राष्ट्र से नहीं कह रहे हैं, उसके एक वर्ग से कह रहे हैं। इस संकीर्णता के ऊपर न उठ सकने के कई कारण भी हैं। प्रायः किसी कवि की वाणी इस बात से प्रभावित होती है कि उसके पाठक और श्रोता कौन हैं, वह किसके लिए लिख रहा है। क्या यह बताने की आवश्यकता है कि हिंदी उस समय कौन पढ़ता था! फिर भी उस संकीर्णता के कारण बहुत कुछ ऐसा लिखा गया है जो साँप के निकल जाने पर बाँबी पीटने के समान है।

१८५७ के विद्रोह के बाद भी और उसके तीस वर्ष बाद देश के राज-नीतिज्ञों द्वारा इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की जाने के बाद भी, इस देश के दो प्रमुख वर्गों—हिंदुओं और मुसलमानों—की सांस्कृतिक और साहित्यिक हलचलें अलग-अलग माध्यम से, अलग-अलग दिशाओं में चलती रहीं। कांग्रेस के राष्ट्रीय दृष्टिकोण का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक आंदोलन इस देश में सफल नहीं हो सका। शायद उसकी महत्ता को राजनीतिज्ञों ने समय से नहीं समझा और उसका जो परिणाम हुआ वह सबको विदित है। क्या कोई ऐसा मुसलमान पैदा किया जा सकता था जो वेदों से लेकर मुसलमानों के आक्रमण तक की भारतीय संस्कृति को अपनी समझ कर उस पर गर्व करे? क्या कोई ऐसा हिंदू पैदा किया जा सकता था जो मुसलमानों द्वारा इस देश की पराजय की स्मृति से क्षुब्ध न हो? ऐसी दशा में ऐसा स्वर उठना, उसका गूँजना और आज तक उसका सर्वथा समाप्त न होना कुछ अर्थ रखता है:

"चहहु जु साँचौ निज कल्यान। तो सब मिलि भारत संतान।
जपौ निरंतर एक ज़बान। हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान।"

(प्रताप नारायण मिश्र)

कुछ लोगों ने 'भारत संतान' की आड़ लेकर और 'हिंदू' से इंडियन का अर्थ लगाकर, जिस अर्थ में 'हिंदू' शब्द का प्रयोग भारत के बाहर बहुत जगहों पर होता है, इन पंक्तियों को व्यापक और उदार बताना चाहा है। यह सच्चाई से आँख चुराना है। हिंदी की राष्ट्रीयता हिंदू थी; उसने उत्तरोत्तर व्यापक और उदार होने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर हिंदुत्व से वह अपने को सर्वथा मुक्त कर सकती है, इसमें मुझे संदेह है। साथ-ही-साथ मेरा विश्वास यह भी है कि भविष्य में, हो सकता है सुदूर भविष्य में, राष्ट्रीयता की भावना, मानवता की भावना में विलीन हो जायगी, और तभी उसे इन संकुचित वर्गीय विशेषणों से मुक्ति मिलेगी।

हिंदी की संकीर्ण हिंदू राष्ट्रीयता बहुत दिनों तक नहीं चली। बाँबी पीटना बेकार था। मुसलमान आक्रमणकारी बनकर आए थे, पर वे भी हिंदुओं के समान अंग्रेज़ों के गुलाम थे, हिंद की प्रजा के अंग थे। उनसे विरोध करने से अंग्रेज़ी शासन की जड़ें ही मज़बूत होती थीं, उनसे मेल कर नए विदेशी को देश से हटाया जा सकता था। इतिहास बदला नहीं जा सकता, पर आगे के लिए सचेत रहा जा सकता है। भारत भूमि एक है, उस पर बसने वाले सब उसके पुत्र हैं, उसके प्रति प्रेम रखना सबका कर्तव्य है। पंडित श्रीधर पाठक के भारत-गीतों में देशभक्ति की धारा बहुत निर्मल होकर बही है। उनका 'हिंद वंदना' गीत बहुत प्रसिद्ध हुआ :

> "जय देश हिंद, देशेश हिंद,
> जय सुखमा-सुख-निःशेष हिंद।"

यह कम सौभाग्य की बात नहीं है कि जिस 'जयहिंद' को सुभाषचंद्र बोस ने आज़ादी की पहली सेना में सलामी का शब्द माना था और जिससे हमारे देश में एक दिन बिजली की-सी लहर दौड़ गई थी, और जो आज भी हमारी क़ौमी सलामी का शब्द है, वह 'जयहिंद' पहली बार एक हिंदी कवि की लेखनी से निकला था। पाठक जी के गीतों में जहाँ हिंदुओं में देशभक्ति जगाने की पूर्ण क्षमता है, वहाँ उनमें कुछ भी ऐसा संकुचित, संकीर्ण, पक्षपातपूर्ण नहीं जिससे किसी मुसलमान को किसी तरह की चोट पहुँचे, हाँ थोड़ी उदारता की अपेक्षा उससे भी की जायगी। पाठक जी से प्रेरणा लेकर बहुत-से कवियों ने भारत-वंदना के गीत गाए। मैथिलीशरण गुप्त की इन पंक्तियों में उस हिंदू-मुस्लिम

एकता का संकेत है, जिसकी आवश्यकता उस समय अनुभव की जाने लगी थी :

"तेरे प्यारे बच्चे हम सब बंधन में बहुबार पड़े,
जननी, तेरे लिए भला हम किससे जूझे कब न अड़े ?
भाई-भाई लड़े भले ही टूट सका कब नाता
जय-जय भारत माता ।"

इन दो प्रमुख कवियों के अलावा जिन कवियों ने भारत के गीत गाए, उनमें गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सियाराम शरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, 'एक भारतीय आत्मा' के नाम विशेष रूप से लिए जायँगे ।

मेरे विद्यार्थी जीवन में 'प्रताप' के मोटो की ये पंक्तियाँ उत्तर भारत में गूँज रही थीं; इनके लेखक शायद महावीर प्रसाद द्विवेदी थे :

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नहीं नर, पशु निरा है और मृतक समान है ।"

परंतु जो पुस्तक उत्तर भारत में देशभक्ति की गीता बन गई, वह मैथिली-शरण गुप्त की 'भारत-भारती' है । उसकी महत्ता इतनी लोक-व्यापी है कि उसके विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं ।

१९२० में महात्मा गांधी भारतीय राष्ट्र मंच पर सर्व-प्रमुख नेता के रूप में आए । उनकी प्रेरणा से जो सर्वश्रेष्ठ खण्ड-काव्य हिंदी में लिखा गया, वह पंडित रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' था, जिसके विषय में पंडित मदनमोहन मालवीय ने कहा था कि इसका प्रथम संस्करण एक लाख प्रतियों का होना चाहिए । अगर वह पुस्तक इतनी संख्या में बिकी हो तो मुझे आश्चर्य न होगा ।

सियाराम शरण की रचनाएँ लोकप्रिय नहीं हो सकीं, पर राष्ट्रीय साहित्य में उनका स्थायी महत्त्व है । 'एक भारतीय आत्मा' की 'पुष्प की अभिलाषा' देश पर बलि होनेवालों के लिए एक ऐसा श्रद्धा-पुष्प है जो कभी नहीं मुर्झाया, न कभी मुर्झाएगा :

"चाह नहीं मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ,

चाह नहीं, प्रेमी माला में
बिंध प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के शव
पर हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं देवों के सिर पर
चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली
उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक।"

राष्ट्र की वीणा पर गानेवालों में एक 'भारतीय आत्मा' अथवा माखनलाल चतुर्वेदी का विशेष स्थान है। वे प्रवृत्ति से रहस्यवादी हैं, पर व्यवहार में सक्रिय देशभक्त भी हैं। परंतु राष्ट्रीय आंदोलन के सारे शोर-शराबे के बीच भी उन्होंने अपने स्वर पर संयम रक्खा है। उसमें एक विचित्र गंभीरता भरी है। उन्होंने सदा ही अपनी कविताओं में अखबार और प्लेटफ़ार्म की शब्दावली से बचकर संकेत और रूपकों की भाषा का प्रयोग किया है। 'क़ैदी और कोकिला' इस संदर्भ में उदाहरण की तरह प्रस्तुत की जाती है। मेरा ऐसा विचार है कि राष्ट्रीयता को विषय बनाकर लिखनेवालों में जितना कवित्व का घनत्व माखनलाल चतुर्वेदी में है उतना शायद किसी अन्य कवि में नहीं। उनके निकट कभी-कभी जयशंकर प्रसाद ही आ पाते हैं, जैसे अपने इस गीत में—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।"

सन् बीस के बाद राष्ट्रीय धारा में उपर्युक्त कवियों के स्वर में जिन लोगों ने स्वर मिलाया, उनमें चार कवि प्रमुख माने जायँगे—बालकृष्ण शर्मा नवीन, सोहन लाल द्विवेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान और रामधारी सिंह 'दिनकर'।

नवीन जी का 'हिंदुस्तान हमारा है':

"कोटि-कोटि कंठों से निकली
आज यही स्वर धारा है,

भारतवर्ष हमारा है, यह
हिंदुस्तान हमारा है।"

सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' :

"बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।"

और उनका 'जलियाँवाला बाग में वसंत'; और सोहन लाल द्विवेदी की 'युगावतार गाँधी' :

"हे कोटि चरण, हे कोटि बाहु,
हे कोटि रूप, हे कोटि नाम।
तुम एक मूर्ति, प्रतिमूर्ति कोटि,
हे कोटिमूर्ति, तुमको प्रणाम।"

और श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'हिमालय' :

"मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार, दिव्य, गौरव विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल।
मेरी जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल।
मेरे नगपति, मेरे विशाल।"

ऐसी कविताएँ हैं जो हिंदी पाठकों के कानों में पिछले पच्चीस वर्षों से गूँजती रही हैं। इनकी प्रेरणा पर कितनी अन्य रचनाएँ निकलकर जनता के पास पहुँची हैं, इसकी गिनती करना असंभव है।

छायावादी कवियों का ध्यान सामयिक से अधिक शाश्वत की ओर रहा। संभवतः इसी कारण रूढ़ अर्थों में राष्ट्रीय कही जाने वाली कविताएँ उन्होंने नहीं लिखीं। सुमित्रानंदन पंत में यह प्रवृत्ति जगी, लेकिन बहुत बाद को—

"भारत माता ग्राम वासिनी—"

उनकी कविता प्रसिद्ध हुई; उन्होंने कई राष्ट्रगान भी लिखे हैं, उनमें यथार्थ कला-कवित्व भी है; पर वे जन-मानस को कभी तरंगित कर सकेंगे, इसमें मुझे संदेह है।

आज़ादी मिलने के बाद, स्वाभाविक है कि यह राष्ट्रीय धारा क्षीण हो

गई है। पर इसने हिंदी कविता को कुछ स्थायी संपत्ति और शक्ति दी है। राष्ट्रों को अपनी सत्ता-स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए बराबर संघर्ष करना पड़ता है। अपनी इस वार्ता को मैं अपने इस विश्वास के साथ समाप्त करना चाहता हूँ कि अब कभी भी जब इस देश को आग उठाने की आवश्यकता होगी तो वह राग के अभाव में अप्रभावकारी नहीं सिद्ध होगी। सामयिक संदर्भ में, उदाहरण के लिए, कहना चाहूँगा कि अगर कभी चीनियों ने हिमालय को छूने का दु:साहस किया तो दिनकर जी की एक ही कविता, 'हिमालय' जिसका जिक्र मैं ऊपर कर चुका हूँ, इस सारे देश में एक आग उठा देगी और बच्चा-बच्चा ललकार उठेगा :

"पददलित इसे करना पीछे
पहले लो मेरा सिर उतार।
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !"

गीत काव्य की परंपरा, परिभाषा और तत्त्व

(रेडियो वार्ता)

प्रायः जन साधारण में ऐसी धारणा है कि यदि किसी वस्तु या तथ्य की रिभाषा कर दी जाय तो उसे जानने-पहचानने में आसानी होगी। इसमें थोड़ा भ्रम है। कुत्ते को देखकर मैं पहचान लूँगा, पर जीवशास्त्र में कुत्ते की जो परिभाषा दी हुई है, अगर वह मुझे रटा दी जाती और मुझसे कहा जाता कि इसके अनुसार जो जीव है उसे खोज लाओ तो शायद इस काम में मुझे महीनों लग जाते। ठीक परिभाषा वैज्ञानिक शब्दावली में होगी, उसमें कुत्ते के किसी ऐसे विशेष गुण की चर्चा होगी जो केवल कुत्ते में पाया जाता है, पर जिसे खोज लेना आसान न होगा। खोज लिया गया तो कुत्ते के पहचानने में कोई ग़लती न होगी। पर साधारण लोग कुत्ते को पहचानने के लिए, और मेरा ख़्याल है वैज्ञानिक भी, प्रायः परिभाषा का सहारा नहीं लेते और कोई भारी ग़ल्तियाँ भी नहीं करते। कुत्ते को शेर या शेर को कुत्ता समझने की ग़लती कम ही लोगों ने की होगी। मैं रूपकों की दुनिया की बात नहीं कर रहा हूँ जहाँ ऐसे कायर और दुःसाहसी अक्सर मिलते हैं।

ऐसा आदमी शायद ही मिले जिसने कभी गीत सुना न हो या गीत गाया न हो। गाने का वरदान प्रकृति बड़े मुक्त हस्त से लुटाती है। जो औरों के सामने गाते हुए शरमाते हैं वे ग़ुसलख़ाने में गाते हैं। मूक संगीत भी होता है। जैसे अनहद नाद बिना कान के सुना जाता है, उसी तरह यह मूक संगीत बिना कंठ के गाया जाता है। इस तरह गाने के लिए छायावादी कवि होने की ज़रूरत नहीं। कभी सहसा किसी भाव में बहते हुए मेरा मन गाने को किया है और ऐसी जगह, ऐसे अवसर पर कि गाना शिष्टाचार और व्यवहार दोनों के विरुद्ध होता, पर मैंने अपने भाव को नहीं दबाया, मूक संगीत का मज़ा ले लिया है। पता नहीं ऐसा अनुभव औरों को भी हुआ है कि नहीं। प्रसिद्ध संगीतकार बड़े

ग़ुलाम अली ने एक बार कहा था कि "गाने की तबियत बनना ही गाना है।"

जब यह गाने की तबियत बनती है, मन में एक प्रकार का सामजस्य आ जाता है, एक तरह की 'हारमोनी' आ जाती है। मन सब जगह से हटकर किसी भाव, विचार, अवसाद, विषाद, उल्लास में डूब जाता है और प्रायः मन की यह दशा शरीर में झलक उठती है। चलता हुआ आदमी एक खास लय में पाँव उठाने लगता है, बैठा हो तो उसकी उँगलियाँ ख़ास ढंग से हिलने लगती हैं, आँखों में कल्पनाएँ झूमने लगती हैं। उनमें एक खास चमक आ जाती है। गाने की तबियत के बाहरी रूप को कुछ लोग पहचानते हैं। मेरी पत्नी ने मुझसे अक्सर कहा है, "आप किसी और दुनिया में हैं, कुछ लिखना चाहते हैं।" और उनका अनुमान ठीक ही हुआ है।

जो जीवन में है, वही कला में जाकर विकसित होता है, निखरता है। गाने की तबियत जब ध्वनि-शब्द का आधार लेती है तब वह गीत का रूप लेती है। वह और भी रूप ले सकती है और उसके अन्य रूप भी सरस, सुंदर और मनोरम हो सकते हैं। मुझे कई चित्रकारों को चित्र बनाते हुए देखने का अवसर मिला है और मैंने प्रायः उन्हें कुछ गुनगुनाते हुए पाया है। आवश्यक नहीं कि गाने की तबियत की अभिव्यक्ति कला में ही हो।

हमारे देश का तो सारा जीवन ही गीतमय है। कभी-कभी सोचता हूँ कि हमारे ऋषि, मुनियों, विचारकों, दार्शनिकों, विद्वानों, संतों ने जीवन की कौन ऐसी व्याख्या जन-जन के हृदय में बिठा दी कि समस्त जाति गीतमय हो गई। पर्वों, त्यौहारों, मेलों, उत्सवों की बात नहीं करता, ऐसे समय गाना स्वाभाविक है, पर कठिन मेहनत का काम करते हुए भी लोगों को गाते देखकर मैं भाव-विभोर हो गया हूँ। जब कभी गीत का मौलिक, बुनियादी रूप देखने की मेरी इच्छा हुई है तो मेरा ध्यान उन गीतों की ओर गया है। अगर आपने ऐसे गीत नहीं सुने तो गीत का सच्चा रूप आपको स्पष्ट नहीं होगा। ग्राम्य-गीतों के कई संकलन हिंदी में निकल चुके हैं। इनसे भी कुछ काम चल सकता है।

गीतों का आदि खोजने का अर्थ है जीवन का आदि खोजना। गीत हज़ारों वर्षों से गाए जा रहे हैं, पर उनका मूल रूप जो आरंभ में रहा होगा, आज भी है—भावों की तीव्रता, उनकी एकता और उनकी गेयता। गीत शब्द का अर्थ ही है गाया हुआ। अंग्रेज़ी का 'लिरिक' 'लायर' से जुड़ा हुआ है, जो एक प्रकार

का बाजा होता था—उस बाजे पर गाया जानेवाला गीत। साहित्य की कोटि में आनेवाले गीत भी पहले गाने के लिए ही लिखे जाते थे। जब पढ़ने के लिए भी गीत लिखे जाने लगे तो गाए जाने वाले गीतों को 'साँग लिरिक' कहा जाने लगा। 'साँग लिरिक' को गाने का काम केवल संगीत-प्रवीण लोग कर सकते थे, 'लिरिक' को कोई भी आदमी भावपूर्ण ढंग से पढ़ सकता था। गीत से गेयता निकाल देने से तुक, लय, ध्वनि से ज़ोर हटकर भाव और अर्थ पर चला गया। भाव की तीव्रता और एकता से गीत आज भी मुक्त नहीं। इस आधार पर मुक्त छंद में लिखी बहुत-सी कविताएँ गीत की कोटि में आएँगी। यही भाव की तीव्रता और एकता उस लय को जन्म देगी जो गीत का प्राण है और जिससे मुक्त छंद भी छुटकारा नहीं पा सकता। केवल अर्थ की स्पष्टता अथवा एकता से स्वच्छ गद्य लिखा जा सकता है, कविता नहीं लिखी जा सकती। भाव जब शब्द में अवतरित होगा तो वह लय का ही आधार लेगा। इस प्रकार आज गीत के तीन रूप हमें देखने को मिलते हैं—एक वह जो मधुर और दीक्षित कंठ से गाया जा सकता है, दूसरा वह जो समलय बद्ध है, तुकांत है और तीसरा जिसका भाव लयबद्ध ज़रूर है पर जिसे पढ़ने के लिए न संगीत का ज्ञान ज़रूरी हैं, न मधुर कंठ; जो वार्तालाप की सहजता से भी पढ़ा जाए तो भाव की तीव्रता और एकता का आभास देगा।

साहित्य की कोटि में आनेवाले गीतों का आरंभ, जहाँ तक हिंदी का सबध है, हम विद्यापति से मान लें तो बहुत अच्छा होगा। विद्यापति भक्त होने के साथ ही दरबारी कवि भी थे। इससे एक ओर उनमें जहाँ विनय के भाव हैं, वहाँ दूसरी ओर शृंगारिकता के भाव भी हैं। विशेषकर इन दूसरे प्रकार के गीतों में मानव-हृदय की पीड़ा व्यक्त हुई है :

"थे न कबीर, न सूर, न तुलसी
और न थी जब बाँवरि मीरा,
तब तुमने ही मुखरित की थी
मानव के मानस की पीरा।"

भक्तिकाल में कबीर, सूर, तुलसी, मीरा ने अपने उद्‌गारों से गीतों का भंडार भरा। कबीर का व्यक्तित्व महान ही नहीं था, बहुस्तरीय भी था। उनके किन्हीं गीतों में भावों की गहराई रहस्य का अतल छूती है :

"घूँघट के पट खोल रे तोहे पिया मिलेंगे।"

और किन्हीं गीतों में व्यंग्य का तीखापन ऊपर-ऊपर उतराने लगा है :

"चली है कुलबोरनी गंगा नहाय
पाँच पचीस के धक्का खाएन घरहू के पूँजी आई लुटाय।"

तुलसी के गीतों में उनकी सात्त्विकता सब जगह समान है। विनय में भी एक प्रकार की मर्यादा वे निभाते हैं। अंतर को बेधनेवाली, मन को व्याकुल-विह्वल करनेवाली पंक्तियाँ तुलसी में कम ही होंगी पर वह छिछले धरातल पर कभी नहीं उतरते :

"कौन जतन बिनती करिए।
निज आचरन विचारि हारि हिय मानि जानि डरिए।"

या "अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
राम कृपा भव निसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं।"

सूर की दुनिया हमारे जीवन के बहुत निकट है, वह हमारे घर में समा जाती है, फिर भी उसकी विविधता आश्चर्यमयी है। भावों की तीव्रता के लिए इससे अधिक कौन कहेगा :

"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर,
किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत सरीर।"

सूर की तीव्रता को, कभी-कभी, मीरा ही छूती हैं। उन्मत्तता, तन्मयता मीरा में जितनी है उतनी भक्ति के काल के किसी कवि में नहीं :

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
मीरा प्रभु लगन लगी होनी हो सो होई।"

या "सूली ऊपर सेज पिया की केहि विधि मिलनो होय।"

हिंदी गीतों के लिए भक्तिकाल स्वर्णयुग था—जन-जीवन में रँगी हुई भाषा; वेदना की आग में पिघले हृदय के भाव। जो कवि के मुख से निकला उससे देश की दिशा-दिशा प्रतिध्वनित हो उठी।

गीतों का दूसरा युग खड़ीबोली के उत्थान के साथ आरंभ हुआ। इन पचास-साठ वर्षों में कविता के क्षेत्र में हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि गीतों के वृत्त में ही हुई है। एक अनगढ़ भाषा को लेकर उसे गीत का माधुर्य देना बड़ा ही कठिन काम था। भारतीय नवजागरण ने भावों का उफान दिया, अंग्रेज़ी

गीत कला ने गीत का बाहरी रूप सँवारने की प्रेरणा दी, ब्रज और अवधी की गीत-परंपरा ने बहुत बड़ा आधार दिया, बँगला ने, विशेषकर रवींद्रनाथ टैगोर ने, बहुत-से उदाहरण उपस्थित किए। इन सबसे आधुनिक गीत बना।

सिनेमा का प्रचार बढ़ने से सिनेमाई गीतों की एक अलग श्रेणी बन गई। भावों में हलकापन, भाषा में सादगी, बाजों-गाजों पर अत्यधिक निर्भरता। सिनेमा हाल में गाया गीत जब केवल गले का आधार लेकर गाया जाता है तब वह निर्जीव लगता है और शीघ्र मर जाता है।

जीवन में विचार की प्रधानता बढ़ी तो गीत संगीत-मुक्त हो गया। भाव-मुक्त हो गया, अर्थ-प्रधान हो गया। अब वह गाया नहीं जाता, पढ़ा जाता है।

इसकी प्रतिक्रिया दूसरी दिशा में हुई है—गीत को गेय रखनेवाले आधार-भूत मानव भावनाओं की ओर चले गए हैं; और प्रेरणा ली जा रही है ग्राम्य गीतों से। कुछ कवि जनपदीय बोलियों में लिखने लगे हैं और साहित्यिक गीत-कला का लाभ ग्राम-गीतों को दे रहे हैं।

आधुनिक समय को गेय गीतों, वाद्य गीतों और पाठ्य गीतों का मिलनस्थल या समरस्थल कह सकते हैं।

१९५९]

मेरा रचना-काल

(रेडियो वार्ता)

मुझे कवि-रूप में जाननेवाला शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो मुझे 'मधुशाला' के रचयिता के नाते न जानता हो। 'मधुशाला' इतनी लोकप्रिय कैसे और क्यों हो गई, इसका कारण मुझे भी नहीं मालूम। इसे मैंने १९३३-'३४ में लिखा था; यह सर्वप्रथम १९३५ में प्रकाशित हुई। इसका पहला पाठ मैंने दिसम्बर १९३३ में काशी विश्वविद्यालय में किया था। वहाँ प्राय: भारत के सभी भागों से विद्यार्थी आते हैं—वहीं से जब वे अपने घरों को लौटे तो 'मधुशाला' की कुछ पंक्तियाँ और उसके पढ़ने की धुन अपने साथ ले गए। 'मधुशाला' में उन्होंने अपने कुछ भावों, विचारों, आकांक्षाओं, प्रत्याशाओं, स्वप्नों, आदर्शों को मूर्तित पाया। मैं केवल अपने गले को 'मधुशाला' की लोकप्रियता का सारा श्रेय देने को तैयार नहीं हूँ। जहाँ कुछ लोगों ने 'मधुशाला' का स्वागत किया, वहाँ कुछ लोगों ने इसका विरोध भी किया। इसकी जितनी पैरोडी की गई है, संभवत: उतनी हिंदी की किसी रचना की नहीं की गई। कितने ही लोगों ने इसके विरुद्ध लेख आदि भी लिखे। पर इन सब चीज़ों ने 'मधुशाला' की ओर लोगों का ध्यान ही आकृष्ट किया। लेख-विरोध होते हुए भी पढ़ने अथवा सुनने पर उन्हें अपने आनंद-विनोद की कुछ सामग्री इसमें मिली अवश्य। अनेक प्रकार से इसका अनुकरण भी किया गया। अनुकरण करनेवालों में कोई दूसरी 'मधुशाला' तो नहीं लिख सका, अलबत्ता ऐसी रचनाओं ने मौलिक रचना की खोज को प्रोत्साहन दिया।

हिंदीवालों को वाद चलाने का मर्ज़ है। उन्होंने 'हाला' शब्द का अत्यधिक प्रयोग इस कविता में देखकर मुझे 'हालावाद' का प्रवर्तक घोषित कर दिया। पटने का 'योगी' मुझे 'हालाबाज़' कहकर मुझ पर व्यंग्य किया करता था, बस 'हालाबाज़' से 'हालावाद' दूसरा क़दम था। मैंने न तो कोई वाद चलाया था

और न चलाने की इच्छा थी। हाला का उपयोग प्रतीक-रूप में भी मैंने पहले-पहल नहीं किया था। 'हालावाद' कोई वाद हो भी, और उसके प्रवर्तक की आवश्यकता ही हो तो उसका श्रेय भारतेंदु हरिश्चंद्र को मिलना चाहिए। उन्होंने मदिरा पर कुछ दोहे लिखे थे। उनका परिचय पहले-पहल मैंने 'हिंदी नवरत्न' से किया था। इसके पश्चात पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'साक़ी' आदि कविताओं में हाला-प्याला के प्रतीकों का उपयोग किया था। मेरे पूर्व बाबू भगवतीचरण वर्मा ने कई कविताएँ मधुपान आदि पर लिखी थीं। इसी प्रकार मेरे समकालीन कई कवि हाला-प्याला के प्रतीकों का प्रयोग अपनी कविताओं में कर रहे थे। इस कारण अगर इन प्रतीकों को हिंदी में लाना कोई अपराध था तो इसका अपराधी, कम-से-कम पहला अपराधी, मैं तो नही था, पर समालोचकों ने अपनी बाण-वर्षा प्रायः मेरे ही ऊपर की थी। कारण शायद यह था कि मेरी रचनाओं में ये प्रतीक अधिक सजीव हो उठे थे।

हिंदी जनता 'मधुशाला' से ही मुझसे परिचित हुई पर 'मधुशाला' मेरी पहली रचना नहीं थी। मेरी पहली रचना 'तेरा हार' के नाम से १९३२ में प्रकाशित हुई थी। उसकी समालोचना पत्र-पत्रिकाओं में तो अच्छी हुई थी, पर जनता में उसकी माँग बिलकुल न हुई थी। प्रयत्न करने पर भी यह बता सकना कठिन है कि मैंने अपनी पहली रचना कब की। स्कूल में पढ़ते समय जब हमें निबंध लिखने को दिया जाता तब अध्यापक कहते थे कि अंत में दो-चार दोहे लिख देना चाहिए। इतना मुझे अब तक याद है कि प्रसिद्ध दोहे याद न रहने पर मैं स्वयं अपने बनाए हुए दोहे बैठाल कर पंडित जी को संतुष्ट कर देता था। शायद उन्हीं दोहों में मेरी कविता का जन्म हुआ होगा। आठवीं कक्षा में मैंने नल-दमयंती की कहानी अपनी पाठ्य-पुस्तक में पढ़ी थी। उसे मैंने पद्यबद्ध किया था, और भी फुटकल कविताएँ लिखी थीं, प्रायः देश-भक्ति पर। १९२० का आंदोलन मैंने देखा था और उससे मुझे प्रेरणा मिली थी उन्मुक्त जीने की, उन्मुक्त लिखने की। पर उन दिनों मैं अपनी कविता किसी को दिखाता नहीं था। एक मित्र ने मेरी अनुपस्थिति में मेरी कापी देख ली और उसकी कुछ पंक्तियाँ पढ़ सुनाईं। मुझे मालूम हो गया कि हो-न-हो, इसने मेरी कापी चोरी से देख ली है, बस मैंने अपनी कापी फाड़कर फेंक दी। उसी समय के आस-पास हमारे स्कूल के एक अध्यापक छुट्टी पर जा रहे थे। उनके अभि-

नंदन में भी मैंने एक रचना की थी, जिसका शीर्षक 'हार' था। वह याद तो नहीं है पर भाव कुछ इस प्रकार के थे कि न ये हीरे-मोती के हार हैं, न सोने-चांदी के—ये तो फूल के हार हैं, पर हम इनमें अपना हृदय बांधकर देते हैं। मेरी वह रचना विद्यार्थियों ने बहुत पसंद की थी और स्कूल की हस्तलिखित पत्रिका 'आदर्श' में निकाली गई थी। तभी मैंने मुक्त छंदों में भी कुछ दस्तदाज़ी की थी। इसके बाद विद्यार्थी-जीवन में मैंने कविता नहीं की।

१९३० में सत्याग्रह आंदोलन आरंभ हुआ था। उस समय मैं एम० ए० प्रीवियस में था। मैंने युनिवर्सिटी छोड़ दी और तभी से मेरे जीवन का संघर्ष आरंभ हुआ। उसी समय से मैंने फिर कविता लिखना आरंभ किया था और तब से अब तक प्रायः बराबर लिखता रहा हूँ। मेरी पुरानी आदत अब भी चल रही थी। कविता लिखता पर दिखाता किसी को न था, मेरी प्रारंभिक रचनाओं में एक कविता 'काव्य अप्रकाशन' पर भी है।

युनिवर्सिटी छोड़ने पर दुनिया की वास्तविकता से टक्कर लेनी पड़ी। उसमें मेरे जीवन के सपने टूट गए। हृदय के अंदर भावनाओं की तरंगें उठ रही थीं, चारों ओर दीवारें खड़ी थीं। निराशा घिरती आती थी पर आशा अपनी पराजय स्वीकार न करती थी। आकांक्षाएँ संसार की सीमा के अंदर घुट रही थीं, पर अपने विद्रोह को पुकार करके, व्यक्त करके। स्वप्नों के पर कट रहे थे, लेकिन उन्हें फिर से फैलाने की अभिलाषा तो बाक़ी बची हुई थी। ऐसे समय में मेरे भावों और विचारों में जो प्रथम उथल-पुथल हुई थी उसमें मुझे उमर ख़ैयाम की रुबाइयों में अपने प्राणों की प्रतिध्वनि मिली। रुबाई पढ़ता तो ऐसा लगता जैसे यह मेरे लिए ही लिखी गई है।

उसी अवस्था में मैंने १९३३ में 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद किया। उसके पूर्व भी 'रुबाइयात' के कई अनुवाद निकल चुके थे, पर मेरे प्राणों से जो स्वर फूट रहा था वह दूसरा ही था और किसी अन्य का अनुवाद मेरे मन की पुकार को व्यक्त नहीं करता था। मेरे अनुवाद के आस-पास ही उमर ख़ैयाम के कितने ही अनुवाद हुए। ख़ैयाम की कविता के प्रति जो मेरी प्रतिक्रिया थी वह एक समय मुझे बहुत निजी मालूम हुई थी, पर अब सोचता हूँ कि संभवतः देश-काल के वातावरण में ही कुछ ऐसा था जिससे दूर-दूर बैठे हुए लोगों ने लगभग एक ही समय उमर ख़ैयाम को हिंदी में उपस्थित करने को

बात सोची।

खैयाम के अनुवाद से ही जैसे मेरी आत्मा को संतोष न हुआ। मैंने मौलिक रुबाइयों की रचना आरंभ की और इसी का परिणाम हुआ 'मधुशाला'। 'मधुशाला' पर मेरे व्यक्तित्व की, मेरे कवित्व की, स्पष्ट छाप लगी हुई है। वास्तविकता से उठकर, कल्पना की मदिरा से शक्ति संचित कर, मैं सपनों का संसार रचने लगा। मेरे जीवन में जो कुछ कुरूप था जैसे वह कविता के पारस को छूकर सुंदरता में मूर्तिमान हो उठा। लोगों ने मेरी इस प्रवृत्ति को पलायन या Escape कहा है। मैं उसे स्वप्न का सत्य के विरुद्ध विद्रोह कहूँगा। मैंने मदिरा नहीं पी, मैंने कविता पी, और अगर कविता स्वयं जीवन से पलायन नहीं है तो मैं अपने आपको पलायनवादी कहने को तैयार नहीं हूँ। यदि मुझे इन्हीं दो सम्मतियों में से कि कविता जीवन से पलायन है अथवा उसके प्रति विद्रोह, एक के साथ अपनी सहमति प्रकट करनी हो तो मैं कहूँगा कि कविता जीवन के प्रति विद्रोह है—एक तीसरी अवस्था भी है कि कविता जीवन की समीक्षा है। संभवतः वह तीसरी अवस्था ही अधिक सतुलित है। आज का विद्रोही कल का समीक्षक हो सकता है, पर पलायनवादी फिर लौटने का नहीं। मैं जीवन से भागा कभी नहीं था, मैं कवित्व की शक्ति से सपन्न होकर उसका सामना करना चाहता था। कवित्व से उसकी अपूर्णता को पूर्ण करना चाहता था, कवित्व से उसकी कुरूपता को सुरूपता में परिवर्तित करना चाहता था। अगर संसार की वास्तविकता से सहयोग करना ही जीवन की सफलता है तो दुनिया में काव्य और कला की कोई ज़रूरत नही है। संसार की वास्तविकता संसार की एकांगिता है, वह काव्य और कला के स्वप्नों से मिलकर पूर्ण होती है। इसी अर्थ में कवि निर्माता है, नहीं तो स्रष्टा ने अपनी सृष्टि में कहाँ जगह छोड़ रखी है जहाँ हमें एक तृण भी अपनी ओर से बनाकर रखने की गुंजाइश हो? उन्ही मनःसपनों, उन्हीं आदर्शों और उन्हीं कल्पना-क्षणों के कारण एक ओर जहाँ कवि संसार का अधिक असंतुष्ट प्राणी है, वहीं दूसरी ओर अधिक सतुष्ट जीव भी। एक ओर जहाँ वह संसार को अधिक अपूर्ण देखता है, वहीं दूसरी ओर वह उसे अधिक पूर्ण भी बना सकता है। कल्पना का संसार अगर मनुष्य इस संसार की तुलना में न रखता तो यही संसार उसे स्वर्ग प्रतीत होता; और कल्पना के संसार से अगर वह इसे आलोकित न कर देता तो यही संसार

उसे नरक लगता। इसी संसार को स्वर्ग और नरक समझने वाले दोनों ही कला और कवित्व से विहीन हैं। कला इसीलिए सक्रिय और शक्तिमान है कि वह संसार की कुरूपता को स्पष्ट भी करती है और तिरोहित भी।

'मधुशाला' में जो मैंने मुक्तकों में कहा था उसे ही मैंने 'मधुबाला' में गीतों में कहा है।

१९३० से जो संघर्ष मेरे जीवन में उठा था उसकी चरमस्थिति १९३६ में मेरी पत्नी के देहावसान में पहुँची। उसके पूर्व ही मेरे भावना-जगत को एक और गहरी ठेस लग चुकी थी। साहित्य-क्षेत्र में भी हर तरफ़ से मुझ पर आक्रमण हो रहे थे। 'मधुकलश' इन्हीं दिनों की रचना है। 'मधुकलश' के गीतों को गाकर मैंने अपने अंदर शक्ति संचित की। पत्नी के देहावसान ने मुझे सहसा जड़ कर दिया और एक वर्ष तक मैंने कुछ लिखा ही नहीं।

फिर धीरे-धीरे मेरी सचित वेदना 'निशा निमंत्रण' के गीतों में फूटने लगी। और वही क्रम 'एकांत संगीत' के गीतों में भी चलता रहा। प्रायः 'निशा निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' के गीतों को पढ़कर लोगों ने मुझे निराशावादी कह दिया है। पर सच यह है कि उन्हीं गीतों को गाकर मैंने अपनी निराशा को पराजित किया है और फिर से अपने अंदर आशा का संचार किया है। उन्हीं गीतों को गाकर मैंने अंधकार से युद्ध किया है और फिर से प्रकाश की ओर देखा है। 'आकुल अंतर' तक आते-आते मैं सर्वथा उस अंधकार से मुक्त हो गया हूँ।

१९४२ में मेरा दूसरा विवाह हुआ। मैंने जीवन से फिर सहयोग किया। इसके पश्चात मैंने 'सतरंगिनी' की रचना की। 'मिलन यामिनी' के गीत मैंने 'सतरंगिनी' के पश्चात लिखने शुरू किए।

१९४३ में मैंने 'बंगाल का काल' की रचना की। मुक्त छंद में, कतिपय बाल-प्रयोगों को छोड़कर, यह मेरी पहली रचना थी। इससे पहले मैंने इतनी लंबी कविता कभी नहीं लिखी थी। मैंने प्रायः गीत ही लिखे हैं।

१९४५ में मैंने 'हलाहल' नाम की अपनी एक पिछली रचना की पूर्ति की। मरण से आरंभ करके मेरी कल्पना अमरता की ओर गई है। पहले सोचा था, उसके शीर्षक के नीचे उपनिषद की यह पंक्ति लगा दूँगा 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' फिर कुछ सोचकर विचार हटा दिया।

यह मेरी रचनाओं का संक्षिप्त वर्णन है। मेरा जन्म प्रयाग के एक मुहल्ले में हुआ था। मेरा बाल्यकाल शहर की सँकरी गलियों में बीता। प्रकृति का निरीक्षण मैंने नहीं किया, सिवा इसके कि ऊपर आसमान है जहाँ रात को तारे निकलते हैं और उसी में कहीं से बादल छा जाते हैं। सूर्योदय और सूर्यास्त मेरे लिए मकानों के पीछे से हुआ है। प्रकृति का वर्णन प्रकृति-प्रेमवश मेरी कविता में शायद कहीं भी नहीं है। मेरा बाल्यकाल प्रकृति के प्रभाव से अछूता ही रहा है; बाद को जो कुछ घूम-फिरकर मैंने देखा है, उसने मेरे हृदय में घर नहीं किया। जब कभी प्रकृति के समीप गया भी हूँ तो अपनी भावनाओं से इतना अतिरंजित कि उसमें भी मुझे अपनी भावनाओं की ही छाया दिखाई दी है। प्रकृति के प्रतीक मैंने अवश्य ही काव्योपकरण के रूप में स्वीकार कर लिए हैं, पर मेरा हृदय सदा भावना-द्रवित रहा है—अपने और दूसरों के भी सुख, दुख, हर्ष, विषाद से। मैंने तो अपने हृदय के अंदर देखा है और लिखा है। दूसरों के हृदयों को देखने का मेरे पास एक ही साधन है—और वह है मेरा अपना हृदय। मुझे यह कहकर संतोष होता है कि मैं भावनाओं का कवि हूँ। जैसे मैं अनुभव करता हूँ ऐसा दूसरे भी करते होंगे, यही बल मुझे सदा रहा है—दूसरों ने अगर मेरे उद्‌गारों में अपनी भावनाओं को मुखरित पाया है तो उसका कारण यही है कि मैंने अपने हृदय को साधारण मानव हृदय का एक नमूना-सा माना है।

मेरी शिक्षा उर्दू और फ़ारसी से आरंभ हुई थी। एक बार स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का व्याख्यान सुनकर मैंने उर्दू छोड़कर हिंदी ले ली। उस समय बाबू शिवकुमार सिंह, डिप्टी इंस्पेक्टर आफ़ स्कूल्स थे। वे स्वयं हिंदी के प्रेमी थे और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में से थे। उन्होंने मुझे प्रोत्साहन दिया। शायद उस दिन स्वामी जी के व्याख्यान में न गया होता तो आज यदि मैं कुछ लिखता होता तो उर्दू में। कभी सोचता हूँ कि जीवन की आकस्मिक घटनाओं का भी कितना बड़ा प्रभाव होता है। मेरे पिता हिंदी, उर्दू, अंग्रेज़ी, फ़ारसी और संस्कृत जानते थे। कविता के प्रेमी थे और इन भाषाओं के उच्चकोटि के कवियों के ग्रंथ उनके पास थे। मैंने उर्दू की बहुत-सी कविताएँ स्वयं उनके मुख से सुनी थीं। उर्दू में जो कहने की सफ़ाई थी वह उन दिनों भी मुझे अच्छी लगती थी। नज़ीर अकबराबादी के दीवान से

पिता जी ने मुझे उनकी कई कविताएँ याद कराई थीं, 'स्तोत्र रत्नाकर' से कई संस्कृत स्तोत्र। हिंदी आंदोलन के साथ वे 'सरस्वती' भी मँगाने लगे थे। स्कूल के दिनों में बाबू मैथिलीशरण गुप्त और 'हरिऔध' जी की कविताएँ मैं विशेष रुचि से पढ़ता था। अपने पिता से प्राप्त 'भारत-भारती' की प्रति मेरे पास अब तक सुरक्षित है। संस्कृत भी मैंने हाईस्कूल तक पढ़ी। थोड़ी उर्दू, फ़ारसी, थोड़ी संस्कृत जानने का प्रभाव मेरी भाषा पर अच्छा पड़ा। उर्दू के शब्दों से मुझे कभी परहेज़ नहीं रहा है। ज्यादा उर्दू न जानने के कारण मेरी कविता में कभी ऐसे शब्द नहीं आए जो हिंदी की प्रकृति पर अत्याचार करते जान पड़ें। उसी प्रकार संस्कृत का कम ज्ञान भी मेरे लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है। न तो मैं संस्कृत से ऐसा अनभिज्ञ हूँ कि साधारण और प्रचलित तथा भावोद्‌बोधक और सुन्दर शब्दों का उपयोग न कर सकूँ और न मैं इतनी संस्कृत जानता हूँ कि ऐसे बड़े-बड़े शब्दों को लाकर रख दूँ कि उनका अर्थ देखने के लिए कोश उठाना पड़े। मुझे एक बात पर बड़ा संतोष है कि आज तक मुझसे किसी ने यह नहीं कहा कि तुम्हारी कविता मेरी समझ में नहीं आती। कविता की भाषा के संबंध में मेरी सम्मति यह है कि उसे भाषा छोड़कर भाव बन जाना चाहिए। यदि मैं कोई कविता पढ़ूँ और सुननेवाला उसे सुनकर भावों में न परिवर्तित कर सके, यहाँ तक कि भाव उसके मुख पर, उसकी आँखों में, उसकी मुद्रा से बिंबित न होने लगें तो मैं समझता हूँ कि भाषा ने अपना कार्य ठीक नहीं किया। यही प्रतिक्रिया मैं पाठक में भी चाहूँगा।

अभी तक अपने कवि-जीवन में मैंने मुक्तक ही लिखे हैं। मेरे मित्र प्रायः मुझसे कहते हैं कि तुम्हें कोई प्रबंध-काव्य लिखना चाहिए। मेरे जीवन की कुछ सीमाएँ हैं। केवल कविता लिखकर कोई आज भी इतना नहीं अर्जित कर सकता कि आराम न सही तो सुविधा का जीवन व्यतीत कर सके। सृजन के लिए भी कुछ सुविधा चाहिए ही। इस कारण मैं केवल कवि ही नहीं हूँ। मुझे युनिवर्सिटी में अध्यापक का कार्य भी करना पड़ता है। प्रबंध-काव्य लिखने के लिए समय का बंधन नहीं चाहिए। यह नहीं हो सकता कि ८ बजे से १० बजे तक लिखो और जब घंटा बजे तब युनिवर्सिटी को भागो और जब लौटो, फिर लिखना आरंभ कर दो। गीतों को लिखने के लिए इतने लंबे समय

की आवश्यकता नहीं है। कोई भाव-विचार उठा; अगर घंटे-दो-घंटे का समय भी मिल जाए तो गीत लिखा जा सकता है। प्रबंध-काव्य के लिए आग्रह किए जाने पर अक्सर मैं अपने मित्रों से कहता हूँ कि जब युनिवर्सिटी से रिटायर हूँगा तब मैं कोई प्रबंध-काव्य लिखूंगा। देखूं मेरी आशा पूर्ण होती है या नहीं। १९४६]

मेरी कविता के सोपान

मुझे अपनी कविता के विषय में कहने या लिखने की आवश्यकता कभी प्रतीत नहीं हुई। मेरी सबसे पहली रचना १६३२ में प्रकाशित हुई थी। अपनी पहली रचना, जिसकी भूमिका मैंने लिखी वह थी 'ख़ैयाम की मधुशाला', और वह भी उसके तीसरे संस्करण के लिए जो १६४६ में प्रकाशित हुआ था। उसी समय के लगभग प्रकाशित 'हलाहल' की भूमिका भी मैंने लिखी, एक विशेष कारणवश, जो उसे पढ़कर जाना जा सकता है। उस समय तक मेरी लगभग बारह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं, पर किसी में मेरी ओर से कविताओं के विषय में कुछ भी नही लिखा गया। बाद की रचनाओं में भी मेरी ओर से नाम मात्र ही कुछ पंक्तियाँ हैं। इधर कुछ वर्षो से अपने पाठकों के अनुरोध पर अपनी नई रचनाओं के साथ अथवा अपने प्रकाशक के आग्रह पर पुरानी रचनाओं के नए संस्करणों के साथ मैं अपनी कविताओं के संबंध में थोड़ा विस्तार से बोलने लगा हूँ। शायद इसी से प्रेरित होकर एक नई पत्रिका के संपादक श्री रामावतार त्यागी ने यह इच्छा प्रकट की है कि मैं उपर्युक्त शीर्षक से अपनी कविता के विकास के संबंध में कुछ कहूँ।

इस प्रकार मेरे और मेरे पाठकों के बीच केवल मेरी कविता रही है। इसे मैं सर्वथा उचित और स्वस्थ भी समझता हूँ। साधारण पाठकों में किसी कवि की रचनाओं को पढ़ने में किसी विशेष क्रम का आग्रह नहीं होता। वैसे यदि किसी कवि की रचनाओं को रचना-क्रम में पढ़ा जाय तो उसके उत्तरोत्तर विकास अथवा प्रगति का आभास मिलना स्वाभाविक है। मेरी ये पंक्तियाँ संभवत: उन लोगों को कुछ सहायक सिद्ध हो सकेंगी जो इस प्रकार मेरी रचनाओं को पढ़ना चाहेंगे।

कविता लिखना मैंने लड़कपन से ही शुरू कर दिया था। अपने प्रारंभिक प्रयास और अभ्यास के विषय में विस्तार से कहने का प्रयत्न मैं फिर कभी

करूँगा। लगभग १९३० से जो मैंने लिखा है वह पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुका है। मेरी प्रारंभिक रचनाएँ तीन भागों में प्रकाशित हुई हैं। दो भाग में कविताएँ हैं; तीसरे भाग में कहानियाँ हैं। शुरू-शुरू में मैं स्वयं निर्णय नहीं कर सका था कि मैं कहानी-लेखक बनूँ या कवि या दोनों। आगे चलकर मैं कविताओं के द्वारा ही अपने भाव-विचारों को व्यक्त करने लगा और कहानी लिखना छूट गया। बीच में 'निशा निमंत्रण' के लिए मैंने एक कहानी लिखी। मेरे कुछ पाठकों का ऐसा विचार है कि मेरा कहानी लेखक मरा नहीं, कविताओं में समाहित हो गया। युनिवर्सिटी के नाते मेरे शिष्य और उदीयमान कहानी-लेखक श्री सत्येन्द्र शरत का कहना है कि उन्हें मेरी बहुत-सी कविताओं के पीछे कोई न कोई कहानी मिलती है। शायद ऐसा हो। इसकी व्याख्या की प्रत्याशा उनसे ही की जानी चाहिए। किसी भी लेखक की रचनाओं में प्रारंभिक कृतियों का एक विशेष महत्त्व होता है। लेखक कहाँ से आरंभ करता है, किन विषयों की ओर उसका ध्यान जाता है, उनकी ओर उसकी प्रतिक्रिया किस प्रकार की होती है, वह अपने कथ्य और कथन में सामंजस्य लाने में कहाँ तक सफल अथवा असफल होता है। एक तरह से उसकी आगे की रचनाओं की संभावनाएँ बीज रूप में यहाँ वर्तमान रहती हैं। इसे देख सकने के लिए पैनी दृष्टि की आवश्यकता होती है। साधारण पाठक, इनमें विशेष आनंद का अनुभव न कर, अगर इनकी ओर से उदासीन रहे तो मुझे कोई शिकायत न होगी। विधिवत अध्ययन करनेवाले के लिए इनकी उपेक्षा करना ठीक न होगा।

मेरे काव्य जीवन में 'रुबाइयात उमर खैयाम' का अनुवाद एक विशेष स्थान रखता है। उमर खैयाम ने रूप-रंग-रस की एक नई दुनिया ही मेरे आगे नहीं उपस्थित की; उसने भावना, विचार और कल्पना के सर्वथा नये आयाम मेरे लिए खोल दिए। उसने जगत, नियति और प्रकृति के सामने लाकर मुझे अकेला खड़ा कर दिया। खैयाम के प्रति लिखते हुए मैंने स्वीकार किया है :

"तुम्हारी मदिरा से अभिषिक्त
हुए थे जिस दिन मेरे प्राण,
उसी दिन मेरे मुख की बात
हुई थी अंतरतम की तान।"

(आरती और अंगारे)

मेरी बात मेरी तान में बदल गई। अभी तक मैं लिख रहा था, अब गाने लगा। अभी तक भावों को भाषा दे रहा था, अब भाव और भाषा एक होकर मेरे कंठ से फूटने लगे। याद नहीं पड़ता कि इसके बाद कभी मैंने पंक्तियों की मात्राएँ गिनी।

ख़ैयाम से जो प्रतीक मुझे मिले थे, उनसे अपने को व्यक्त करने में मुझे बड़ी सहायता मिली। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' लिखते हुए वाणी के जिस उल्लास का अनुभव मैंने किया वह अभूतपूर्व था। शायद इतने उल्लास का अनुभव मैंने बाद में कभी नहीं किया।

पर बरसात की मदमाती नदी के मार्ग में धीरे-धीरे रुकावटें आने लगी। अपनी गति से बहना कठिन था, औरों से उलझने की भी ज़रूरत पड़ी। जीवन ने भी मोड़ लिया। सपने धुँधले पड़ने लगे, सत्य ने विकराल रूप धारण करना आरंभ किया। 'मधुकलश' की कविताएँ उस समय लिखी गई जब एक ओर मेरे सपने टूटे पड़े थे, मेरी पत्नी मृत्यु-शय्या पर पड़ी थी और दूसरी ओर 'मधुशाला' और 'मधुबाला' की कविताओं को लेकर कुछ लोग मुझ पर कीचड़ उछाल रहे थे। मालाएँ देनेवाले भी कम न थे, पर वे चुपचाप देते थे और कीचड़ पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों पर फैलकर दूर-दूर तक मुझे कलंकित कर रहा था। जवानी थी, कोई ईंट उठाए तो उसपर पत्थर नहीं, वज्र फेंकने को तबियत करती थी। 'मधुकलश' की कविताओं से मैंने अपने विरोधियों को उत्तर दिया। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के साथ जो आलम मेरे साथ चला था उसे 'मधुकलश' की कविताओं में भी आवाज़ मिली :

> "वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी
> मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता।"

लोगों को पता लगा कि यह कोई कुम्हड़ बतिया नहीं है। पर भाग्य के आघात से मैं न बच सका। प्रेम की दुनिया धोखा दे गई, पत्नी का देहावसान हो गया; जीवन विश्रृंखल हो गया; साल भर के लिए लिखना बिल्कुल बंद रहा। फिर मेरी वेदना, मेरी निराशा, मेरा एकाकीपन, 'निशा निमंत्रण' 'एकांत संगीत' और 'आकुल अंतर' के लघु-लघु गीतों में मुखरित हुआ। पर अवसाद के इन तमाम गीतों में एक स्वर ऐसा भी है जो पराजित होने को तैयार नहीं है। इसे केवल मेरे सुहृदय पाठको ने ही पहचाना है, समालोचकों को

इनमें विषाद, अंधकार और उदासी ही दिखाई पड़ी है।

तम से ज्योति की ओर जाने की कामना ही सतरंगिनी में विजयिनी हुई है :

"जो बीत गई सो बात गई"

"है अँधेरी रात पर दीवा जलाना, कब मना है"

"नीड़ का निर्माण फिर-फिर"

'मिलन यामिनी', 'प्रणय पत्रिका', 'आरती और अंगारे' प्यार, जवानी, जीवन के प्रति, उल्लास की तरंगों और अवसाद की लपटों में परीक्षित आस्था का राग है।

उमर ख़ैयाम ने जिन प्रश्नों की ओर मुझे सचेत किया था और जीवन ने जो प्रश्न मेरे सामने खड़े किए थे उनका हल इन कविताओं के द्वारा मैंने खोजा भी है और पाया भी है।

मनुष्य को चेतना का छोटा-सा केंद्र बनाकर एक अद्भुत, अज्ञात और विराट के सामने खड़ा कर दिया जाता है। इससे वह घबराए, इसको जानने और इसके साथ अपना संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करे, यह स्वाभाविक है। पर उसका छोटा-सा स्थूल शरीर और जीवन बड़े भारी समाज, देश और बड़ी-सी दुनिया का भी अंग है, इसे वह कैसे भूले। यह किसी सचेत प्राणी को अपनी ओर आकर्षित कर अपनी समस्याओं मे न उलझाए, यह अस्वाभाविक है। मैं अपनी कविता की मूल धारा आतंरिक चेतना की गहराइयों में बहती देखता हूँ, पर वह धार के दोनों तटों पर भी कभी-कभी फैल जाती है—'धार कें इधर-उधर', 'बगाल का काल', 'सूत की माला', 'खादी के फूल', 'बुद्ध और नाचघर' इसके प्रमाण हैं।

पिछले तीन वर्षों में जहाँ एक ओर मैंने शेक्सपियर के दो नाटकों का अनुवाद किया है वहाँ दूसरी ओर मैंने गीता का अनुवाद किया है। बहुत-से लोगों को मेरी रचना की इन दिशाओं ने कुछ अचरज में डाल दिया है। मैंने इन्हें यों समझा है, शायद मेरी आंतरिक चेतना अब विश्वास का आधार चाहती है और मेरी जिज्ञासा अंतर्द्वंदों से मुक्त, बहिर्मुखी होकर औरों के अंतर्द्वंदों का विश्लेषण करना चाहती है। भविष्य में शायद नाटक अथवा कथा-काव्य लिखने की ओर मेरी रुचि हो।

१९५९]

मैं और मेरी 'मधुशाला'

(रेडियो वार्ता)

आज मुझसे कहा गया है कि मैं आपको 'मधुशाला' के बारे में कुछ बताऊँ। अपनी रचनाओं के बारे में कुछ कहने या लिखने में मुझे शुरू से संकोच रहा है। मैंने हमेशा यह माना है कि ख़ास चीज़ है मेरी रचना; उससे ज़्यादा ख़ास चीज़ है मुझे सुननेवालों या मेरी पुस्तकों को पढ़नेवालों की प्रतिक्रिया, उनका आनंद या उनपर जो असर पड़ता है। काव्य के ज़्यादातर प्रेमी रचना का रस लेते हैं; वे इन बातों को जानने के लिए उत्सुक नहीं होते कि, फलाँ रचना कब लिखी गई, कहाँ लिखी गई, कैसे लिखी गई या यह भी कि किसने लिखी; उसका अनुभव क्या है, शिक्षा क्या है, योग्यता क्या है। या यह कि उसकी रचना या उसके बारे में लोग क्या कहते या लिखते हैं। पर इस तरह की जिज्ञासा भी थोड़े-से लोगों में होती है और इसी की तृप्ति के लिए किताबों के ऊपर किताबें लिखी जाती हैं, किताबों के ऊपर लिखी किताबों पर लेख लिखे जाते हैं, किताबें भी लिखी जाती है। आज मैं जो बातें कहने जा रहा हूँ, वह शायद ऐसे ही कौतूहल को शांत करने के लिए। 'मधुशाला' के बारे में इनसे आपकी जानकारी कुछ बढ़ जाय, यह और बात है, पर 'मधुशाला' की कविता से जो रस या आनंद आपको मिलता रहा है, उसमें इस ज्ञान से कुछ भी अभिवृद्धि हो सकेगी, यह बात मैं नहीं मानता। आनंद देने का काम तो 'मधुशाला' की कविता को करना है—अकेले करना है—'संग सहाय न दूजा'। पता नहीं आपका अनुभव क्या है, पर मेरे और मेरी प्रिय कविता के बीच में जो आते हैं, उन्हें मैं दाल-भात में मूसरचंद ही समझता हूँ।

'मधुशाला' का प्रथम संस्करण सन् १९३५ में छपा था। दस संस्करणों तक प्रायः उसका पुनर्मुद्रण ही होता रहा है। ११वाँ संस्करण मेरे केम्ब्रिज से लौटने के बाद हुआ। वहाँ डब्ल्यू० बी० ईट्स की कविताओं पर अनुसंधान

करते हुए मेरी कुछ धारणाएँ बदल गई। ईट्स अपनी रचनाओं के प्रायः हर नए संस्करण में कुछ-न-कुछ संशोधन कर दिया करते थे। उनका कहना था कि अपनी चीज़ों को जीवनपर्यंत सुधारते-सँवारते रहना कलाकार का अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी है। जब मैं किसी पंक्ति को, बरसों के अनुभव और ज्ञान के बाद ही सही, अधिक सुंदर रूप में रख सकता हूँ तो क्यों न रक्खूँ? अपने ही लिखे हुए को मैं पत्थर की लकीर क्यों समझूँ? संशोधन सर्वदा रचना को ज़्यादा अच्छी बना देता है, यह कहना कठिन है। ईट्स के संशोधनों से उनकी कविताएँ अधिक सुंदर हुई हैं। उन्होंने तो अपने पूर्व लिखित गद्य को भी सुधारा है, जिससे उसमें अधिक सुघरता और स्पष्टता आई है। दूसरी ओर फ़िट्ज़जेरल्ड ज्यों-ज्यों रुबाइयात उमर खैयाम के अपने अनुवाद को सुधारते गए त्यों-त्यों वह खराब होता गया। उसके प्रथम संस्करण को ही लोग सबसे अच्छा समझते हैं। मधुशाला के ग्यारहवें संस्करण में मैंने भी यह ख़तरे का काम कर डाला है। यानी मधुशाला को मैंने जहाँ-तहाँ संशोधित कर दिया है। अच्छे के लिए या बुरे के लिए यह तो मेरे पाठक ही बताएँगे। मैंने अच्छे के लिए ही परिवर्तन किए हैं। अपने इरादे को मादिन करने के लिए एक उदाहरण दे दूँ। 'मधुशाला' की ११२वीं रुबाई इस प्रकार थी :

कितनी जल्दी रंग बदलती
है अपना फेनिल हाला;
कितनी जल्दी घिसने लगता
हाथों में आकर प्याला,
कितनी जल्दी साक़ी का
आकर्षण घटने लगता है;
हाय, दूसरे ही दिन पहले
सी न गई रह मधुशाला।

इसमें, प्रथम पंक्ति में मैंने 'फेनिल हाला' के बजाय 'चंचल हाला' कर दिया है। ध्यान यह आया कि अगर हाला के ऊपर फेन है तो हाला के रंग के परिवर्तन को वह एक प्रकार से छिपाएगा। परिवर्तन इतना स्पष्ट नहीं होगा। जैसे घूँघट के भीतर ही भीतर किसी बाला का रूप ढलता जाए और पता न लगे। परिवर्तन से भिज्ञ होने को घूँघट उठाना पड़ेगा, फेन हटाना पड़ेगा। चंचल

के लिए रंग बदलना स्वाभाविक है। पंक्ति यों हो गई :

कितनी जल्दी रंग बदलती
है अपना चंचल हाला।

'जल्दी', 'रंग बदलती' के साथ 'चंचल' का ध्वनि साम्य भी अधिक कर्णप्रिय है। विशेष परिवर्तन मैंने किया है अंतिम पंक्ति में। पहले वह थी :

हाय, दूसरे ही दिन पहले
सी न गई रह मधुशाला।

अब उसे मैंने कर दिया है :

प्रात नहीं थी वैसी जैसी
रात लगी थी मधुशाला।

'हाय-हूय' करके वेदना व्यक्त करना अब मुझे कुछ बाजारू-सा लगने लगा है, सस्तापन भी। कला, कहने की कला होने के पहले, न कहने की कला है। कलाकार को जानना चाहिए कि उसे क्या न कहना चाहिए। भावातिरेक से भाव-संयमन पाठक या श्रोता की संवेदना जगाने का अधिक कलापूर्ण साधन है। मेरा बस चले तो भावातिरेक के सबसे भोंडे रूप में आए हुए 'हाय' को मैं अपनी कविता से ही नहीं, हिंदी की सारी कविताओं से निकाल दूँ। 'हाय' कहीं अनिवार्य रूप से भी आ सकता है। बहरहाल यहाँ का 'हाय' तो मुझे निकालने योग्य ही मालूम हुआ। फिर 'दिन' और 'दिन' की तुलना में 'प्रात' और 'रात' की तुलना अधिक स्पष्ट, अर्थपूर्ण और मार्मिक लगी। शब्द योजना ऐसी बन गई कि पंक्ति का पूर्वार्द्ध उसके उत्तरार्द्ध से जैसे संतुलित हो गया। 'प्रात' और 'रात' का अंतर 'दिन', 'दिन' के अंतर से कम है। परिवर्तन कितनी जल्दी हो जाता है ! फिर रात के धुँधले, स्वप्निल वातावरण में देखी हुई सुषमा प्रभात की तीखी ज्योति में कितनी विवर्ण, निस्तेज और फीकी लगती है ! क्या मैं विश्वास कर लूँ कि आपको भी

हाय, दूसरे ही दिन पहले
सी न गई रह मधुशाला।

से

प्रात नहीं थी वैसी जैसी
रात लगी थी मधुशाला।

ज़्यादा अच्छी लगती है ?

'मधुशाला' के नए संस्करण में मैंने चार रुबाइयाँ और जोड़ दी हैं। ये परिशिष्ट में दी गई हैं। जिन-जिन प्रसंगों में मैंने नई रुबाइयाँ लिखीं उनकी भी चर्चा मैंने की है। नई रुबाइयों में से एक तो आपको सुना ही दूँ। यह 'मधुशाला' की लोकप्रियता पर है। 'मधुशाला' से लोग अब भी काव्यानंद लेते हैं। ध्यान आया, ऐसा हो तो ताज्जुब नहीं; शराब तो जैसे-जैसे पुरानी होती है वैसे-वैसे उसका नशा बढ़ता जाता है। रुबाई लिखी :

"बहुतों के सिर चार दिनों तक
चढ़कर उतर गई हाला,
बहुतों के हाथों में दो दिन
छलक, झलक रीता प्याला;
पर बढ़ती तासीर सुरा की
साथ समय के, इससे ही
और पुरानी होकर मेरी
और नशीली मधुशाला;"

नए संस्करण में पहली बार एक भूमिका भी लिखी, जिसमें मैंने भूमिकाओं की निरर्थकता बतलाई। किसी भी बात को सबसे अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से कहने की कला का नाम कविता है। जो बात मैं अपनी कविता से नहीं कह पाऊँगा, वह मैं अपनी भूमिका से क्या कहूँगा;...तेईस वर्षों में जो चीज़ लोग 'मधुशाला' में अपने आप नहीं देख सके, वह मेरी भूमिका से क्या देखेंगे।

'मधुशाला' का आकर्षण दूर-दूर तक अनुभव किया गया। किसी सज्जन ने उसका मराठी अनुवाद करके मेरे पास भेजा। मराठी न जानने से मैं उसका उचित मूल्यांकन न कर सका। पांडुलिपि मेरे पास रक्खी है। जहाँ तक मुझे मालूम है छपी नहीं। मेरे 'बंगाल का काल' के अनुवादक श्री भूपेन्द्रनाथ दास ने 'मधुशाला' की बहुत-सी रुबाइयों का अनुवाद बँगला में किया है। कुछ उन्होंने मेरे पास लिख भेजा है, कुछ मैं उनके मुख से सुन चुका हूँ। वह भी अभी अप्रकाशित है। 'मधुशाला' का सर्वप्रथम संपूर्ण अनुवाद १९५० में अंग्रेज़ी में 'The House of Wine' के नाम से प्रकाशित हुआ। उसे ऑक्सफ़ोर्ड युनि-

र्सिटी की विदुषी स्नातिका कुमारी मार्जरी बोल्टन ने श्री रामस्वरूप व्यास की मदद से तैयार किया था। खड़ीबोली हिंदी कविता की यह सर्वप्रथम कृति थी जो अंग्रेज़ी में अनूदित हुई। अपनी कविता के अनुवाद के विषय में मैंने यह सिद्धांत रक्खा है कि जब अन्य भाषा-भाषी स्वयं उसका अनुवाद करना चाहें तभी उनको इसके लिए अनुमति दी जाय। मैंने 'बंगाल का काल' के बँगला अनुवाद की अनुमति तब दी, जब एक बंगाली ने उसे करना चाहा। 'मधुशाला' के अंग्रेज़ी अनुवाद की अनुमति मैंने एक अंग्रेज़ महिला को दी। आजकल एक आंध्र निवासी उसका अनुवाद तेलगु में कर रहे हैं। मैं तो तेलगु जानता नहीं पर आकाशवाणी, हैदराबाद के प्रोड्यूसर श्री राममूर्ति रेणु की सम्मति में अनुवाद काफ़ी अच्छा है।

एक सज्जन ने 'मधुशाला' का अनुवाद 'उर्दू' में भी करके मेरे पास भेजा। नागरी अक्षरों में। उर्दू को मैं हिंदी की ही एक शैली मानता हूँ। एक शैली को दूसरी शैली में रखकर उन्होंने मेरी रचना को बिगाड़ा ही था। इसके प्रकाशन की अनुमति मैंने नहीं दी। वे इसे नागरी लिपि में प्रकाशित करना चाहते थे!

'मधुशाला' लिखने की प्रेरणा मुझे फिट्ज़जेरल्ड के 'रूबाइयात उमर खैयाम' से मिली। उसका अनुवाद भी मैंने किया। उमर खैयाम की रूबाइयाँ तो आज से ६-७ सौ बरस पहले लिखी गई थीं, पर फिट्ज़जेरल्ड ने उन्हें जिस रूप में अंग्रेज़ी में रक्खा उसमें वे आधुनिक युग के संघर्ष-संदेहशील बुद्धिजीवियों की मन:स्थिति का दर्पण बन गईं। रूबाईयात की विस्तृत विवेचना मैंने अपनी खैयाम की मधुशाला की भूमिका में की है। १९३० में लगभग भारतवर्ष में भी कुछ ऐसी हवा बही कि केवल हिंदी में ही 'रूबाइयात उमर खैयाम' के आठ दस अनुवाद हुए। अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसी समय उमर खैयाम के अनुवाद हुए। इस वातावरण का विश्लेषण भी मैंने अपनी उक्त भूमिका में किया है। विचार और भावों को छोड़ भी दें तो फिट्ज़जेरल्ड की रूबाइयाँ अपने शब्द गुणों के कारण उच्चकोटि की कविता के अंतर्गत मानी जाएँगी। 'रूबाइयात उमर खैयाम' का जो प्रभाव मुझपर पड़ा उसे मैंने एक कविता में व्यक्त किया है। उसे सुनाने का समय नहीं है। कविता 'आरती और अंगारे' में है।

'मधुशाला' को 'रूबाइयात उमर खैयाम' का अनुकरण मात्र कहना मैं पसंद न करूँगा। उसमें 'कुछ अपनेपन' की चेतना का आभास मैंने प्रथम संस्करण के संबोधन में ही दे दिया था। जहाँ तक मुझे मालूम है किसी ने उमर खैयाम और मेरे दृष्टिकोण में अंतर देखने का प्रयत्न नहीं किया। अंग्रेज़ी अनुवाद (The House of Wine) की भूमिका में मेरे मित्र स्वर्गीय श्री ज्ञानप्रकाश जौहरी ने इस ओर कुछ संकेत किया है। उनका कहना है कि उमर खैयाम में जीवन के प्रति वितृष्णा है और मुझमें जीवन के प्रति आसक्ति। इस विचार का एक विस्तृत अंग्रेज़ी लेख कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने बरेली कालेज मैगज़ीन में भी लिखा था।

यदि अनुवाद से मेरी भावनाएँ उमर खैयाम से एकाकार हो जातीं तो शायद मैं 'मधुशाला' न लिखता। मुझे इस अंतर पर कुछ नहीं कहना है। यदि मेरे पाठक चाहें तो उसे देखने का प्रयत्न करें।

उमर खैयाम से जो मैंने खास बात सीखी वह यह थी कि हाला, प्याला, और मधुशाला के प्रतीक बड़े व्यापक हैं और उन्हें केवल प्रेमानुभूति अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। उर्दू कविता से थोड़ा-बहुत परिचित होने के कारण मैं उन प्रतीकों के सीमित प्रयोग से अनभिज्ञ न था। इन प्रतीकों ने मुझे ऐसा अभिभूत कर लिया कि कई वर्षों तक मुझे यह लगा कि जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ सब इन्हीं प्रतीकों के द्वारा कह सकता हूँ। 'मधुशाला', 'मधुबाला', और 'मधुकलश' में प्राय: मैं इन्ही प्रतीकों की ओर झुका रहा। इन कविताओं को 'हालावाद' के नाम से पुकारा गया। यह तो सतही बात की गई। इनको प्रतीकवादी कहा जाता तो अधिक वैज्ञानिक होता। मैंने इसकी महत्ता केवल इतनी मानी कि इस कविता को लोग छायावाद के गल्ले में न डाल सके। यह उससे कुछ अलग चीज़ थी; आज भी यह अपनी सत्ता अलग बनाए हुए है। शायद अभी तक इस बात की छानबीन होनी बाक़ी है कि वे कौन-से कारण हैं जिन्होंने इसे यह पृथकता और प्रमुखता दी है। मेरे पाठक और प्रेमी इस रहस्य को जानते हैं, इसका मुझे विश्वास है।

१९५७]

मेरी रचना प्रक्रिया

(रेडियो वार्ता)

आपने यह कहावत किसी न किसी मौके पर ज़रूर सुनी होगी, 'आपको आम खाने से मतलब है कि पेड़ गिनने से ?'—मैंने कविताएँ लिखी हैं, छपाई हैं, सुनाई हैं; आप उन्हें पढ़-सुनकर उनसे किसी प्रकार का आनंद प्राप्त करते रहे हैं और अब आपकी जिज्ञासा यह जानने की हुई है कि मैं कविता कैसे लिखता हूँ, कब लिखता हूँ, कहाँ लिखता हूँ, क्यों लिखता हूँ आदि-आदि। यदि कविता का रस लेना आम के रस लेने-जैसा ही होता तो मैं ऊपर की कहावत को दुहराकर आपका मुँह बंद कर देता। पेड़ गिनने से आम के रस के स्वाद में किसी प्रकार का अंतर नहीं आने को है, पर कविता के संबंध में यदि इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया जाय या जान लिया जाय तो इसके रस में अंतर आ जाएगा। इसी जिज्ञासा के आधार पर कविता का आस्वादन करनेवालों को दो दलों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो वह जो कविता से मिलने वाले आनंद पर ही संतुष्ट हो जाता है और फिर उसके विषय में कोई प्रश्न नहीं पूछता। दूसरा वह जिसमें हृदय के साथ मस्तिष्क, भावना के साथ बुद्धि भी सक्रिय होती है और वह कविता के विषय में इस प्रकार की जिज्ञासाएँ रखता है। यह वही प्रवृत्ति है जो विकसित होकर समालोचक को जन्म देती है। ज़ाहिर है कि केवल आनंद लेनेवालों का दल बड़ा और समालोचकों का दल छोटा है। पर प्रवृत्ति अस्वाभाविक नहीं है। लोग आम भी खाते हैं और पेड़ भी गिनते हैं। नहीं तो यह कहावत न बनती।

लेकिन पेड़ गिना देना जितना सरल काम है उतना यह बता देना नहीं कि रचना कैसे की जाती है। रचना यदि सच्चे अर्थों में रचना है, जिसमें रचनाकार का परिपूर्ण व्यक्तित्व तल्लीन है तो वह सृजनात्मक प्रक्रिया है। सृजन कैसे होता है, इसे जानना या बतलाना विश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। और

'मधुशाला' को 'रूबाइयात उमर खैयाम' का अनुकरण मात्र कहना मैं पसंद न करूँगा। उसमें 'कुछ अपनेपन' की चेतना का आभास मैंने प्रथम संस्करण के संबोधन में ही दे दिया था। जहाँ तक मुझे मालूम है किसी ने उमर खैयाम और मेरे दृष्टिकोण में अंतर देखने का प्रयत्न नहीं किया। अंग्रेज़ी अनुवाद (The House of Wine) की भूमिका में मेरे मित्र स्वर्गीय श्री ज्ञानप्रकाश जौहरी ने इस ओर कुछ संकेत किया है। उनका कहना है कि उमर खैयाम में जीवन के प्रति वितृष्णा है और मुझमें जीवन के प्रति आसक्ति। इस विचार का एक विस्तृत अंग्रेज़ी लेख कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने बरेली कालेज मैगज़ीन में भी लिखा था।

यदि अनुवाद से मेरी भावनाएँ उमर खैयाम से एकाकार हो जातीं तो शायद मैं 'मधुशाला' न लिखता। मुझे इस अंतर पर कुछ नहीं कहना है। यदि मेरे पाठक चाहें तो उसे देखने का प्रयत्न करें।

उमर खैयाम से जो मैंने खास बात सीखी वह यह थी कि हाला, प्याला, और मधुशाला के प्रतीक बड़े व्यापक हैं और उन्हें केवल प्रेमानुभूति अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। उर्दू कविता से थोड़ा-बहुत परिचित होने के कारण मैं उन प्रतीकों के सीमित प्रयोग से अनभिज्ञ न था। इन प्रतीकों ने मुझे ऐसा अभिभूत कर लिया कि कई वर्षों तक मुझे यह लगा कि जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ सब इन्हीं प्रतीकों के द्वारा कह सकता हूँ। 'मधुशाला', 'मधुबाला', और 'मधुकलश' में प्रायः मैं इन्ही प्रतीकों की ओर झुका रहा। इन कविताओं को 'हालावाद' के नाम से पुकारा गया। यह तो सतही बात की गई। इनको प्रतीकवादी कहा जाता तो अधिक वैज्ञानिक होता। मैंने इसकी महत्ता केवल इतनी मानी कि इस कविता को लोग छायावाद के गल्ले में न डाल सके। यह उससे कुछ अलग चीज़ थी; आज भी यह अपनी सत्ता अलग बनाए हुए है। शायद अभी तक इस बात की छानबीन होनी बाक़ी है कि वे कौन-से कारण हैं जिन्होंने इसे यह पृथकता और प्रमुखता दी है। मेरे पाठक और प्रेमी इस रहस्य को जानते हैं, इसका मुझे विश्वास है।

१९५७]

मेरी रचना प्रक्रिया

(रेडियो वार्ता)

आपने यह कहावत किसी न किसी मौके पर ज़रूर सुनी होगी, 'आपको आम खाने से मतलब है कि पेड़ गिनने से ?'—मैंने कविताएँ लिखी हैं, छपाई हैं, सुनाई हैं; आप उन्हें पढ़-सुनकर उनसे किसी प्रकार का आनंद प्राप्त करते रहे हैं और अब आपकी जिज्ञासा यह जानने की हुई है कि मैं कविता कैसे लिखता हूँ, कब लिखता हूँ, कहाँ लिखता हूँ, क्यों लिखता हूँ आदि-आदि। यदि कविता का रस लेना आम के रस लेने-जैसा ही होता तो मैं ऊपर की कहावत को दुहराकर आपका मुँह बंद कर देता। पेड़ गिनने से आम के रस के स्वाद में किसी प्रकार का अंतर नहीं आने को है, पर कविता के संबंध में यदि इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया जाय या जान लिया जाय तो इसके रस में अंतर आ जाएगा। इसी जिज्ञासा के आधार पर कविता का आस्वादन करनेवालों को दो दलों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो वह जो कविता से मिलने वाले आनंद पर ही संतुष्ट हो जाता है और फिर उसके विषय में कोई प्रश्न नहीं पूछता। दूसरा वह जिसमें हृदय के साथ मस्तिष्क, भावना के साथ बुद्धि भी सक्रिय होती है और वह कविता के विषय में इस प्रकार की जिज्ञासाएँ रखता है। यह वही प्रवृत्ति है जो विकसित होकर समालोचक को जन्म देती है। ज़ाहिर है कि केवल आनंद लेनेवालों का दल बड़ा और समालोचकों का दल छोटा है। पर प्रवृत्ति अस्वाभाविक नहीं है। लोग आम भी खाते हैं और पेड़ भी गिनते हैं। नहीं तो यह कहावत न बनती।

लेकिन पेड़ गिना देना जितना सरल काम है उतना यह बता देना नहीं कि रचना कैसे की जाती है। रचना यदि सच्चे अर्थों में रचना है, जिसमें रचनाकार का परिपूर्ण व्यक्तित्व तल्लीन है तो वह सृजनात्मक प्रक्रिया है। सृजन कैसे होता है, इसे जानना या बतलाना विश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। और

यह सर्वमान्य धारणा है कि सृजन के क्षण में विश्लेषण और विश्लेषण के क्षण में सृजन नहीं हो सकता। रचना प्रक्रिया जानने की जिज्ञासा हो भी तो उसे सम्यक् रूप से शांत करने के लिए कोई सर्जक समर्थ हो सकेगा, इसमें मुझे संदेह है। केवल रचना के विश्लेषण से भी रचना-प्रक्रिया का अनुमान भर किया जा सकता है, ज्ञान नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि रचना प्रक्रिया का रहस्य पूरी तरह से नहीं खुल सकता, और इस रहस्य में किसी भी बड़ी रचना का सौंदर्य निहित है।

मैं अपनी बहुत-सी रचनाओं के पीछे देखने का प्रयत्न करता हूँ तो मुझे लगता है कि उनका जन्म मेरे अनुभवों में हुआ है। जिन अनुभवों को मैंने किसी दिन अनोखा, अद्भुत, एकमात्र मेरा समझा था, अब मैं समझता हूँ कि उनमें कुछ भी ऐसा नहीं था। लेकिन उनकी प्रतिक्रिया अवश्य ही मेरे भावप्रवण मन में तीव्र, तीखी, बेचैन करनेवाली रही होगी, क्योंकि यदि वह ऐसी न होती तो मुझे उन्हें अभिव्यक्त करने, उन्हें रूपमय और रसमय बनाने को विवश न करती। मैंने अपने अनुभवों की परिधि व्यापक रक्खी है, मैंने उनके अंदर कल्पना को भी जगह दी है। पर कोई कल्पना क्यों इतनी सजीव होती है कि वह अनुभवों से अधिक प्राणमयी लगती है, इसे बताना मनोवैज्ञानिकों का काम है। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि ऐसा होता है। अनुभवों की प्रतिक्रिया के समान कल्पना की प्रतिक्रिया भी असह्य होती है और अभिव्यक्ति में सुख का अनुभव होता है, एक तरह की राहत मिलती है।

जब पहली बार मेरी अनुभूति शब्दों में फूट पड़ी थी तब मैंने अवश्य अपने से यह प्रश्न किया था कि क्या मैं कवि हूँ ? कवि हूँ तो 'कविहिं अरथ आखर बल साँचा'—कवि हूँ तो मुझे शब्दों के माध्यम से अपने को व्यक्त करना होगा। इस कारण शब्दों के माध्यम पर मुझे अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करना चाहिए—साहित्य के स्वाध्याय से, काव्यपाठ से, काव्य के मर्म को समझने के प्रयत्न से। मैं हिंदी, अंग्रेजी थोड़ी संस्कृत और थोड़ी उर्दू जानता हूँ, बहुत थोड़ी बँगला भी, और उनके माध्यम से जो कुछ साहित्य, काव्य मुझे पढ़ने को मिला है, उसका मैंने अध्ययन किया है। अब भी समय मिलने पर पढ़ता रहता हूँ। मैं नवयुवक कवियों को अक्सर सलाह देता हूँ कि सौ पेज पढ़ो तो एक पंक्ति लिखो। मेरे पढ़ने-लिखने का अनुपात लगाया जाय तो मैं पर-उपदेश

कुगन ही नहीं सिद्ध हूँगा।

अनुभवों में डूब और अभिव्यक्ति के माध्यम पर यथासंभव अधिकार प्राप्त करके मैंने अपने आपको प्रेरणा पर छोड़ दिया है। प्रेरणा के अस्तित्व को मैं मानता हूँ। किसी मनःस्थिति में, किसी परिस्थिति में, किसी घटना से, किसी दृश्य से, किसी विचार से सर्जक की वह प्रवृत्ति सहसा जाग उठती है जो सृजन के लिए विवश करती है। इसको अंग्रेज़ी में 'अर्ज' कहते हैं। हिंदी में उसके जोड़ का कोई अच्छा शब्द मुझे नहीं सूझ रहा है। 'धुन सवार होना' आप चाहें तो कह सकते हैं। प्रेरणा मिली हो और लिखने की 'अर्ज' भीतर से हुई हो तो मेरा ऐसा अनुभव है कि रचना अच्छी होती है। कवि को कभी-कभी बिना अंतर्प्रेरणा के और बिना भीतरी 'अर्ज' के लिखना पड़ सकता है। शब्दों पर अधिकार होने के कारण वह कोई ऐसी रचना तो कर ही सकता है जो शुद्ध हो, साधारण दृष्टि से बुरी न हो। परंतु अच्छी रचना में जो सर्वश्रेष्ठ होता है वह प्रयत्न से नहीं, प्रेरणा से आता है। वह उत्पादित नहीं किया जाता है, वह मिलता है, वह दिया जाता है। इसके लिए भी अंग्रेज़ी में एक बड़ा अच्छा शब्द है, वह 'रिवील्ड' होता है। उसके लिए जैसे कोई दिव्य दृष्टि दे देता है। यह अपनी शक्तियों-योग्यताओं के किसी रहस्यमय संघात से संभव होता है कि सर्वथैव किसी बाहरी शक्ति से, इसे निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। यदि कोई बाहरी शक्ति है, तो भी वह माध्यम अथवा क्षेत्र के अधिकारी होने का ध्यान रखती होगी, नहीं तो हमें अपनी अद्‌भुत प्रतिभा से चकित करनेवाले बहुत-से लोग मिलते। बिना कागद-मसि छुए कितने कबीर हुए हैं?

किसी कवि के लिए आदर्श परिस्थिति तो यही हो सकती है कि जीवन और साहित्य के स्वाध्याय से परिपक्व होकर वह प्रेरणा की प्रतीक्षा करे और अपनी 'अर्ज' के अनुसार लिखने को स्वतंत्र हो। मुझे दुर्भाग्यवश ऐसी परिस्थितियाँ सदा नहीं मिलीं। मैं शत-प्रतिशत कवि नहीं रह सका। मुझे अपने और अपने ऊपर निर्भर रहनेवालों के लिए जीविका के साधन जुटाने को प्रायः सदा ही कुछ ऐसा काम करना पड़ा है जो सृजन की पूरी स्वतंत्रता नहीं देता। मुझे क्लास में पढ़ाते हुए भी प्रेरणा हुई है, कचहरियों के इजलास पर भी, परेड के मैदान में भी, सरकारी दफ्तरों की फ़ाइलों के बीच भी। और सदा मैंने उन्हें सँजोकर किसी सुविधाजनक समय पर उनका उपयोग करने का प्रयत्न किया

है । कुछ प्रेरणाएँ क्षिप्रगामी विहंगों के समान भी थीं, वे मेरी मस्तिष्क की क्षीण तीलियों को तोड़कर निकल भी गई हैं और मैं उन्हें फिर नहीं पकड़ पाया । कभी-कभी प्रेरणा पाने पर 'अर्ज' के साथ-साथ चलने का सुअवसर भी मुझे मिला है । कभी मैंने ऐसा भी अनुभव किया है कि रचना की सुविधाजनक परिस्थितियों की प्रतीक्षा करने के कारण प्रेरणा ने कुछ खोया नहीं, वह भीतर ही भीतर और परिपक्व हुई है । सदा प्रेरणा के क्षणों में रचना करने से रचना उत्तम ही हुई हो, ऐसा भी नहीं कह सकता । मन को शायद अधिक संतोष भले ही मिल जाता हो । समय पर न लिख सकने की असमर्थता से जैसे बड़ी कोफ़्त होती है । पर मन के संतोष अथवा कोफ़्त से रचना के अच्छी-बुरी होने का कोई अनिवार्य संबंध नहीं मान सकता ।

रचना करते समय भाव-विचारों की अभिव्यक्ति ही मेरा मुख्य ध्येय होता है । शब्दों अथवा अभिव्यंजना के नए प्रयोगों के लिए कुछ लिखना मुझे अस्वाभाविक लगता है । जीवन के प्रयोग की अवस्था चल रही हो तो अभिव्यक्ति का प्रयोग स्वाभाविक हो सकता है । किस रचना के लिए मैं किस प्रकार का छंद, किस प्रकार की शैली, किस प्रकार के रूपक का उपयोग करूँ ?—इसे मैं पहले से नहीं सोच पाता । यह सब मैं अभिव्यंजना के लिए व्याकुल होने वाले अनुभवों पर छोड़ देता हूँ । एक उदाहरण है--मैंने लगभग १९३१ से लिखना शुरू किया था और लगभग बारह वर्ष तक तुकांत छंदों में ही लिखता गया । १९४२ में बंगाल के अकाल के प्रति मेरे मन में जो प्रतिक्रिया हुई, वह सहसा छंदों का बाँध तोड़ मुक्त छंद में प्रवहमान हुई । मैं समझता हूँ कि यदि मैं 'बंगाल का काल' छंदमय भाषा में लिखता तो वह शायद इतनी सबल रचना न होती । अट्ठाईस बरस तक खड़ीबोली में लिखने के पश्चात और उसमें यत्किंचित अधिकार प्राप्त करने पर भी जब मेरे मन में 'गीता' का अनुवाद करने की प्रेरणा हुई तो मैंने उसे अवधी में किया । मेरा विश्वास तो यही है कि 'गीता' की आध्यात्मिकता, दार्शनिकता, गरिमा उसी भाषा और शैली में अपनी कुछ झलक दे सकती थी जिसमें 'रामचरितमानस' लिखा गया था । इन बातों में कवि की प्रेरणा कहाँ तक सच्ची थी इसे समय ही बता सकता है ।

संक्षेप में मेरी रचना की प्रक्रिया, जहाँ तक मैं अपने को समझ सकता हूँ, यही है । रचना प्रक्रिया कोई रूढ़ि नहीं । कोई किसी की बताई प्रक्रिया का

अनुसरण कर लेखक अथवा कवि बनना चाहे तो उसे कठिनता ही होगी। सच तो यह है कि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार हर लेखक को अपनी प्रक्रिया स्वयं बनानी पड़ती है। मस्तिष्क की साधारण प्रक्रियाएँ भी बड़ी रहस्यमय हैं। मनोवैज्ञानिक अभी उसका क-ख-ग भर जान पाए हैं। सृजन की प्रक्रिया का फिर क्या कहना, जिससे अपना ही नहीं, जन-मानस, युग-मानस, परंपरागत मानस एक साथ काम करते हैं। इन सबको एकसाथ जगा, एक ध्येय पर लगा, एक परिपूर्ण कृति में कैसे परिणत किया जाय, बड़ी पेचीदी और कठिन समस्या है। पर आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि एक बड़े कवि ने उसे बड़ी आसानी से हल कर लिया था। उसकी प्रेरणा सड़े सेबों की दुर्गंध से जागती थी। वह अपनी मेज़ की दराज़ सेबों से भरी रखता था और उनको खोलते ही उसकी सारी सृजन-शक्ति सजग और सक्रिय हो उठती थी !

१९६०]

अनुवाद की समस्या

विज्ञान की उन्नति का एक सद् परिणाम यह हुआ है कि दुनिया के दूर-दूर के लोग निकट आते जा रहे हैं। पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए भाषा की एकता सबसे बड़ा साधन है और भाषा की विभिन्नता सबसे बड़ी बाधा। दुभाषिए सहायक हो सकते हैं।

संसार की भौगोलिक निकटता प्राप्त कर लेने पर बौद्धिक और मानसिक एकता भी स्थापित करने की आवश्यकता होती है। संसार के एक भूभाग में जो ज्ञान अर्जित किया गया है उसे दूसरे भाग के लिए सुलभ करने के लिए अनुवादों की सहायता लेनी पड़ती है। पर इससे भी बड़ी आवश्यकता है कि संसार के लोग जब निकट आ गए हैं तो वे एक-दूसरे की आत्मा को भी समझें। यदि किसी देश अथवा जाति की आत्मा उसके साहित्य-काव्य में नहीं तो और कहाँ मिलेगी ? अंग्रेज़ को समझना है तो शेक्सपियर को समझना होगा। भारतीय को समझना है तो तुलसीदास को समझना होगा। इस प्रकार एक भाषा के साहित्यिक ग्रंथों का दूसरी भाषा में अनुवाद करना ज़रूरी है।

संसार के सबसे प्राचीन अनुवादक शायद बौद्ध भिक्षु रहे हैं। पर उनका लक्ष्य था —धर्म-प्रचार। ज्ञान-विज्ञान के ग्रंथों का अनुवाद करने में शायद अरब के मुसलमानों को सबसे ऊँचा स्थान मिलेगा। आधुनिक संसार में अनुवादों के प्रति जितनी रुचि अंग्रेज़ों ने दिखलाई, शायद किसी अन्य जाति ने नहीं। हो सकता है कि अंग्रेज़ अपना विश्वव्यापी राज्य फैलाने के लिए सारे संसार के लोगों को जानना चाहते थे और इस कारण उन्होंने विश्व के सारे प्रसिद्ध साहित्य का अनुवाद अपनी भाषा में कर लिया है। पर इस सत्य से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि जिस जाति का अनुवाद-साहित्य जितना विपुल है, उसके पास संसार को समझने के उतने ही विपुल साधन हैं। इसके अलावा इन अनुवादों ने अंग्रेज़ी भाषा की क्षमता में कितनी वृद्धि की है !

अनुवाद की महत्ता और आवश्यकता स्वीकार कर लेने पर उसकी कठिनता की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। धर्म और विज्ञान के ग्रंथों का अनुवाद करना अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि उनमें भाषा वस्तुतथ्य का परिधान मात्र है; जब हम साहित्यिक ग्रंथों के अनुवाद की बात सोचते हैं तब भाव और विचार और भाषा को अलग करके नहीं देख सकते। यहाँ भाव-विचारों का संबंध शरीर और वस्त्र का नहीं, बल्कि शरीर के मांस और त्वचा का है। और चूंकि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता, इस कारण कुछ लोग ऐसा सोचते हैं, और उनकी धारणा में कुछ सच्चाई भी है कि एक भाषा की साहित्यिक रचना का अनुवाद दूसरी भाषा में नहीं हो सकता। फिर भी अनेक साहित्यिक रचनाओं के अनुवाद हुए हैं और कई अनुवाद तो ऐसे हुए हैं कि उन्होंने मूल की बराबरी की है। फ़िट्ज़जेरल्ड के 'रूबाइयात उमर ख़ैयाम' के अनुवाद के विषय में यह बात अनेक पारखियों और विद्वानों ने कही है कि वह मूल से भी अच्छा है। कैरी ने जब इटालवी कवि दांते की 'डिवाइन कमीडी' का अनुवाद अंग्रेज़ी में किया तब विद्वानों ने कहा कि कैरी ने दांते को अंग्रेज़ बना दिया है। अनुवाद की सफलता की इससे अधिक प्रशंसा नहीं हो सकती।

सरल अनुवादक के लिए यह आवश्यक है कि वह जिस भाषा से अनुवाद करे और जिस भाषा में करे, दोनों पर उसका समान अधिकार हो। साहित्यिक ख्याति के ग्रंथों के लिए यह और भी आवश्यक है कि उसके साथ अनुवादक का रागात्मक संबंध हो। फ़िट्ज़जेरल्ड ने जब ख़ैयाम का अनुवाद किया तब वे संयोगवश रूबाइयों की भावना में भीगे हुए थे। इस पर मैंने अपनी 'ख़ैयाम की मधुशाला' में विस्तार से प्रकाश डाला है।

यूनानी विद्वानों ने कला के संबंध में जो सबसे बड़ी बात कही थी, वह यह थी कि कला को कला नहीं प्रतीत होना चाहिए। उसे स्वाभाविक लगना चाहिए। इसी प्रकार अनुवाद को अनुवाद नहीं लगना चाहिए, उसे मौलिक लगना चाहिए। यह तभी संभव है जब सृजन में शब्द के स्थान को सूक्ष्मता से समझ लिया जाए। शब्द के स्थूल रूप और उसके कोश-पर्याय को अंतिम सत्य मान लेनेवाला सफल अनुवादक नहीं हो सकता। ऊपर कही गई मांस और त्वचा की बात हम न भूलें तो भी शब्द साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य तो वह भावना या विचार है, जो उसके पीछे है।

इसको मैं एक तरह की उलटबाँसी में रखना चाहता हूँ कि प्रत्येक मौलिक रचना अनुवाद होती है, अनुभूतियों, भावों-विचारों का अनुवाद शब्दों में। जब अनुवादक शब्दों के आवरण को भेदकर सूक्ष्म भावनाओं के स्तर पर पहुँचता है और वहाँ से अपनी भाषा में अभिव्यक्त होने का प्रयत्न करता है तब अनुवाद मौलिक लगता है। यह गिरा-अर्थ, जल-वीचि को अलग करना है, पर अनुवाद को सरल काम किसने समझ रक्खा है ?

१९६०]

कवि सम्मेलनों के कुछ कड़ुए-मीठे अनुभव

(रेडियो वार्ता)

आज आपको कवि सम्मेलनों के कुछ अनुभव सुनाने जा रहा हूँ। मैंने प्रायः १९३२-३३ से कवि सम्मेलनों में भाग लेना शुरू किया। इन पचीस वर्षों में छोटे-बड़े मिलाकर कोई ५०० कवि सम्मेलनों में तो भाग ले चुका हूँगा और इनमें तरह-तरह के अनुभव हुए हैं : सुखद, दुखद, मनोरंजक और विचित्र भी। कुछ आपके सामने रख रहा हूँ।

शायद आप यह जानना चाहेंगे कि सबसे पहला कवि सम्मेलन कौन था जिसमें मैंने भाग लिया। सन् १९३० और ३२ के बीच किसी समय प्रांतीय कांग्रेस के अधिवेशन पर कानपुर में एक कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया था। उस समय तक मेरी रचनाएँ न पत्रों में प्रकाशित हुई थीं और न पुस्तक रूप में। मुझे निमंत्रित कोई क्यों करता। मेरे एक पड़ोसी, जो उन दिनों कुछ पद्य-रचना करते थे, निमंत्रित किए गए थे या उन्होंने मुझपर ऐसा जमाया। मैं भी उन्हीं के साथ चला गया था। शायद उन्हीं के कहने से मुझे भी कविता पढ़ने को समय दिया गया था। मैंने 'झंडा' शीर्षक रचना सुनाई थी, जो अब 'प्रारंभिक रचनाएँ' प्रथम भाग में संगृहीत है। उन दिनों के राष्ट्रीय वातावरण में मेरी यह छोटी-सी तुकबंदी भी फब गई थी। कविता सुनाते समय मेरे पाँव काँप रहे थे और मुझे लग रहा था कि सम्मेलन में बैठी जनता मेरे चारों ओर घूम रही है। मित्र ने बताया कि मेरी आँखें आसमान देख रही थीं, मेरा चेहरा लाल हो गया था और माथे पर पसीने की बूँदें झलक आई थीं। सनेही जी सभापति के आसन पर थे। कविता सुनाकर बैठा तो उन्होंने अपने पास बुलाया और मेरी पीठ थपथपाई। इतनी बड़ी जनता के सामने कविता सुनाने का यह मेरा पहला अवसर था और इस कठिन परीक्षा में जो यत्किंचित सफलता मुझे मिली, उससे मैं बड़ा आत्म-विश्वास लेकर प्रयाग लौटा।

दिसम्बर, १९३३ में मेरी 'मधुशाला' की कुछ रूबाइयाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। उसी मास काशी विश्वविद्यालय में कवि-सम्मेलन होनेवाला था। वहाँ के तीन विद्यार्थी इंडियन प्रेस से मेरा पता पूछते हुए मेरे घर आए। मुझे देखकर वे कुछ निराश हुए। वे तो किसी नए उमर खैयाम की कल्पना करते हुए मेरे पास आए थे और मैं था कि ट्यूशन पढ़ाकर लौटा था।

काशी विश्वविद्यालय का कवि सम्मेलन शिवाजी हाल में हुआ था। सभा-पति का आसन प्रो० मनोरंजन ग्रहण कर रहे थे। विद्यार्थियों में कवि सम्मेलन के प्रति उन दिनों कोई विशेष आकर्षण नहीं था। उपस्थिति साधारण थी। यहाँ मैंने पहली बार 'मधुशाला' सुनाई और विद्यार्थियों ने जिस रसिकता, उमंग और उत्साह से उसे सुना, उसका वर्णन मेरे मुँह से अच्छा न लगेगा। श्री नरेन्द्र शर्मा और श्री वीरेश्वरसिंह (आजकल वकील, बाँदा) ने भी उस सम्मेलन में भाग लिया था। दूसरे दिन 'मधुशाला' सुनने को फिर एक सभा बुलाई गई और पहले दिन से दस गुने विद्यार्थी जमकर बैठे। मैंने पूरी 'मधुशाला' सुनाई और एक-एक रूबाई, दो-दो, तीन-तीन बार। प्रो० मनोरंजन ने दस-पंद्रह रूबाइयों की पैरोडी कर डाली, सुनकर मुझे जो क्रोध आया, वह मैं कह नहीं सकता। उस समय मुझमें 'सेंस आव ह्यूमर' अर्थात् विनोद-वृत्ति विकसित नहीं हुई थी। आज उस क्रोध करने पर भी हँसी आती है।

कथा चल पड़ी कि बच्चन बड़ा पियक्कड़ है। मैंने इसे अपनी कविता की सफलता माना। उत्तरप्रदेश के एक नगर से कवि-सम्मेलन का निमंत्रण आया। मैं पहुँचा तो मुझे बताया गया कि मुझे पीने की पूर्ण सुविधा देने के लिए मेरे रहने का इन्तज़ाम एक रईस की कोठी पर कर दिया गया है। मैंने कहा, "मैं तो पीता नहीं।" उन्होंने नए स्थान में इसे मेरा संकोच समझा। रईस ने अपनी पूरी आलमारी खोल दी, और तरह-तरह की शराब दिखाई "बच्चनजी, पीजिए, जो और जितना आपका जी चाहे।" वह तो पहले से ही पिए हुए थे और मेरे बारहा कहने पर भी न माने कि मैं नहीं पीता। उन्होंने कहा, "मैं आपको शराब से नहला दूँगा। शाम को कवि सम्मेलन में गया तो लौटकर उनके घर न गया। सामान दूसरी जगह मँगा लिया।

रामवृक्ष बेनीपुरी ने कहीं कुछ नवयुवकों को 'मधुशाला' पढ़-पढ़कर शराब पीते देखा था। उन्होंने मुक्त जी से कहलवाया कि बच्चन बिहार में क़दम रखेगा

तो मैं गोली मार दूँगा। मुक्त जी ने सिर्फ़ इतना कहा, लेखक ने मदिरा छुई तक नहीं। बिहार से निमंत्रण आया। मैंने स्वीकार कर लिया। मेरी पूर्व पत्नी श्यामा ने कहा, "बिहार न जाव, बेनीपुरी तुमका गोली मार देइहैं।" मैंने कहा, "बेनीपुरी हमका गोली मार देइहैं तो 'मधुशाला' अमर होय जाई।" वहाँ कवि सम्मेलन में कविता सुना रहा था और सोच रहा था कि बेनीपुरी पिस्तौल लेकर अब पहुँचे – तब पहुँचे। बेनीपुरी जी मिले तो उन्होंने छाती से लगा लिया। मैंने कहा, "गोली ?" उन्होंने कहा, "घर चलो"। तश्तरी भरकर रसगुल्ला उन्होंने मेरे आगे रख दिया, कहा, "गोली नहीं, गोला !"

मेरे पास कवि सम्मेलनों से निमंत्रण आने लगे। कुछ दिनों तो वाहवाही लूटना अच्छा लगा। कई जगह अपने पास से किराया खर्च करके गया। पर बाद में मैंने सोचा कि अगर कवि सम्मेलनों में इसी प्रकार जाता रहा तो कुछ और काम नहीं कर सकूँगा। इन्कार करता तो लोग लिखते कि आपको तो हिंदी की सेवा करनी है, आदि आदि।

अकबर का शेर याद आया,

"दे के तक़रीर बोले, ला चन्दा,
हिनहिनाया है तो कुछ लीद भी कर।"

कविता लिखी है तो उसे घूम-घूमकर सुनाइए भी। मैंने कहा कि मैंने हिंदी की सेवा करने के लिए कविता नही लिखी, मैंने अपने हृदय के उद्गार व्यक्त किए हैं। प्राण बचाने के लिए पारिश्रमिक लेने की प्रथा चलाई और वह भी तगड़ा।

निमंत्रणों की संख्या कम हुई। कई कटु अनुभव भी हुए। कई जगह बुलाकर लोगों ने कम दिया, कई बिल्कुल टाल गए। उत्तरप्रदेश के एक कालेज ने बुलाया। कवि-सम्मेलन के बाद ही रात की गाड़ी से मुझे लौटना था। सम्मेलन की समाप्ति पर संयोजक भीड़ के साथ निकल गए। मुझे स्टेशन का रास्ता भी नहीं मालूम था। आधी रात को कोई सवारी भी नहीं। कोई रास्ता बतानेवाला भी नहीं। सिर पर संदूक लादे किसी तरह स्टेशन पहुँचा। संस्था का नाम मैंने अपनी काली सूची (ब्लैक लिस्ट) में रख दिया है। बहुत बार वहाँ से बुलावा आया, फिर नहीं गया।

एक कवि सम्मेलन पंजाब में हुआ था।[1] एक बड़ी संस्था के तत्त्वावधान में। रेडियो से उसे प्रसारित करने का भी प्रबंध था। सम्मेलन की कार्यवाही आरंभ हुई, पर स्वागताध्यक्ष ने अपने भाषण में कवियों को कुछ अपमानजनक बात कह दी। महाकवि निराला भी उसमें उपस्थित थे। अपमान, और निराला उसे पी जाएँ? असंभव! उठ खड़े हुए, मैं कविता नहीं पढ़ सकता।" अब निराला जी न पढ़ेंगे तो कौन पढ़ेगा; कोई नहीं। उधर प्रसारण का समय आ पहुँचा। संयोजकों ने देखा कि हिंदी के कवि नहीं पढ़ रहे हैं तो उर्दू के कुछ तुक्कड़ों से कविता पढ़ाना आरंभ कर दिया। हमें बड़ी लज्जा आ रही थी कि हिंदी के नाम पर इस प्रकार की तुकबंदी प्रसारित की जा रही है। प्रसिद्ध कहानीकार यशपाल बगल में बैठे थे। उन्होंने मेरे कान में कहा कि माइक पर जाकर सारी स्थिति कह दो, लोग समझेंगे कि तुम कविता पढ़ने जा रहे हो। मैंने बढ़कर यही किया। किसी ने मुझे माइक से ढकेला और इसपर हाथापाई हो चली। उस दिन मैंने अनुभव किया कि क्रांतिकारी के एक संकेत से क्या कुछ हो सकता है। इसपर अखबारों में बहुत-कुछ लिखा-पढ़ा गया, पर इस सबकी जड़ में श्री यशपाल थे, शायद यह आज पहली बार मैं बता रहा हूँ। खैर, कुछ लोगों के बीच-बचाव से शांति स्थापित हुई। इसी कवि-सम्मेलन में निराला जी ने मुझे एक पदक प्रदान करने की घोषणा की; पता नहीं मेरी कविता पर या मेरे साहस पर। संयोजकों ने कवियों को मार्ग-व्यय आदि देने का वचन दिया था, पर हमारे जाने का समय आया तो वे ग़ायब हो गए।

इसी प्रकार के कई अनुभवों ने पारिश्रमिक और मार्ग-व्यय अग्रिम मँगाने के लिए बाध्य किया।

अब अपनी खब्तुलहवासी का भी एक क़िस्सा सुना दूँ। एक जगह से निमंत्रण आया। इसके एक दिन पहले एक जगह और कवि-सम्मेलन था। संयोजक परिचित थे, सोचा पहली जगह से लौटते हुए वहाँ भी होता आऊँगा। गाड़ी शाम को पहुँचती थी, लेट होने से रात को पहुँची। स्टेशन पर कोई नहीं। सोचा गाड़ी के लेट होने से बड़बड़ी हुई है। संयोजक कहाँ तक इंतज़ार

---

1. यह शिमले का हिंदी साहित्य सम्मेलन था। स्वागताध्यक्ष थे श्री सत्यनारायण सिन्हा। रेडियो वार्ता में ऐसे नाम नहीं लाए जाते जिनपर किसी प्रकार का आक्षेप किया गया हो।

करते, सम्मेलन का प्रबंध भी करना होगा। ख़ैर, सवारी लेकर उनके घर. पहुँचा। वह इतमीनान से खाना खाकर सोने की तैयारी में थे। मुझे देखकर कुछ चकित हुए, बोले "कैसे ?" मैंने कहा, "कवि सम्मेलन में !" बोले. "वह तो आज की ही तारीख को अगले महीने है।" मैं बहुत बिगड़ा, "आपने इसी महीने के लिए लिखा था।" बोले, "मेरा ख़त दिखाइए।" ख़त साथ नहीं था। ख़ैर, उनसे लड़-झगड़कर घर वापस आया, ख़त देखा तो संयोजक महोदय की बात ही ठीक थी, बहुत झेंपा।

एक समय था, जब मैं घंटों कविता सुना सकता था। न मेरी आवाज़ में कोई फ़र्क़ आता था, न तरन्नुम में और न मैं थकता था। मुझे याद है, निराला जी की स्वर्ण जयंती पर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के कंपाउंड में एक कवि सम्मेलन आयोजित हुआ था। कवि सम्मेलन का संचालन कर रहे थे श्री (अब डाक्टर) शिवमंगलसिह 'सुमन'। मैं काफी कविताएँ सुना चुका था, कई बार, पर जनता और और की माँग कर रही थी। थोड़ी देर बाद मेरी पंक्तियों से ही मुझपर ताने दिए जाने लगे। मियाँ की जूती, मियाँ के सिर।

"बहुतेरे इन्कार करेगा
साक़ी आने से पहले,
पथिक, न घबरा जाना
पहले मान करेगी मधुशाला।"

× ×

"जब-जब जग ने कर फैलाए
मैंने कोष लुटाया।"

"हमारे हाथ तो फैले हैं, क्या आपका कोष खाली हो गया ?" मुझे भी ताव आ गया। मैंने कहा, "अच्छा, मैं भी अब आसन मारकर सुनाने बैठता हूँ, देखूँ पहले आप उठते हैं कि पहले मैं।" तब मुझे अपनी कितनी कविताएँ याद रहा करती थीं ! सुमन जी को मौक़ा मिला। बोले "बात तो तब है कि आज काशी की जनता बच्चन जी को चीं बुला दे।" कविता पढ़ते-पढ़ते पौ फटने लगी, चिड़ियाँ बोलने लगीं, सबेरा हो गया, न जनता चीं बोली, न मैं चीं बोला। तब काव्य-रसिक, वयोवृद्ध शिवपूजन सहाय जी ने बीच में पड़कर बराबर की कुश्ती की घोषणा की और कवि-सम्मेलन समाप्त हुआ।

इंग्लैंड से लौटने के बाद एक नगर के कवि-सम्मेलन में गया। दो-तीन कविताएँ सुनाकर ही रुक गया।

"अहह प्रथम बल मम भुज नाहीं।"

उस दिन मेरी तबियत भी कुछ खराब थी, वर्ना मैं जनता को निराश नहीं करता। सम्मेलन का आयोजन कुछ वणिकवृत्ति लोगों के हाथ में था। जब मैं और कविताएँ सुनाने को तैयार न हुआ तो मेरे कानों में आवाज़ आई "पारिश्रमिक तो आपने लिया इतना, और कविताएँ सुनाई तीन, फलाँ को हमने इतना दिया और उन्होंने हमें इतना सुनाया!"

मैंने अपना बटुआ निकाला, कहा, "यह रहा आपका पारिश्रमिक, मैं कविताओं को तोलकर नहीं सुनाता"; और यह कहकर मैं चल दिया। रात एक मित्र के यहाँ बिताई और सवेरे प्रयाग चला आया। मुझे साथ यह बात भी बता देनी चाहिए कि मेरे चले आने के एक हफ्ते बाद संयोजकों ने शायद अपनी भूल महसूस करके, या किसी के कहने से मुझे पूरा-पूरा मार्ग-व्यय और पारिश्रमिक भेज दिया। क्षमा-याचना की लम्बी-चौड़ी चिट्ठी लिखी। पर मैंने उनके नगर का नाम भी अपनी काली सूची में डाल दिया है।

जब मैंने अपनी बात शुरू की थी, तब सोचा था कुछ मीठे अनुभव सुनाऊँगा और कुछ कड़ुए, पर जब बात खत्म करने का वक्त आ गया है तब देखता हूँ कि कड़ुए अनुभव ही ज्यादा बता पाया हूँ। मीठे अनुभव की बात तो इतने से ही समाप्त हो जाती है कि कवि सम्मेलन में बुलाया गया, कविता की खूब वाह-वाही हुई, समुचित पारिश्रमिक दिया गया और घर लौट आया। इसमें कहने की क्या बात हुई। फ्रांसीसी कहानी लेखक मोपासाँ का नाम तो आपने सुना होगा; शायद उनकी कहानियों से भी आप परिचित हों। एक बार किसी ने उनसे कहा, "आप जितनी कहानियाँ लिखते हैं उन सब में बुरी औरतों की चर्चा रहती है, आप भली औरतों के विषय में कहानियाँ क्यों नहीं लिखते?" मोपासाँ ने कहा, "भली औरतों के बारे में कोई कहानी नहीं होती।"

१९५७]

कवि सम्मेलनों के कुछ और अनुभव

(रेडियो वार्ता)

हिंदी कवि सम्मेलनों से मेरा परिचय लगभग चालीस वर्षों का, और उनका अनुभव लगभग तीस वर्षों का है। मेरे विद्यार्थी-जीवन में प्रयाग की शिक्षा-संस्थाओं में समय-समय पर कवि सम्मेलन हुआ करते थे। कविता से मुझे प्रेम था और प्रारंभ में मैं श्रोता-रूप में इन कवि सम्मेलनों में जाता था। कवि सम्मेलन, साधारण जनता के सांस्कृतिक क्रिया-कलाप के अंग कभी थे या नहीं, इसपर मैं अधिकार से कुछ नहीं कह सकता। मध्ययुग में राज-दरबारों में काव्य-पाठ अथवा काव्य-प्रतियोगिता की प्रथा अवश्य थी। पर साधारण जनता उनमें भाग न ले सकती थी। १९वीं सदी के अंतिम भाग में जब हिंदी का आंदोलन, उसे राष्ट्रभाषा का रूप देने के लिए, आरंभ हुआ तो लोगों का ध्यान स्वाभाविक ही कवि सम्मेलनों की ओर गया, क्योंकि इनके द्वारा जनता में हिंदी के लिए रुचि जगाई जा सकती थी। पहले तो ब्रजभाषा के कवि सम्मेलन ही आरंभ हुए जिनमें कोई समस्या दी जाती थी। जब मैंने कवि सम्मेलनों में जाना आरंभ किया उस समय खड़ीबोली में भी कविता की जाने लगी थी। निमंत्रण-पत्रों में समस्या के साथ विषय भी लिखे जाते थे। विषय खड़ीबोली की कविताओं के लिए होते थे। उस समय के कवि सम्मेलन का टेप रिकार्ड किया गया होता और उसे आज सुनाया जाता तो लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। उस समय तक उर्दू मुशायरों की एक निश्चित परंपरा बन गई थी। हिंदी कवि सम्मेलन आरंभ हुए तो किसी भी पूर्व परंपरा के अभाव में उन्होंने उर्दू मुशायरों का भद्दा अनुकरण आरंभ किया।

मुशायरे में जब कोई शेर अच्छा होता है तो उसके लिए 'ख़ूब' या 'बहुत ख़ूब' कहते हैं, 'वाह-वाह' करते हैं। जिस शेर को दुहरवाना चाहते हैं उसके लिए 'मुक़र्रर इरशाद' कहते हैं। जब कोई बात बहुत चमत्कारिक हो तो

'सुभान अल्लाह' कहते हैं।

मुझे एक ऐसे कवि सम्मेलन की याद है जिसमें लोग बीच-बीच में 'सुन्दर' या 'अति सुन्दर' कहते थे। शायद 'खूब' और 'बहुत खूब' की जगह। 'वाह-वाह' के बजाय 'साधुवाद' कहते थे—और 'साधु' का संबंध कुछ हमारे दिमाग़ में ऐसे व्यक्ति से है जिसके सिर पर जटा हो, शरीर पर भस्म रमा हो, हाथ में कमंडल या माला हो। अच्छे-ख़ासे कवि के लिए ऐसा सुनकर बड़ा अजीब लगता था। 'मुक़र्रर इरशाद' के लिए 'पुनर्वाद', 'पुनर्वाद' होता था। एक कोने में कुछ नवयुवक, पता नहीं, गंभीरता से अथवा व्यंग्य से, बीच-बीच मे 'शंभो-शंभो' कहकर चिल्ला उठते थे। मैंने उनसे पूछा कि यह 'शंभो-शंभो' आप क्यों कहते हैं? बोले—यह 'सुभान अल्लाह' का हिंदी रूपांतर है! ज़ाहिर है कि ये सब चीज़ें नक़ली थीं और नक़ली चीज़ें ज़्यादा दिन नहीं टिकतीं। हर्षध्वनि किसी अच्छी रचना पर कवि सम्मेलनों में आज भी होती है, पर वे सब ध्वनियाँ ग़ायब हो गई हैं। प्रायः जनता अब ताली पीट-पीटकर अपना हर्ष प्रकट करती है। शायद यह राजनीतिक सभाओं से आया है और अधिक स्वाभाविक है—गो परंपरागत भारतीय तरीक़ा हर्ष में अपनी ही हथेलियों को बजाना नहीं, दूसरों की हथेलियों को बजाना है। महाभारत में एकाध प्रसंगों में ऐसा वर्णन आया है। हम अपने हर्ष में अपने आसपास के लोगों को शामिल कर लें। मैं चाहता हूँ, यह प्रथा फिर से चलाई जाय। इसके बहुत गंभीर अर्थ हैं।

प्रारंभिक कवि सम्मेलनों में प्रायः सभी को जनता सुन लेती थी। छायावादी कवि अपने रूप, स्वर, शब्द में कुछ ऐसा आतंक लेकर आए थे कि जनता सुनकर अवाक् रह जाती थी। तब ऐसे कवियों की प्रतीक्षा की जाती थी जो कोई हल्की-फुल्की बात कहकर जनता का मनोविनोद कर सकें। हास्य रस के कवियों की आवश्यकता का अनुभव छायावादी युग के कवि सम्मेलनों में सबसे अधिक किया गया। धीरे-धीरे वे पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गए। आज हास्य रस के कवि के बग़ैर किसी सफल कवि सम्मेलन की कल्पना नहीं की जा सकती।

अपने विकास में जब हिंदी कविता जनता के समीप आई तो जनता अपनी प्रतिक्रिया और उसकी शक्ति से सचेत हुई। जिन कविताओं की प्रतिध्वनियाँ

जनता से सोधे न हो सकती थीं उन्हें सुनाना असंभव हो गया। छायावादी कवियों ने इसी समय से कवि सम्मेलनों से किनाराकशी कर ली। जिन्होंने नहीं की उनको कटु अनुभव हुए। मुझे एक ऐसा अवसर याद है जब एक कवि ने कविता सुनानी आरंभ की, कविता जनता के पल्ले न पड़ी तो उसने शोर मचाना शुरू किया, पर कवि भी अपनी कविता सुनाने को दृढ़प्रतिज्ञ थे। जब चीखने-चिल्लाने से काम न चला, उन दिनों लाइक का प्रचार नहीं हुआ था, तो वे कुर्सी पर खड़े हो गए और अंत में जनता की ओर अपनी पीठ फेरकर अपनी कविता सुनाते रहे। वे कवि महोदय भगवान की दया से अभी जीवित हैं, स्वस्थ हैं, पर उन्होंने अब कविता लिखना-सुनाना बंद कर दिया है। किसी समय अच्छी कविता करते थे।

धीरे-धीरे कवि सम्मेलनों का विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप विघटित होने लगा। यह प्रायः दूसरे महायुद्ध के समय से चला, जब कवि सम्मेलन प्रायः वार-फ़ंड एकत्र करने के उद्देश्य से किए जाने लगे। स्वतंत्रता के बाद विकास-योजनाओं से संबद्ध प्रदर्शनियों में कवि सम्मेलन होने लगे। विशुद्ध साहित्यिक कवि सम्मेलन कुछ शिक्षा संस्थाओं में अथवा रेडियो पर अब भी होते हैं, पर प्रदर्शनी आदि अथवा विशेष अवसरों से संबद्ध कवि सम्मेलनों में, जहां अपार जनता आती है, वातावरण को विशुद्ध साहित्यिक रखना संभव नहीं होता। कुछ सामयिक घटनाएँ अथवा भावनाएँ होती हैं जिनमें जनता रुचि लेती है। अगर उनपर कुछ कहा जाय तो वह रुचि से सुना जाता है। हाल में भारत-चीन तनातनी पर बहुत-सी रचनाएँ कवि-सम्मेलनों में सुनने को मिलीं। मैं सामयिक भावनाओं को कविता की सूची से निकालना नहीं चाहता, पर कुछ असमर्थ कवि उनका लाभ उठा सस्ती-भद्दी चीज़ें जनता के सामने रख देते हैं, और समय की लहर उन्हें ऊपर उठा देती है। मुझे एक अवसर याद है जब सामयिक घटना पर की गई एक निम्नकोटि की तुकबंदी ने तहलका मचा दिया। सभापति ने कवि को रोकना चाहा तो जनता और उछली, पर सभापति महोदय सभा चतुर थे; उन्होंने अकबर का एक शेर पढ़ा और जनता शांत हो गई, कवि जी भले ही कटे हों।

"क़द्रदानों की तबीयत का अजब रंग है आज,
बुलबुलों को है ये हसरत कि हम उल्लू न हुए!"

ऐसे कवि सम्मेलनों से बड़ा लाभ भी हुआ है। जनता में कवि सम्मेलनों की लोकप्रियता बढ़ी है। कवि और जनता का संपर्क कविता के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। पर साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, उसे किसी का पुछल्ला बनाकर अथवा सस्ते मनोरंजन का साधन बनाकर रखना अस्वस्थ प्रवृत्ति है। इसके कारण कभी-कभी बड़े विचित्र अनुभव हुए हैं।

एक बार किसी धार्मिक महापुरुष की जयंती पर एक कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया। स्वाभाविक है कि ऐसी सभा में धर्म-संकीर्ण लोगों की बहुतायत हो। 'निरंकुशाः कवयः' पुरानी कहावत है। स्वतंत्रता के अपने अधिकार का उपयोग कर किसी कवि ने ऐसी रचनाएँ सुनानी आरंभ कीं जो उस महापुरुष के धार्मिक सिद्धांतों के शायद विरुद्ध जाती थीं। कुछ लोगों ने एतराज उठाना शुरू किया। कुछ लोगों ने समर्थन के नारे उठाए और अच्छा-ख़ासा हंगामा खड़ा हो गया। कुछ लोग कवि से 'बैठ जाओ', 'बैठ जाओ' कहने लगे तो कुछ उसे उठाकर माइक के सामने लाने लगे। कवि कविता सुनाने आता है—कुश्ती लड़ने तो आता नहीं। अंत में सभापति ने कवि सम्मेलन बरखास्त कर दिया और एक पक्ष के अपशब्दों के बीच कवियों को स्थान छोड़ देना पड़ा।

"निकलना ख़ुल्द से आदम का सुनते आए हैं लेकिन,
बहुत बे आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले।"

इस संबंध में किसी संपादक को अपने पत्र में टिप्पणियाँ भी लिखनी पड़ी थीं और हफ़्तों उत्तर-प्रत्युत्तर चलता रहा।

इसी संबंध में मुझे एक और कवि सम्मेलन की याद हो आई। किसी नगर में कवि सम्मेलन था। आयोजकों को कोई अच्छा स्थान नहीं मिल रहा था, उन्होंने किसी धार्मिक संस्था के हाल में किसी तरह कवि सम्मेलन करने की अनुमति ले ली। यह उन दिनों की बात है जब मेरी 'मधुशाला' नई-नई प्रकाशित हुई थी और प्रायः हर जगह मुझसे 'मधुशाला' सुनाने का अनुरोध किया जाता था। मुझे इससे क्या मतलब कि कवि सम्मेलन कहाँ हो रहा है और मुझे कविता सुनाते समय स्थान के सिद्धांत-सीमांत को भी ध्यान में रखना चाहिए। जनता चाहती थी, मैंने 'मधुशाला' सुनानी आरंभ की। एक सज्जन

बीच में खड़े हो गए और गरज-गरजकर कहने लगे, "यह तो बड़ा अन्याय हो रहा है कि इस पवित्र संस्था में, संस्था के पावन प्लेट-फ़ार्म से शराब का प्रचार किया जा रहा है।" इसपर एक दूसरे सज्जन दूसरे कोने से खड़े होकर कहने लगे, "'मधुशाला' से शराब का प्रचार नहीं किया जा रहा है, 'मधुशाला' केवल प्रतीक है। इसके पीछे बहुत गहरे आध्यात्मिक सत्य हैं, आप उन्हें समझने का प्रयत्न कीजिए।" और "आप बैठ जाइए", "आप चुप हो जाइए" के परस्पर-विरोधी नारों के बीच कवि सम्मेलन समाप्त हुआ। पर दो कठ-हुज्जतियों की बहस बड़ी देर तक चलती रही। उस दिन मेरी 'मधुशाला' में जितनी गंदगी, जितनी कुरुचि और जितनी गंभीरता, जितनी आध्यात्मिकता साबित की गई उसकी ओर मेरे फ़रिश्तों का ध्यान भी शायद ही गया हो।

हिंदी कवि सम्मेलन आज एक बड़ी सजीव संस्था है—जनता की संस्था है, और जन-मानस की विविध और कभी-कभी परस्पर-विरोधी वृत्तियाँ और विकृतियाँ अक्सर कवि सम्मेलनों के मंच पर बड़े मनोरंजक रूप से उपस्थित होती हैं।

१९६०]

अंग्रेजों के बीच दो साल

(रेडियो वार्ता)

मैं अपने परिवार में एक तरह का बाग़ी समझा जाता हूँ। एक साधारण पर कट्टर सनातनधर्मी घर में पलकर यह बग़ावत मुझमें कहाँ से आई, यह आज भी मेरे रिश्तेदारों में अचरज की बात समझी जाती है। शुरू जवानी में आर्य-समाजी बनकर मैंने कुल में पूजे जानेवाले देवी-देवता, माता-भवानी से छुट्टी ली। एक जाति से निकाले हुए सज्जन के घर कच्चा खाना खाकर, स्वयं पंगत में बैठकर खाने का अधिकार खोया, और अंत में जात-पांत, प्रांत, धर्म से बाहर विवाह करके शायद सदा के लिए मैंने अपने परंपरागत समाज से अपना संबंध तोड़ लिया। विलायत जाने का विचार हुआ, तो अपनी एक वृद्धा चाची से भी मिलने और बिदा लेने पहुँचा। मेरे प्रस्ताव को सुनकर बोलीं—"तुमने तो कुल में युग-युग से चले आए सारे नियम-धर्मों को तोड़ा, अब क्या समुन्दर की यात्रा भी करोगे, इसकी तो मनाही है और हमारे परिवार में कभी किसी ने ऐसा नहीं किया!" मैंने कहा—"चाची, मैं तो हवाई जहाज से जा रहा हूँ और समुद्र की एक बूँद से भी भेंट न होगी।" इससे चाची को कुछ संतोष हुआ। लौटा तो समुद्री रास्ते से हूँ। अभी चाची से मिलने का अवसर नहीं मिला। वे मुझे प्रायश्चित करने की सलाह ज़रूर देंगी।

मैं १२ अप्रैल, सन् १९५२ की दोपहर को बंबई से रवाना हुआ और क़ाहिरा और पेरिस में कुछ घंटों के लिए रुकता हुआ १३ को सबेरे लन्दन पहुँच गया। इस हवाई-यात्रा में कुल २४ घंटे लगे, परन्तु घड़ी के हिसाब से १८॥ घंटे। पश्चिम की ओर जाते हुए हमें घड़ी पीछे करनी पड़ती है; लन्दन तक ५॥ घंटे का अन्तर डालना होता है। मुझे बंबई एरोड्रोम पर बिदा देकर मेरी पत्नी प्रयाग के लिए रवाना हुईं, और वे प्रयाग पहुँची ही थीं कि उन्हें लन्दन से मेरे सकुशल पहुँचने का तार मिल गया था। विज्ञान कितनी जल्दी

दूर को निकट और निकट को दूर कर देता है।

हवाई अड्डे पर भारतीय हाई कमीशन के कोई कर्मचारी मुझे मिलनेवाले थे। उनका कहीं पता न था। नगर के हवाई जहाज़ के दफ़्तर में मेरी 'मधुशाला' की अंग्रेज़ी अनुवादिका कुमारी मार्जरी बोल्टन का फ़ोन-सन्देश अवश्य मिला कि वे दफ़्तर में मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। अड्डे से दफ़्तर तक बस में जाना था। मार्जरी का चित्र मैंने देखा था, मेरा उन्होंने; हम मिलते ही एक-दूसरे को पहचान गए। मार्जरी ही मुझे भारतीय विद्यार्थियों के छात्रावास लाई, जहाँ मेरे तीन दिन ठहरने की व्यवस्था थी। फिर तो मुझे केम्ब्रिज जाना था। हाई कमीशन के कर्मचारी दो घंटे बाद छात्रावास में आए—हीं-हीं करके देरी के लिए सफ़ाई देते हुए! इंग्लैंड में रहने से कहीं हिंदुस्तानियत छूटती है! वक़्त की पाबंदी का नमूना तो बस अंग्रेज़ है।

लंदन में भीड़-भाड़ की प्रत्याशा तो मैंने की थी, पर इतनी की नहीं। इतवार था, ईस्टर की छुट्टियाँ भी मिल गई थीं, मौसम धूप-धुले आस्मान का था; लंदन के लोग छुट्टियाँ मनाने को निकल पड़े थे। जिससे बातचीत की, उसी ने मौसम की चर्चा की। अंग्रेज़ों के बारे में पहली राय मैंने यही बनाई कि वह मौसम-सचेत जाति है। दो वर्ष उनके बीच रहकर भी मुझे अपनी राय बदलने का कारण नहीं दिखा। युवक-युवतियों के प्रेमालाप से लेकर वयोवृद्ध दार्शनिकों की गंभीर गवेषणा तक आप किसी ऐसे प्रसंग की कल्पना नहीं कर सकते, जिसमें मौसम की चर्चा नहीं आती। मैं अपनी डाक्टरेट की मौखिक परीक्षा के लिए गया तो मेरे परीक्षकों ने मौसम की बात से शुरुआत की। मेरी हँसी न रुक सकी।

दिन को मार्जरी मुझे लंदन दिखलाने को ले गई—भीड़-भाड़ बहुत, मगर सामान्य प्रभाव यह पड़ा कि व्यक्तिगत रूप से जैसे सब एक-दूसरे से अपरिचित हैं, अधिक-से-अधिक दो साथ, प्रायः पुरुष-स्त्री, कभी कोई बच्चा साथ, उनके लिए जैसे दुनिया में और कोई नहीं है और दुनिया के लिए जैसे वे भी कोई नहीं है; किसी तरह बड़े, प्रमुख, विशिष्ट होंगे तो अपने घर के। पार्कों में गया तो लड़के-लड़कियों को तरह-तरह की मुद्राओं में पड़े, लेटे, बैठे देखकर कुछ आश्चर्य हुआ। न उन्हें इसकी परवाह है कि उन्हें कौन देख रहा है, न किसी को परवाह है कि उन्हें देखे—सब अपने-अपने में मगन या सीमित। शायद सबमें

एक समझौता-सा है, न कोई किसी के रास्ते में आए, न किसी को अपने रास्ते में आने दे। व्यक्ति की स्वतंत्रता इस बात पर तो निर्भर रहेगी ही कि वह दूसरे की स्वतंत्रता में बाधक न बने।

असाधारण भीड़-मेले में भी शालीनता और अनुशासन से क्या चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है, इसका अनुभव मुझे इंग्लैंड जाकर ही हुआ। फ़ुट-पाथों पर लोग आ-जा रहे हैं धीरे-धीरे—किसी को हटाना है तो एक्सक्यूज मी (क्षमा कीजिएगा), किसी को धक्का लग गया है तो सॉरी (मुझे अफ़सोस है), किसी ने अपने आप जगह दे दी है तो थैंक्स (धन्यवाद) कहकर। सड़कों पर मोटरों के पीछे मोटरें कहां तक लगी हैं, कोई पता नहीं। जब आगे वाला बढ़ता है, तभी पीछे वाला चलता है, न कोई हार्न पों-पों करता है, न कोई अगल-बग़ल से निकल जाने का प्रयत्न करता है। इतनी रेल-पेल में भी पैदल सड़क पार करने वालों के लिए जगह छोड़ दी गई है। कोई कुछ भी लावाजिब करता-कहता नहीं दिखाई देता। तबियत ख़ुश हो गई। दूसरे दिन पत्रों में पढ़ा कि मोटरों का जैम सत्रह मील लंबा था।

मैंने कहीं पढ़ा था कि यदि तुम जानना चाहते हो कि कोई जाति कितनी सभ्य और शिष्ट है, तो जाकर देखो कि भीड़ में रहने पर वह किस तरह का वर्ताव करती है। अंग्रेज़ी भीड़ का वर्ताव आदर्श और संसार-प्रसिद्ध है। मैनचेस्टर में, ब्लैकपूल की रोशनी की रातों में, बड़े दिन और नए दिन पर और विशेषकर क्वीन एलिज़ाबेथ दी सेकेण्ड के राज्यारोहण पर, इस भीड़ में पड़ने और इसे देखने का मुझे फिर अवसर मिला। मैं उसकी जितनी प्रशंसा करूँ, वह कम है। सरकारी प्रबन्ध भी बहुत सोच-विचारकर किया जाता है। साथ-ही-साथ जनता भी पूरा सहयोग देती है। अंग्रेज़ स्वभाव से ही नियमों का पालन करता है। चौराहों पर प्रायः हरी और लाल रोशनियों से आर-पार की सड़कें खुलती, बन्द होती हैं। जब गाड़ियों का आना-जाना बहुत हो, तब तो उन बत्तियों का आदेश माना ही जाता है। कभी-कभी ऐसा हुआ है कि बाहर से एक बजे रात को मैं आ रहा हूँ और क्या देखता हूँ कि सड़कें सुनसान पड़ी हैं और एक आदमी साइकिल से उतरकर हरी बत्ती की प्रतीक्षा कर रहा है। वह चला जाए तो न कोई दुर्घटना की संभावना है और न कोई उसे रोकने वाला या पकड़ने वाला है, पर वह नियम का पालन करता है। कभी-कभी ऐसे

लोगों को देखकर हँसी भी आती है, पर इसके पीछे एक गंभीर संयम है, यह मानना पड़ेगा।

अंग्रेजी भीड़ की चर्चा करते हुए एक व्यक्ति को भूल जाना असंभव है। वह है उनका पुलिसमैन। अपने लंबे कद, ऊँची टोपी, नीले लिबास में वह किसी भीड़ में छिप नहीं सकता। उसका मस्तिष्क कितनी सूचनाओं का भण्डार होता है, इस पर आश्चर्य होता है। उसके नगर का नक्शा जैसे हर समय उसकी आँखों के सामने रहता है। आप कहीं भी जाना चाहते हों, वह कम-से-कम शब्दों में आपको ठीक पता बताएगा। लन्दन में अगर आप अजनबी हैं, तो बिना उसकी सहायता के आपका इच्छित स्थान पर पहुँच सकना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। मार्जरी ने उसे दिखलाकर मुझसे कहा था कि देखिए वह आपका ऐसा मित्र है, जो आपको कभी निराश नहीं करेगा। आपको किसी तरह की कठिनाई हो, आप उसके पास जाइए। वह आपकी सहायता करेगा या जहाँ से सहायता मिल सकती है, वहाँ आपको भेज देगा।

बसों, ट्रेनों और 'क्यू' में खड़े हुए लोगों को आप अक्सर पुस्तक या अखबार पढ़ते हुए पाएँगे। प्रायः सभी लोग शिक्षित हैं और हर प्रकार की रुचि को सन्तुष्ट करनेवाली पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तिकाएँ प्रकाशित होती हैं। अंग्रेज अपरिचितों से बातचीत करने से हिचकता है। यह अखबार उसके लिए एक प्रकार के पर्दे का काम देता है। अंग्रेजों की यह आदत बाहर से आए हुए लोगों को अच्छी नहीं लगती। अंग्रेजों के साथ बैठे हुए भी वे अकेलेपन का अनुभव करते हैं। किसी अंग्रेज ने मुझसे कहा था कि अंग्रेज स्वयं बड़ा अकेला प्राणी है। जिस आदमी से वह बातचीत करना चाहता है, उससे वह भी बात करना चाहता है कि नहीं, इसी सोच-संकोच में वह चुप रहता है और प्रायः इसीलिए अखबार और किताब का सहारा लेता है। जहाँ तक मेरा खयाल है, अंग्रेज दूसरों के मामलों में दखल नहीं देना चाहते और न यही चाहते हैं कि दूसरे उनकी शांति भंग करें। मुझे थोड़े दिन के बाद उनकी यह आदत अच्छी लगने लगी थी। कभी किसी बात को जानने के लिए जब मैंने अजनबियों से भी पूछा है, तो मुझे बहुत विनम्र और संतोषजनक उत्तर मिला है।

अंग्रेजों की दो संस्थाएँ ऐसी हैं, जहाँ उन्हें अपने अकेलेपन से सहज मुक्ति मिल जाती है। एक है, उनको पब-होटलें, आप चाहें तो उनको मधुशालाएँ

भी कह सकते हैं। ये शाम को खुलती हैं और रात को दस-ग्यारह बजे तक बंद नहीं होतीं। बड़े नगरों में इनकी संख्या का अनुमान करना कठिन है। शायद ही कोई गाँव हो, जहाँ पब न हो। केम्ब्रिज छोटा नगर है; उसकी आबादी कोई ८०,००० होगी। वहाँ पबों की संख्या कोई १५० के क़रीब है। यहाँ बैठकर अंग्रेज़ शराब पीते और गप्प लड़ाते हैं। शायद ही कोई ऐसा विषय हो, जिस पर इन पबों में बातचीत न होती हो। इंग्लैंड में कब कैसी हवा चल रही है, इसे जानना हो तो पबों में जाना चाहिए। यहाँ अंग्रेज खुलकर, जोश-ख़रोश से अपनी राय ज़ाहिर करता है और दूसरों की राय जानना चाहता है। उसके बहुत-से परिचय और मैत्रियाँ इन्हीं पबों में होती हैं। अगर आपके पास दो-चार गिलास बियर पीने-पिलाने के पैसे हों, तो आप शाम को किसी पब में चले जाइए और आप दो-चार दोस्त बनाकर बाहर निकलेंगे।

दूसरी संस्था है, अंग्रेजों के नाचघर। इनमें मर्द-औरतें साथ नाचते हैं। पूरे आर्केस्ट्रा में पंद्रह-बीस लोग तक बाजे बजाते हैं। छोटी जगहों में मैंने तीन आदमियों का आर्केस्ट्रा भी देखा है। अधिक छोटे गाँवों में ग्रामोफ़ोन के रेकार्ड लगाकर लोग नाचने का संगीत बजा लेते हैं। नाचघरों में अपरिचित युवक-युवतियाँ आती हैं। किसी लड़की के साथ नाचने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उससे आपका पूर्व परिचय हो। नाचना कठिन नहीं है; लय के साथ पाँवों को आगे-पीछे चला सकने के थोड़े-से अभ्यास से कोई भी नाच सकता है। बड़े नगरों में नाच सिखाने के स्कूल भी हैं। लोग नाचने के साथ ही साथ बातचीत भी करते जाते हैं, पाँव लय के साथ हरकत करते हैं। कला की दृष्टि से मैं अंग्रेजी नाच को, (मैं बेले डांसिंग की चर्चा यहाँ नहीं कर रहा हूँ) कोई ऊँचा स्थान नहीं देता। पर सामाजिक दृष्टि से उसका महत्त्व बहुत है। जहाँ एक-दूसरे से मिलने-बोलने, एक-दूसरे के निकट आने के अवसर कम आते हैं, वहाँ नाचघरों की महत्ता सहज ही स्वीकार की जा सकती है।

सम्मिलित परिवार की प्रथा इंग्लैंड में नहीं है। पति-पत्नी और बच्चे परिवार के अंग समझे जाते हैं। माता-पिता, भाई-बहन—सब अलग रहना पसंद करते हैं। परिवारों में जीवन नियमित होता है। साधारण परिवारों में गृहिणी घर के कामकाज के अलावा बाहर भी काम करने जाती है। अच्छी आमदनी के लोगों के लिए भी नौकर रख सकना कठिन है। पति-पत्नी मिल-

कर घर का सब काम स्वयं कर लेते हैं। बिजली के यंत्रों ने खाना पकाने से लेकर घर की सफ़ाई तक का सारा काम सरल कर दिया है। बड़े नगरों में यदि किसी के पास खाली कमरे हुए तो पेइंग गेस्ट रख लेता है। केम्ब्रिज में कई अध्यापकों के घर विद्यार्थी पेइंग गेस्ट बनकर रहते थे।

अंग्रेज़ी खाना बहुत सादा होता है और बहुत सरलता से पकाया जाता है। प्रायः चीजें उबली या चर्बी में तली होती हैं। यूरोप में अक्सर यह कहा जाता है कि अंग्रेजों को खाना पकाने की कला नहीं आती। सम्भवतः फ्रांसीसी लोग इस कला में दक्ष माने जाते हैं। जिनकी ज़बान मिर्च-मसाले के छौंके खाने की आदी है, उन्हें अंग्रेज़ों का खाना पसन्द नहीं आ सकता। शाकाहारियों को पानी में उबली तरकारियाँ मिल जाएँगी। उस पर नमक डाल लीजिए, किसी तरह की चटनी या सॉस लीजिए और पेट भर लीजिए। रोटी की जगह डबल रोटी के टुकड़े मिलेंगे। जब मैं वहाँ था, मक्खन राशन से मिलता था और सँभालकर हफ़्ते भर चलाना पड़ता था। अब राशन हट गया है। दूध ज़रूर अच्छा मिलता है। डेरियाँ बोतलों में सस्ता और अच्छा दूध देती हैं। दूध को गर्म करके पीने की प्रथा वहाँ नहीं है, न कभी मैंने किसी को मलाई निकालते देखा। प्रायः लोग बोतलों से ही दूध पी लेते हैं। शाकाहारियों के लिए फल और तरकारियाँ प्रायः सभी मिलती हैं, हाँ, आम वहाँ नहीं मिलता। कुछ लोगों का खयाल है कि इंग्लैंड की ठंडी हवा में बिना मांस खाए काम नहीं चल सकता। ऐसी बात नहीं है। मैंने कुछ शाकाहारी अंग्रेज भी देखे। शाकाहारियों की एक पत्रिका भी निकलती है। मैं दो वर्ष वहाँ अन्न, फल, दूध पर रहा; अंडे ज़रूर मैं खाता था और मेरा स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक रहा।

साधारण अंग्रेज़ का जीवन व्यस्तता का जीवन है। काम वह समय से करता है, दक्षता से करता है। ६ दिन काम, एक दिन आराम उसका सालभर चलता है। छुट्टियों के अवसर ईस्टर और बड़े दिन ही हैं। बाक़ी साल सारा समाज यंत्रवत काम में लगा रहता है। यंत्र प्रायः कार्य के हर क्षेत्र में हैं—यंत्रों ने जीवन-व्यवहार को भी यंत्रों की यथातथ्यता, व्यवस्था, एकरूपता और सफ़ाई दी है—शायद यंत्रों की नीरसता भी।

धर्म के प्रति अंग्रेज़ में न कट्टरता है, न उत्साह; पर पीढ़ियों की ईसाइयत उसकी शिरा-शिरा में रमी है और वह धर्म के कर्मकांड की उपेक्षा करके भी

ईसाइयत के आधारभूत गुणों को भुला नहीं सकता। दिनानुदिन के व्यावहारिक जीवन में सुस्पष्टता, सच्चाई, ईमानदारी, पर-विश्वास, वचन-पालन, निर्भीक सत्य-कथन, जरूरतमंद और असहायों की सहायता, विरोधी विचारों के प्रति सहिष्णुता, और किसी के लिए किसी प्रकार की असुविधा का कारण बनने के प्रति सतर्कता आदि ऐसे गुण हैं, जिनके उदाहरण आपको अंग्रेज समाज में प्रतिदिन मिलते हैं। रूढ़ नैतिकता के मूल्यों में अंतर हो सकता है, पर शालीनता, शिष्टता, सभ्यता में अंग्रेज़ को किसी भी समाज में लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। मेरी ऐसी धारणा है कि ईसाइयत और विज्ञान दोनों से अंग्रेज़ ने बहुत कुछ सीखा-सँजोया है, आत्मसात किया है।

मुझे अंग्रेजों के जीवन की बहुत-सी बातें अच्छी लगीं, उनको समझने का मैंने प्रयत्न किया। उनसे हमें बहुत सीखना है। पर हम उनका अंधानुकरण नहीं कर सकते। उनकी सभ्यता इतिहास की विशेष परिस्थितियों से बनी है, जैसे हर सभ्यता बनती है। वहाँ रहते हुए बहुत बार अपने देश की उनके देश से तुलना करने को जी करता था। प्राय: यही लगता था कि उनका देश हमारे देश से बहुत बातों में अच्छा है। पर हम उस देश को अपना नहीं बना सकते। हमें तो इसी देश की मिट्टी प्रतिपल खींचती थी। हमें इसी के साथ बनना-मिटना है।

लौटते समय जिस दिन हमारा जहाज़ बंबई के निकट आया, हम रात को 'डेक' पर सोए, सुबह सबसे पहले अपने देश की भूमि देख सकने की उत्सुकता में। बंबई का किनारा धुंध-सा झलका और हम सारे भारतीय गुनगुनाने लगे :

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।"

१९५४]

केम्ब्रिज में विद्यार्थी जीवन

(रेडियो वार्ता)

अगर मैं आपको ले जाकर सहसा केम्ब्रिज की किसी सड़क पर खड़ा कर दूँ तो आप एक ऐसा दृश्य देखेंगे जिसे शायद आप कभी नहीं भूल सकेंगे। साइकिलों पर लड़के और लड़कियों के झुंड तेजी के साथ इधर से उधर जा रहे हैं और उनकी पीठ पर पड़े हुए काले गाउन हवा से फूलकर ऐसे लगते हैं जैसे बड़े-बड़े चमगादड़ उनका पीछा कर रहे हैं। पैदल चलने वालों में भी अधिक संख्या इन गाउनधारी लड़के-लड़कियों की होगी। इनके हाथों में प्रायः काले छाते भी दिखाई देंगे। गाउन के साथ किसी प्रकार की टोपी पहनने की मनाही है। हमारे देश से गए हुए सिक्ख विद्यार्थियों को पगड़ी पहनने के लिए विशेष आज्ञा लेनी पड़ती है। वर्षा प्रायः प्रतिदिन होती है, इस कारण सिर को भीगने से बचाने के लिए छाता लेकर चलना जरूरी होता है। ये केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के विद्यार्थी हैं जो अपने कालेजों से निकलकर लेक्चर के कमरों, प्रयोगशालाओं अथवा पुस्तकालयों की ओर आ-जा रहे हैं। केम्ब्रिज मुख्यतया विश्वविद्यालय का नगर है। आक्सफ़ोर्ड भी ऐसा ही है। परंतु दोनों में एक अंतर है जिसे सत्रहवीं सदी के एक निबंधकार टामस फुलर ने इस तरह व्यक्त किया था : "आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय है, जो एक नगर के बीच में स्थापित है; केम्ब्रिज नगर है, जो एक विश्वविद्यालय के बीच में बसा हुआ है।" फुलर का यह कथन आज भी उतना ही सत्य है जितना उनके समय में रहा होगा। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय केम्ब्रिज नगर पर छाया हुआ है।

केम्ब्रिज की आबादी लगभग ८०,००० है। विश्वविद्यालय में लगभग १०,००० विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते हैं। अध्यापकों और रिसर्च स्कालरों की संख्या भी क़रीब ३००० होगी। इस प्रकार केम्ब्रिज की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग उन लोगों का है जो विश्वविद्यालय के शिक्षक या विद्यार्थी हैं या उनसे

किसी न किसी प्रकार संबद्ध हैं।

प्रायः विद्यार्थी यहाँ तीन वर्ष के लिए आते हैं और 'ट्राइपास' की परीक्षा पास करते हैं। ट्राइपास का संबंध तीन वर्ष अथवा तीन विषयों से नहीं है। ट्राइपास एक प्रकार की तिपाई हुआ करती थी जिस पर बिठाल कर पुराने समय में विद्यार्थियों की मौखिक परीक्षा ली जाती थी। यह नाम तभी से चला आता है। ट्राइपास में उत्तीर्ण होनेवाला अपने नाम के आगे बी० ए० लिख सकता है। एम० ए० की कोई पढ़ाई या परीक्षा नहीं होती। ट्राइपास में उत्तीर्ण होने के सात वर्ष बाद एक नियत फीस देने से एम० ए० की डिग्री मिल जाती है। प्रतिवर्ष लगभग ३००० विद्यार्थी विभिन्न विषयों की ट्राइपास की परीक्षा में बैठते हैं। लगभग इतने ही विद्यार्थी प्रति वर्ष नए लिए जाते हैं। ट्राइपास की परीक्षा दो भागों में ली जाती है। पहले भाग की परीक्षा प्रथम वर्ष के अंत में और दूसरे भाग की, शेष दो वर्षों के अंत में। प्रथम भाग किसी विषय में पास कर लेने पर विद्यार्थी को दूसरे भाग के लिए दूसरा विषय लेने की स्वतंत्रता होती है, परंतु ऐसा परिवर्तन तेज विद्यार्थी ही करते हैं जो किसी विषय की एक वर्ष की कमी शेष दो वर्षों में पूरी कर लें। ट्राइपास करने के बाद रिसर्च की अनुमति मिल जाती है और यदि कार्य तीन वर्षों में पूरा हो गया तो एम० ए० की डिग्री के पूर्व ही पी-एच० डी० की डिग्री मिल जाती है।

केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में २१ कालेज हैं, १९ लड़कों के लिए और दो लड़कियों के लिए; वास्तव में ये सब कालेज ही मिलकर यूनिवर्सिटी कहलाते हैं। यूनिवर्सिटी विभिन्न विषयों में व्याख्यानों का प्रबंध करती है, प्रयोगशालाएँ और पुस्तकालय चलाती है। परीक्षा लेती और पदवी प्रदान करती है। कालेजों में लड़के रहते हैं और वहीं उनके 'सेमिनार' होते हैं। कालेज सब एक बराबर नहीं हैं। ट्रिनिटी हाल में केवल पचास लड़कों के रहने की जगह है। ट्रिनिटी कालेज में प्रायः ६०० लड़के रहते हैं। पीटर हाउस केम्ब्रिज का सबसे पुराना कालेज है और उसकी स्थापना १३वीं शताब्दी में हुई थी। क्लेयर, पेम्ब्रोक, गानविल ऐंड की, ट्रिनिटी हाल और कारपस क्रिस्टी १४वीं, किंग्स, क्वीन्स, सेंट केथरीन्स, जीसस और क्राइस्ट १५वीं, सेंट जान्स, माडलीन, ट्रिनिटी इमैनुएल, सिडनी सक्सेस १६वीं ; और डाउनिंग, सेलविन, फिट्ज़ विलियम हाउस, गर्टन और न्यूनम १९वीं शताब्दी में स्थापित हुए थे। अंतिम दो

लड़कियों के कालेज हैं। पहले महायुद्ध के पूर्व स्त्रियों को युनिवर्सिटी की डिग्री नहीं दी जाती थी। सर्वप्रथम जब उन्हें डिग्रियाँ दी गईं तो इनका बहुत विरोध भी हुआ।

विश्वविद्यालय के १०,००० विद्यार्थियों में केवल ३००० के लिए कालेजों में जगहें हैं। शेष विद्यार्थी 'डिग्स' में रहते में। डिग एक विशेष शब्द है जो उन घरों के लिए उपयोग किया जाता है जहाँ विद्यार्थी रहते हैं। उसकी व्युत्पत्ति का मुझे पता नहीं है। 'डिग्स' तमाम शहर में फैली हैं। उनमें से कुछ अनुमति-प्राप्त हैं और कुछ अनुमति-हीन। अंडरग्रेजुएट को अनुमति-प्राप्त डिग में रहना पड़ता है। और वहाँ का अनुशासन कालेज का-सा ही होता है।

कालेजों में रहने के कमरों के अतिरिक्त, एक बड़ा भोजन करने का कमरा, एक उठने-बैठने का कमरा और एक गिरजाघर होता है। प्रायः प्रत्येक विद्यार्थी के पास तीन कमरे होते हैं—एक पढ़ने-लिखने के लिए, एक सोने के लिए और एक छोटा-सा सामान वगैरह रखने के लिए। खाना सब लोग साथ बैठकर खाते हैं। कालेज के अधिकारी एक ऊँची टेबिल पर बैठते हैं, उसे 'हाई टेबिल' कहते हैं। हाई टेबिल पर खाना बड़े गौरव की बात समझी जाती है। सम्मानित अतिथि हाई टेबिल पर बिठलाए जाते हैं।

गिरिजाघरों में नियमित रूप से प्रार्थनाएँ होती हैं। किसी समय इनमें सम्मिलित होना अनिवार्य था; अब ऐच्छिक है।

कालेज का अध्यक्ष 'मास्टर' कहलाता है। कालेज के अन्य अधिकारी फ़ेलो, ट्यूटर, डीन, वर्सर और प्रीलेक्टर होते हैं। फ़ेलो सेमिनार क्लासों को पढ़ाता है, ट्यूटर विद्यार्थियों का अभिभावक होता है, डीन गिरजे का प्रबंध करता है, वर्सर कालेज के आय-व्यय का हिसाब रखता है और प्रीलेक्टर पदवी-दान के अवसर पर विद्यार्थियों को वाइस चैंसेलर के सामने उपस्थित करता है। कालेज का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति उसका पोर्टर है। पोर्टर बड़ा ही सजग और सचेत होता है। कालेज में कब कौन आया, गया, कहाँ क्या हो रहा है, इन सब बातों का पता उसे रहता है।

कालेज की चहारदीवारी के अंदर विद्यार्थी को पर्याप्त स्वतंत्रता रहती है। वह अपने कमरे में अपने मित्रों एवं अपनी सहेलियों को बुला सकता है। लगभग १० बजे रात को कालेज के फाटक बन्द होते हैं। उसके पूर्व मेहमानों को कालेज

से विदा हो जाना चाहिए।

यूनिवर्सिटी के व्याख्यानों के लिए कालेजों से फ़ेलो चुने जाते हैं। व्याख्यानों के लिए विद्यार्थियों को अलग फ़ीस देनी होती है। इन व्याख्यानों में हाजिरी नहीं ली जाती। व्याख्यान प्रायः लिखित होते हैं और पढ़ दिए जाते हैं। अध्यापकों के आने पर विद्यार्थी खड़े नहीं होते। केवल सिगरेट पीने की मनाही है। जब टर्म अथवा साल का अंतिम व्याख्यान होता है तब समाप्ति पर विद्यार्थी ताली बजाते हैं।

विद्यार्थी की मुख्य शिक्षा सेमिनारों के द्वारा होती है। सेमिनार एक या दो लड़कों का होता है और इस प्रकार शिक्षक विद्यार्थी की ओर पूरा ध्यान दे पाता है, उसकी आवश्यकताओं को समझता है और उसकी त्रुटियों को दूर करता है।

यूनिवर्सिटी का अनुशासन वाइस चैंसेलर और उसकी कमीटी के हाथ में होता है। उसके ६ सदस्य होते हैं जो विभिन्न कालेजों से लिए जाते हैं। पर यह उसी समय बैठती है जब किसी ने कोई ऐसा अपराध किया हो जिसके लिए उससे डिग्री छीनने अथवा यूनिवर्सिटी से निकालने की नौबत आ जाए। यूनिवर्सिटी का दिनानुदिन अनुशासन 'प्रोक्टर' के हाथ में होता है। उसके नीचे दो प्रो-प्रोक्टर्स होते हैं। संध्या के समय प्रायः प्रोक्टर अपने दो अनुयायियों के साथ जिन्हें 'बुलडाग' कहते हैं केम्ब्रिज की सड़कों पर घूमता रहता है। इस समय उसका मुख्य काम ऐसे लड़कों को पकड़ना होता है जो बिना गाउन पहने रात को बाहर निकलते हैं। सूर्यास्त के पश्चात सारे विद्यार्थियों को गाउन पहनना ज़रूरी होता है। न पहनने पर १० शि० जुर्माना होता है। ग़लत नाम-पता बताना बहुत बड़ा अपराध समझा जाता है और इसके लिए प्रायः लड़के यूनिवर्सिटी से निकाल दिए जाते हैं।

केम्ब्रिज के विद्यार्थी-जीवन की कोई वार्ता उस समय तक अधूरी है जब तक उसके 'क्लबों' और 'पबों' की चर्चा न की जाय। 'पब' वे जगहें जहाँ जाकर लोग शराब पीते हैं। केम्ब्रिज में विद्यार्थियों के कोई १५० क्लब होंगे। कोई रुचि, कोई शौक़, कोई शग़ल ऐसा नहीं जिसे संतुष्ट करनेवाले क्लब केम्ब्रिज में नहीं हैं। खेलकूद, नाटक, संगीत, साहित्य, ज्ञान, राजनीति, धार्मिक विचार, व्यवसाय, यात्रा, युद्ध—सभी विषयों में रुचि रखनेवालों ने अपने अलग-अलग क्लब बना

लिए हैं। यूनिवर्सिटी यूनियन है पर उसकी सदस्य-संख्या सीमित है। वहाँ संसार की विभिन्न समस्याओं पर वाद-विवाद होते हैं, परन्तु शास्त्रीय धरातल पर। उनकी चर्चा समाचारपत्रों में नहीं की जाती। यूनिवर्सिटी का बोटिंग क्लब भी बहुत प्रसिद्ध है। आक्सफ़र्ड-केम्ब्रिज में प्रतिवर्ष प्रतियोगिता होती है। अब तक १०० बार यह प्रतियोगिता हो चुकी है। पिछली बोट-प्रतियोगिता में आक्सफ़र्ड जीता था, पर अब तक अधिक बार केम्ब्रिज की ही जीत हुई है।

केम्ब्रिज में क़रीब डेढ़ सौ 'पब्स' या हौलियां हैं, आप चाहें तो उन्हें मधुशालाएँ कह सकते हैं। सध्या के समय शायद ही कोई ऐसा 'पब' हो जिसमें आप जाएँ और कुछ विद्यार्थियों को पीते न पाएँ। इंग्लैंड ठंडा देश है और शायद थोड़ा मदिरा-पान शरीर में फ़ुर्ती और गर्मी लाने के लिए आवश्यक है। अंग्रेज़ स्वभाव से लज्जालु होता है और जल्दी किसी से बातचीत नहीं करता। ज़रा नशे में आ जाने पर वह खुलकर बात करता है। पबों के अन्दर कभी-कभी बड़े जोशीले और जानदार वाद-विवाद सुनने को मिलते हैं।

इस प्रकार केम्ब्रिज के विद्यार्थी का दिन व्याख्यान के कमरों, पुस्तकालयों, या प्रयोगशालाओं में व्यतीत होता है, शाम का समय मौसम अच्छा हुआ तो खेल के मैदानों में या कैम नदी पर या क्लबों और पबों में और रात का समय अपने अध्ययन कक्ष में। Early to bed and early to rise—जल्दी सोना और जल्दी जागना अंग्रेजी कहावत है, पर केम्ब्रिज में मैंने उसका अपवाद ही देखा। बड़ी रात को भी अगर आप कालेजों के सामने से गुज़रें तो खिड़कियों से आनेवाली रोशनी यह बताती है कि विद्यार्थी अभी पढ़ रहे हैं। सुबह नाश्ते का समय ८—८-३० बजे होता है और उसके पूर्व शायद ही कोई उठता हो।

यूनिवर्सिटी का जीवन बहुत शान्त और नियमित है। शिक्षण-अवधि के बीच में छुट्टियाँ नही होती। ६ दिन काम और एक दिन आराम। अध्ययन और अध्यापन के बीच जिन मनोविनोदों को स्थान दिया जाता है, उनका ध्येय विद्यार्थियों की सुरुचि को जगाना और उन्नत करना होता है। दो वर्षों के बीच मे न मैंने विद्यार्थियों के जलूस देखे, न नारे सुने, न लाउड स्पीकर के एलान सुने। विभिन्न सभा-सोसाइटियों के चुनाव ऐसी शांति से होते हैं कि पता भी नहीं चलता कि वे कब खत्म हो गए। केवल दो अवसर ऐसे होते हैं जब विद्यार्थियों का उल्लास सारी सीमाओं को तोड़ देता है। पहला अवसर

होता है 'पापी डे'—'शांति दिवस'। यह उस दिन की यादगार में मनाया जाता है जिस दिन प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हुआ था, ११ नवबर को। पर अब जरूरी नहीं होता कि 'पापी डे' उसी तिथि को मनाया जाय। उस दिन विद्यार्थी युद्ध के घायल सिपाहियों के सहायतार्थ पैसे इकट्ठे करते हैं। जो कालेज सबसे अधिक धन एकत्र करता है उसे बियर का एक पीपा इनाम में मिलता है। कालेज के विद्यार्थी तरह-तरह का स्वांग बनाकर सड़कों पर निकलते और पैसे इकट्ठे करते हैं। हमारे होली के स्वांग उसके सामने फीके लगेंगे।

दूसरा अवसर सत्र (सेशन) की समाप्ति पर 'मे बॉल' का होता है। प्रायः यह परीक्षा-फल निकलने पर जून के पहले-दूसरे सप्ताह में मनाया जाता है। हर कालेज अपना 'मे बॉल' अलग मनाता है। एक पूरी रात खाने, मदिरा पीने और नाचने में बिताई जाती है। लड़के दूर-दूर से अपनी सहेलियों को निमंत्रित करते हैं, कालेजों में बड़ी सजावट होती है, बैंड बजते हैं, और दूसरे दिन सूरज निकलने के बाद तक यह नाच-रंग जारी रहता है।

कानवोकेशनों पर वह धूम-धाम नहीं होती जो अपने यहाँ के विश्वविद्यालयों में देखी जाती है। कानवोकेशन को वहाँ 'कानग्रीगेशन' कहते है। परीक्षा-फल निकलने पर प्रति शनिवार को सेनेट हाल में कानग्रीगेशन होता है और उनमें क्रम से विभिन्न कालेज के विद्यार्थियों को डिग्रियाँ दी जाती हैं। कानवोकेशन पर कोई भाषण वहाँ नही होता।

अब मैं कुछ ऐसी बातें बताना चाहता हूँ जो संभवतः ऐसे विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हों जो कभी केम्ब्रिज जाने का स्वप्न देख रहे हों।

यूनिवर्सिटी में प्रवेश पाने के लिए वहाँ का मैट्रिक्यूलेशन पास करना जरूरी होता है। इंटरमीडिएट नाम की वहाँ कोई परीक्षा नहीं होती। पर हर मैट्रिक्यूलेशन-पास लड़का यूनिवर्सिटी में दाखिल नहीं हो सकता। यूनिवर्सिटी में दाखिल होने के लिए एक और इम्तहान पास करना होता है जिसे यूनिवर्सिटी-प्रीवियस परीक्षा कहते हैं। यह वर्ष में चार बार होती है, मार्च, जून, अक्टूबर और दिसंबर में। बहुत तेज विद्यार्थियों को इस परीक्षा से छूट भी मिल जाती है। मुझे किसी ने बताया था कि ३०,००० प्रार्थियों में से केवल ३००० यूनिवर्सिटी में लिए जाते हैं। भारतवर्ष से अच्छी श्रेणी के बी० ए० अथवा एम० ए० ट्राइपास के लिए दाखिल किए जाते हैं। तेज विद्यार्थियों को दो वर्ष में ही

ट्राइपास करने की अनुमति मिल जाती है।

भारतवर्ष के विद्यार्थी दाखिले के लिए सीधे यूनिवर्सिटी को नहीं लिख सकते। उन्हें भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा अपना प्रार्थना-पत्र भेजना चाहिए। लंदन के हाई कमिश्नर के दफ़्तर में एक शिक्षा-विभाग भी है और उसी के द्वारा इंग्लैंड की यूनिवर्सिटियों में विद्यार्थियों के दाखिले का प्रबंध होता है।

प्रायः लोग यह भी जानना चाहते हैं कि केम्ब्रिज में पढ़ाई का ख़र्च क्या पड़ता है। यूनिवर्सिटी की पढ़ाई महँगी है, इसमें कोई संदेह नहीं है; पर इस बात को भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि यूनिवर्सिटी की शिक्षा बहुत तेज़ लड़कों के लिए ही है। केम्ब्रिज और आक्सफ़र्ड में इतनी छात्र-वृत्तियाँ हैं कि प्रायः ७५ से ८० प्रतिशत विद्यार्थी इन्हें प्राप्त कर लेते हैं। २० प्रतिशत विद्यार्थी ऐसे परिवारों से आते हैं जो धनी होते हैं और अपना ख़र्च अपने आप चला सकते हैं। मुझे एक अध्यापक ने बतलाया कि कुछ वज़ीफ़े इतने अच्छे हैं कि उनसे विद्यार्थी अपनी पढ़ाई का ख़र्च निकालकर अपने परिवार वालों की भी कुछ सहायता करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि केम्ब्रिज का विद्यार्थी आर्थिक चिंता से मुक्त होकर अपना अध्ययन करता है। कुछ ऐसे विद्यार्थी भी मुझे मिले, पर इनकी संख्या बहुत कम है, जो तेज़ होने पर भी किसी न किसी कारण कोई छात्रवृत्ति न पा सके थे। ये छुट्टियों में काम करके पढ़ाई का ख़र्च कमा लेते हैं। यूनिवर्सिटी में एक ऐसी संस्था भी है जो बड़ी आसान शर्तों पर अच्छे किंतु निर्धन विद्यार्थियों को पढ़ाई के लिए धन उधार देती है, या पढ़ाई का ख़र्च कमाने के लिए काम दिलाती है।

और कालेजों का मुझे पता नहीं, पर सेंट कैथरीन्स कालेज में, जिसका छात्र मैं स्वयं था, ट्राइपास का वार्षिक व्यय ३६१ पौंड ५ शि० बताया जाता था। इसमें कालेज की फ़ीस, रहना, खाना, कपड़ा, किताबें सब सम्मिलित हैं। १ पौंड लगभग १३ रुपए के होता है। रुपयों में यह रक़म साढ़े चार हज़ार के करीब समझना चाहिए। ऊपर के खर्चों के लिए मैं डेढ़ हज़ार और जोड़ देना चाहूँगा।

जिन दिनों मैं केम्ब्रिज में था, लगभग ७० भारतीय विद्यार्थी वहाँ शिक्षा

पा रहे थे। केम्ब्रिज मजलिस उनकी पुरानी संस्था है; अब पाकिस्तान और इंडिया सोसायटी भी बन गई हैं। यूनिवर्सिटी में, जहाँ तक मेरा अनुभव है, वर्ण, जाति, धर्म भेद की कोई भावना नहीं है। केवल योग्यता ही वहाँ परखी जाती है, योग्यता का ही सम्मान किया जाता है।

१९५४]

मेरी स्मरणीय जलयान यात्रा

(रेडियो वार्ता)

अपनी स्मरणीय जलयान यात्रा पर वार्ता आरंभ करने से पहले मुझे संस्कृत की एक कहावत याद आ रही है जिससे शायद आप भी परिचित होंगे। देवदत्तस्य एको पुत्रः सैव ज्येष्ठः, सैव मध्यः, सैव कनिष्ठः। यानी मैंने अपने जीवन में एक ही जलयान यात्रा की है जो, और किसी कारण न सही तो एक-मात्र होने के कारण ही, स्मरणीय है। वह मेरी यात्रा थी जून-जुलाई, १९५४ में लंदन से बंबई तक की।

जब मैं यह कहता हूँ कि मैंने जीवन में एकमात्र जलयान यात्रा की है तो शायद मैं जलयान का अर्थ जहाज़ समझ रहा हूँ। पर ऐसा होना नहीं चाहिए। मैं प्रयाग का निवासी हूँ। एक बार नाव से जमुना नदी पर दस-बारह मील की यात्रा करके मुजावन देवता तक गया था। हम तीन-चार मित्र खुद नाव खेकर ले गए थे। एक-दो बार पटना से मुज़फ़्फ़रपुर जाते हुए गंगा पर स्टीमर की यात्रा भी की थी। एक बार कश्मीर में डल झील पर शिकारे से लंबा सफ़र किया था। प्रकृति की नैसर्गिक छटा के बीच माँझियों के दर्द-भरे गीत सुनते हुए जो समय बीता, वह तो जैसे परिपूर्णता का एक क्षण बनकर स्मृति में अटका हुआ है। एक बार विदेश-प्रवास के दिनों में लिवरपूल से डब्लिन और डब्लिन से लिवरपूल गया-आया था। आयरिश चैनेल की इस यात्रा में एक रात लगती है और टूरिस्ट क्लास में चलनेवाले लोग प्रायः यह रात डेक पर बैठ, बियर पी-पीकर काट देते हैं। पर आज मैं नदी, झील, चैनेल की यात्रा की चर्चा न करके खुले समुद्र में एक बहुत बड़े जहाज़ से, लगभग पंद्रह दिन की यात्रा की बात करने जा रहा हूँ। इस जहाज का नाम था पी० एंड ओ० स्ट्राथीडेन।

पिछली गर्मी की बात है, मित्रों में बैठा घर में कूलर लगवाने पर कुछ

बातचीत कर रहा था। मेरे एक बड़े विनोद-प्रिय मित्र हैं। उन्हें कूलर के बारे में पूरा ज्ञान था, किस-किस तरह के हैं, किन दामों के हैं, उनके लगानेवाले एजेंट कौन हैं और उनका मासिक ख़र्च क्या पड़ता है, वग़ैरह-वग़ैरह, हालाँकि न उनके घर कूलर लगा है और न उनके अरिचित-परिचितों में किसी के घर। मैंने पूछा, "भाई तुम्हें कूलर के बारे में इतना ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ ?" बोले, "जब गर्मी ज़्यादा पड़ती है तो मैं कूलर का विज्ञापन पढ़ता हूँ और कभी उसके लगाने की कल्पना से ही जी में कुछ ठंडक आ जाती है।" उनकी बात पर मुझे बहुत हँसी आई, पर आज मुझे याद आता है कि इग्लैंड से भारत लौटने की उत्सुकता में मैं भी तो यही करता था। अभी मुझे लौटने को साल भर था, मगर मैं पुस्तकालय के सूचना-विभाग में जाकर जहाज़ों की पत्रिकाएँ पढ़ता था। इंग्लैंड में जहाज़ों की गतिविधि की एक पत्रिका प्रकाशित होती है। उसमें सब कंपनियों के जहाज़ों के छूटने, ठहरने, पहुँचने, उनकी सुविधाएँ, किराए आदि की बात लिखी रहती है। और उस वक्त मुझे जहाजों के बारे में इतनी बातें मालूम हो गई थीं कि अगर कोई मुझसे उनके बारे में बात करता तो यही सोचता था कि मैंने सारी उम्र जहाज़ों का सफर करने में बिताई है।

यह बात शायद हैज़लिट ने लिखी है कि किसी भी यात्रा का सबसे सुखदायी भाग है उससे वापस आना। इसका अनुभव मैंने इंग्लैंड से लौटते हुए किया। फिर मैं एक विशेष ध्येय को सामने रखकर विदेश गया था और उसे प्राप्त कर लौट रहा था। इस कारण मुझे एक और ख़ुशी थी।

आदमी में अगर आदमियत है तो वह कहीं भी रहे, वह किन्हीं को अपने स्नेह-बंधन में बाँध लेता है, किन्हीं के स्नेह-बंधनों में बँध जाता है। कुछ ने केम्ब्रिज में विदा ली, कुछ ने लंदन में, कुछ ने टिलबरी डाक पर, जहाँ से जहाज़ छूटता है। विदा का नाम ही बुरा होता है। जहाज़ चला तो ऐसा लगा कि अब प्रतिपल अगर कुछ से दूर होता जा रहा हूँ तो कुछ के निकट आता जा रहा हूँ, जो मेरी बाट जोह रहे हैं और जिनसे मिलने को मैं आतुर रहा हूँ।

पहले दो-तीन दिन तक तो अपने केबिन के साथी को छोड़ किसी से परिचय नहीं था। प्रायः डेक पर बैठता और समुद्र की ओर देखता रहता। पिछले दो वर्ष के विदेश-प्रवास की न जाने कितनी स्मृतियाँ जागतीं, सिनेमा के चित्रों के समान आँखों के आगे आतीं, और फिर ग़ायब हो जातीं।

जहाज पर एक अनौपचारिक ढंग का वातावरण होता है। सबसे मेलजोल जल्दी हो जाता है। मेरा विशेष परिचय एक आयरिश कुमारी नोरा से हो गया था। वह अनिद्य सुन्दरी थी। आयरलैंड की सौंदर्य-प्रतियोगिता में उसे पुरस्कार मिल चुका था पर उसमें न अपने सौंदर्य की चेतना थी और न अभिमान। जहाज़ में ही मैंने उसपर एक कविता लिखी थी, जो 'प्रणय पत्रिका' में प्रकाशित हो चुकी है। प्रवास की यह मेरी अंतिम कविता थी।

यह कविता मैंने उसे कई बार सुनाई। अंग्रेजी में इसका भावार्थ भी किया। पर हमेशा सोचता था कि काश वह इसे हिंदी में समझ सकती :

> "सबसे कोमल
> आयर मधुवन की कलिका का
> तुम नाम अगर मुझसे पूछो
> भर आह कहूँगा मैं नोरा।"

उसके विषय में जो मुझे कहना था, वह मैंने ज्यादा अच्छी तरह कविता में लिख दिया है। वह स्वेज़ में उतर गई।

लंदन से चलकर हमारा जहाज़ स्वेज़ में रुका। जिब्राल्टर दूर से दिखाई दिया। भूमध्यसागर बहुत ही शांत था। समुद्र में बस उतनी ही हरकत होती थी जितनी जहाज़ चलने से हो सकती थी, बाक़ी समुद्र शीशे की तरह फैला हुआ दिखाई देता था।

स्वेज़ पहुँचते ही चमड़े के रंग-बिरंगे सामान से भरी नावों ने हमारे जहाज़ को घेर लिया। व्यापारी लम्बी-लम्बी रस्सियाँ डेक पर फेंककर सामान ऊपर पहुँचाते हैं और लोग उन्हीं से बँधी थैलियों में दाम रखकर नीचे भेज देते हैं। स्वेज़ आते ही हमें लगा कि हम पूर्व में पहुँच गए। व्यापारी तरह-तरह के माल दिखाते हैं, देर तक मोल-तोल होता है, तब जाकर सौदा पटता है।

स्वेज़ नहर से आते हुए हमें बहुत-सी छावनियों के पास से गुजरना पड़ा। नारी के अभाव का ऐ सिपाही कैसा अनुभव करते हैं ! जहाज किनारे के इतने पास होकर गुज़रता है कि जहाज़ और किनारे पर खड़े लोगों में बातचीत हो सकती है। सिपाही आवाज़ लगाते हैं, "अपनी औरतों को डेक पर खड़ा कर दो कि हम अपनी आँखें सेंक लें"; 'कुछ फ़लाइंग किस' भेजते हैं और योरोपीय स्त्रियाँ, विनोदप्रियता में, इसका उत्तर भी देती हैं। कभी-कभी कुछ अश्लील

शब्द भी सुनाई पड़ते हैं ।

लाल सागर में आकर गर्मी बहुत पड़ने लगी थी । हम प्रायः खुले डेक पर सोते । दो वर्ष इंग्लैंड में रहकर लगता था कि आसमान में तारे ही नहीं हैं, या इने-गिने हैं, क्योंकि वहाँ प्रायः आकाश धुँधला रहता है । जब डेक पर लेटता तो आसमान तारों से भरा दिखाई देता ।

स्वेज से चलकर हमारा जहाज अदन में रुका । वहाँ लोग बड़ी चीज़ें खरीदते हैं, क्योंकि वहाँ चुंगी नहीं लगती और चीजें सस्ती है । ख़राब माल भी अच्छा कहकर कभी-कभी बिकता है । अदन में बहुत-से भारतीय व्यापारी हैं । बाज़ार में ऐसा लगता है कि हम हिंदुस्तान के ही किसी बाज़ार में घूम रहे हैं । अदन में मुझे हिंदुस्तान का पूर्वाभास-सा हुआ । अदन से बंबई तक का चार दिन का सफ़र था । मानसूनी हवाएँ शुरू हो गई थीं और बड़ी ऊँची-ऊँची लहरें उठतीं थीं । जहाज़ हिंडोले की तरह एक बार इधर झुकता, एक बार उधर । बहुतों को मतली शुरू हो गई थी । इसे 'सी सिकनेस' कहते हैं । जब यह होती है दिल बहुत घबराता है । जी चाहता है बस मौत आ जाय । पर वक्त कट ही गया ।

चौथी रात हमारे बड़े उल्लास की रात थी । सुबह बंबई पहुँचेंगे, अपने देश को ज़मीन पर पाँव रक्खेंगे । उस रात फैंसी ड्रेस शो था । खेल-तमाशे के बाद हम डेक पर ही कुर्सियाँ डालकर लेट गए । सुबह उठकर हम सबसे पहले अपना देश देखेंगे । इस उत्सुकता में रात कितनी लंबी लगी ! अभी उजाला भी नहीं हुआ था कि बहुत-से हिंदुस्तानी दूरबीन लगा-लगाकर देखने लगे और जैसे ही अपने देश की ज़मीन नज़र आई हम लोगों ने गाना शुरू कर दिया :

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा,
हम बुलबुलें हैं उसकी वह गुलिस्ताँ हमारा ।"

हमारा जहाज़ बंदरगाह पर पहुँच गया । और उस सपने के गुलिस्ताँ में पाँव रखते ही कुछ काँटे चुभ गए; किस गुलिस्ताँ में फूल ही फूल होते हैं ! यह काँटा था चुंगीवालों का । मेरे पास जो चुंगी का सामान था, उसकी सूची पहले ही दे दी थी और उसपर महसूल अदा कर दिया था । पर अफ़सर लोग सामान की तलाशी भी लेते हैं । एक कुली ने चुपके से मेरे कान में कहा, "पचीस रुपया दीजिए, आपका सामान बिना किसी बखेड़े के निकाल देंगे ।" मैंने कहा, "मेरे पास कोई चुंगी का सामान नहीं, वाजिब मज़दूरी के सिवा कुछ नहीं दूँगा । यह

मेरे सिद्धांत के विरुद्ध है।" मेरा सामान बड़ी देर तक पड़ा रहा। कुली मेरे पास फिर आया। धीरे से बोला, "साहब, बीस ही दे दीजिए। आपका काम जल्दी हो जायगा, नहीं आपको घण्टों खड़ा रखेगा, एक-एक बक्सा खुलवाएगा, आपकी एक-एक चीज़ उतिन-पुतिन कर फेंक देगा।" मेरे पास तीन भारी पेटियाँ तो सिर्फ़ किताबों और अपने कागज़-पत्रों की ही थीं, उनके उतिन-पुतिन होने की कल्पना से मैं घबरा उठा। मैंने मजबूरन अपने सिद्धांत को एक जेब में रक्खा और दूसरे से नोट निकाले और काम हो गया। विदेशों में भी चुंगी के कई मोर्चों से गुज़रना पड़ा था, पर ऐसी कोफ़्त कहीं नहीं हुई थी। 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' की गूँज मेरे कानों में मंद पड़ गई थी।

१९५७]

बेल्जियम का अंतर्राष्ट्रीय काव्य समारोह

चौथे द्विवार्षिक अंतर्राष्ट्रीय काव्य समारोह, कनाके-लिजूते (बेल्जियम) में भाग लेने के लिए चार भारतीय कवियों का एक शिष्टमंडल वैज्ञानिक अनुसंधान एवं सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय (भारत सरकार) की ओर से भेजा गया था। इनमें से एक इन पंक्तियों का लेखक था। शेष तीन थे श्री वी० के० गोकाक (कन्नड), श्री प्रेमेन्द्र मित्र (बँगला) और श्री रविश सिद्दीकी (उर्दू)।

समारोह की बैठकें ३ सितंबर से ७ सितंबर, १९५९ तक कनाके-लिजूते नगर के कैसीनो-कम्यूनाल-हाल में हुई। भारतीय शिष्टमंडल ४ सितंबर को मध्याह्न में कनाके-लिजूते पहुँचा और उसके बाद के सब कार्यक्रमों में उपस्थित रहा।

अंतर्राष्ट्रीय काव्य समारोह की कल्पना सर्वप्रथम श्री आर्थर होलो के मस्तिष्क में आई थी, वही इसके संस्थापक हैं। पहला समारोह १९५३ में हुआ था; तब से प्रति दूसरे वर्ष यह समारोह होता रहा है। हर बार यह कनाके-लिजूते में ही हुआ है और आगे भी इसे यहीं करने का निश्चय है। इसको यूनेस्को, पी० ई० एन० क्लब, फ्रांस की रायल अकादेमी और बेल्जियम की साहित्य अकादेमी तथा अन्य कई साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं की संरक्षता प्राप्त है। बेल्जियम के प्रधान मंत्री, अन्य कई मंत्री और कई शिक्षा संस्थाओं के निर्देशक भी इसके संरक्षकों में हैं।

चौथे समारोह में ४२ देशों के लगभग २५० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। भाग लेनेवालों में प्राय: योरोपीय देशों के तथा उनके उपनिवेशों के प्रतिनिधि थे। समारोह में सबसे अधिक लोग बेल्जियम के थे। आश्चर्य इस बात का था कि अंतर्राष्ट्रीय कही जानेवाली इस संस्था के समारोह में भाग लेने के लिए इंग्लैंड से कोई कवि नहीं आया था।

समारोह की कार्रवाई की भाषा फ्रांसीसी थी, अन्य भाषाओं में जो व्याख्यान

आदि होते थे उनके अनुवाद फ्रांसीसी में कर दिए जाते थे। योरोपीय महाद्वीप में प्रायः फ्रांसीसी दूसरी भाषा के रूप में पढ़ी जाती है, इस कारण गैर-फ्रांसीसी देश के प्रतिनिधि भी प्रायः फ्रेंच में ही बोले। भारतीय प्रतिनिधिमंडल में फ्रांसीसी जाननेवाला कोई नहीं था; एक महिला दुभाषिया कभी-कभी हमारी सहायता करती थी।

समारोह के अध्यक्ष जां कामू का भाषण विज्ञान और कविता के विषय पर था। कविता युग-युग से अज्ञात और रहस्यमय पर पलती रही है। विज्ञान ने बहुत-से रहस्यों को खोज लिया है, पर इससे कवियों को घबराने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि विज्ञान ने जहाँ बहुत-से रहस्यों को खोला है, वहाँ बहुत-से रहस्यों को जन्म भी दिया है। इन रहस्यों में धँसने का साहस आगे भी वैज्ञानिक से पहले कवि करेंगे। फिर विज्ञान नैतिकता से निरपेक्ष है। कविता नैतिकता से निरपेक्ष नहीं हो सकती। उसे विज्ञान पर नैतिकता का नियंत्रण बनाए रखना है।

समारोह के उपाध्यक्ष पियर लुई फ्लुके ने भी विज्ञान और कविता को अपने भाषण का विषय बनाया। उन्होंने कहा कवि को त्रिकालदर्शी होना चाहिए। उसे गत और अनागत के बीच सेतु बनाना चाहिए। विज्ञान ने आज तरह-तरह की मशीनें बना दी हैं, पर मशीनें सदा मनुष्य पर निर्भर रहेंगी। कविता का काम है कि वह मशीनों के पीछे काम करनेवाले मनुष्य को मानव-हितकारी मनुष्य बनाए रक्खे। मनुष्य कितनी ही बड़ी और सूक्ष्म मशीनें क्यों न बना ले वह उन्हें अपना सद्-असद् विवेक का एकाधिकार कभी नहीं सौंपेगा और इसको संयत-शिक्षित-दीक्षित करना कवि का काम है। मशीनों ने जिस भय को जन्म दिया है उससे मानव को मुक्त करने का उत्तरदायित्व कविता को लेना है। कविता मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है और उसका स्थानापन्न अभी तक तो खोजा नहीं जा सका।

इन भाषणों के पश्चात अन्य प्रतिनिधियों ने भी इस विषय पर अपने-अपने विचार प्रकट किए।

५ सितंबर को समाज और कविता पर भाषण हुए। योरोपीय देशों में कविता समाज से दूर चली जा रही है। कविता लिखनेवाले बहुत हैं, पर पढ़ने-वाले कम। पढ़नेवाले प्रायः लिखने-पढ़ने के पेशे से संबद्ध लोग हैं। जहाँ कुछ

लोगों का विचार है कि कविता को लोकप्रिय बनाना चाहिए, वहाँ कुछ लोग ऐसा भी समझते हैं कि हर समाज में कविता समझनेवाले कम ही लोग होते हैं। जैसे विज्ञान की बारीकियों को कम लोग समझते हैं, पर उसका लाभ अधिक से अधिक लोगों को पहुँचता है, उसी प्रकार कविता भी कम लोग समझेंगे, पर कुछ ऐसा किया जा सकता है कि उसका प्रभाव व्यापक बनाया जाय। फ्रांस के लुई गियम ने तो यहाँ तक कहा कि कविता एकांत और सूक्ष्म चिंतन का फल है और उसका उपभोग एकांत में ही ठीक तरह से हो सकता है। आज की हलचल के जीवन में जो अपने को एकांत में ध्यानस्थ कर सके, कविता उसकी है। ऐसे लोग अधिक नहीं होंगे। पर उनका भी ऐसा ध्यान है कि वह कविता भी जिसे कम लोग ही समझते हैं, किसी अनजानी जन-मनोविज्ञानी प्रक्रिया से साधारण जनता तक पहुँच जाती है और उसे प्रभावित करती है। अंत में उन्होंने केसरलिंग के इस कथन को दुहराया—आज हम जानते तो हर चीज़ को हैं पर समझते किसी चीज को नहीं। विज्ञान जानने के काम में संलग्न है, कविता को समझने का काम करना है। उसे वैज्ञानिक के मस्तिष्क के जोड़ की वह शक्ति चाहिए जो उसे चीज़ों को ठीक समझने का सामर्थ्य दे।

पियर वेयार्न ने कहा कि एटमी युग में एटमी कवि भी चाहिए। समाज को दोनों को समझने-अपनाने के लिए गतिशील होना चाहिए।

इसी दिन भारतीय समाज और कविता के ऊपर मेरा व्याख्यान हुआ। मैंने कहा कि भारत में विज्ञान अभी जीवन के क्षेत्र में इतना व्यापक नहीं हुआ कि काव्य से उसके संघर्ष की बात सोची जा सके। हमारे सुधार और स्वतंत्रता के आंदोलन में कविता ने बराबर सहायता दी है। कविता के संबंध में दो धारणाएं भारत में परंपरा से सुदृढ़ हैं कि कविता आनंद के लिए है, कविता मानव-कल्याण के लिए है। इनके विरुद्ध जो भी शक्तियां खड़ी होंगी भारत का कवि उनका विरोध करेगा। कविता के लिए भारतीय जनता भाव-प्रवण है। जैसे-जैसे वह अधिकाधिक शिक्षित और संपन्न होगी वह कविता के अधिक निकट आएगी। संसार की वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक प्रगति से भी भारत का कवि अनभिज्ञ नहीं है। पर यह मेरी व्यक्तिगत सम्पत्ति है कि कवि को अपने ज्ञान के दंभ में जनता से दूर नहीं चले जाना है। उसे उड़ना ही

नहीं, औरों को पंख प्रदान करना भी है। मैं उच्च, रहस्यमय, जटिल, सूक्ष्म को सरल, बोधगम्य, आनंददायक बनाने को कवि की साधना का अंग मानता हूँ।

६ तारीख को कवि की स्वतंत्रता के विषय में व्याख्यान हुए। फ्रांस के पियर इमैनुएल ने कविता की शक्ति पर जोर दिया, हिटलरी पंजे से फ्रांस की मुक्ति में रेसिस्तांस आंदोलन का हिस्सा बनाया, और कहा कि कवि को अन्याय के विरुद्ध अपनी आवाज उठानी चाहिए और उसे ऐसा करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए। इस सिलसिले में हंगरी के ६२ वर्षीय कवि डेरी टाइबर का नाम विशेष रूप से लिया गया है जो हंगरी के विद्रोह को अपनी मानसिक सहानुभूति देने के कारण ९ वर्ष की सजा भुगत रहे हैं। पास्तरनाक का नाम भी कई बार लिया गया। अंत में बहुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि कवि के राजनीतिक विचार कुछ भी हों, उसे उन्हें व्यक्त करने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए।

अपराह्न और रात्रि का समय सिनेमा, कंसर्ट, आर्केस्ट्रा, बैले नृत्य (एक बैले टैगोर की एक कविता पर था), कविता-पाठ आदि के लिए था। इन्हीं कार्यक्रमों के अंतर्गत एक संध्या को मारिस मेटरलिंक के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई जिसमें भारत की ओर से श्री गोकाक ने श्रद्धांजलि अर्पित की। मारिस मेटरलिंक के 'ब्ल्यू बर्ड' से प्रभावित होकर उन्होंने 'रत्न पक्षी' नाम से एक कविता भी लिखी थी, जिसका अंग्रेजी अनुवाद भी उन्होंने सुनाया।

संध्या के कार्यक्रमों में कुछ ऐसे फ़िल्म दिखाए गए जो आधुनिक कविताओं के रूपकों को समझाने के लिए बनाए गए थे। सिनेमा द्वारा यह प्रयत्न किया गया था कि किसी कविता में कवि की कल्पना किन-किन दृश्यों का ध्यान करते हुए किन रूपकों पर पहुँचती है और उनमें ऐसा क्या होता है कि उनका उपयोग करती है। यह बहुत मनोरंजक था। कुछ वृत्तचित्र कवियों के जीवन पर भी थे।

कुछ देशों के शिष्टमंडलों ने अपने स्टैंड बनाए थे जिनपर उनके देशों के कवियों के चित्र और उनकी रचनाएँ सजाकर रक्खी गई थीं। रूसी स्टैंड सबसे अच्छा था। रूसी शिष्टमंडल ने अपने यहाँ की कविता-पुस्तकों का एक सेट और एक सीपी का सींगनुमा प्याला भी समारोह को समर्पित किया।

भारत के कवियों से विभिन्न देशों के कवियों ने परिचय प्राप्त किया और यहाँ की काव्य-संबंधी समस्याओं के बारे में पूछताछ की। भाषा की कठिनता के कारण आदान-प्रदान में असुविधा का अनुभव हम बराबर करते रहे।

समारोह के अधिकारी इस बात से बहुत प्रसन्न थे कि भारत के कवि इसमें भाग लेने आए। समारोह में शिष्टमंडल का परिचय कराया गया और उनका भव्य स्वागत हुआ।

ऐसे समारोहों में भारत के कवियों को जाना चाहिए। इससे उनका सम्पर्क योरोप के कवियो से होगा, वे जान सकेंगे कि पश्चिम में कवियों के सामने क्या समस्याएँ हैं और वे किस तरह उनका सामना कर रहे हैं। विज्ञान और कला के द्वारा कविता को लोकप्रिय बनाने का जो प्रयास वहाँ हो रहा है उससे भी हम लाभान्वित हो सकते हैं।

अब आगे यदि भारत के कवियों का शिष्टमंडल जाय तो कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिए :

(१) भाग लेने की सूचना कम-से-कम दो सप्ताह पूर्व देनी चाहिए, जिससे कार्यक्रम में उनके लिए भी स्थान रक्खा जा सके।

(२) ऐसे एकाधिक दुभाषियों का प्रबंध रहना चाहिए जो हर समय मंडल के साथ रह सकें और फ़्रांसीसी से अंग्रेज़ी या कवियों की भाषा में अनुवाद कर सकें। यह काम ब्रुसेल्स के भारतीय राजदूतावास की सहायता से किया जा सकता है। उनको पहले से कहा जाय तो वे सुविधा से ऐसा प्रबंध कर सकते हैं।

(३) शिष्टमंडल के लिए ऐसे स्टैंड का प्रबंध हो जहाँ भारत के प्रख्यात कवियों के चित्र लगे हों और उनकी कविता-पुस्तकें रक्खी हों। यदि उनके अंग्रेज़ी या योरोपियन भाषा के अनुवाद छपे हों तो वे भी रहें।

(४) एक छोटी पुस्तिका में भारतीय कविता का इतिहास रहे, और वह निःशुल्क वितरण की जाए। बेल्जियम और हालैंड की कविता की इतिहास-पुस्तिका इस प्रकार बाँटी गई थी; यदि यह फ़्रांसीसी में हो तो अधिक अच्छा हो।

(५) जो कवि भाग लेने जायँ उनका संक्षिप्त परिचय साइक्लोस्टाइल कराके या छपाकर भेजा जाय। इसमें उनके साहित्यिक कृतित्व की भी चर्चा

रहे। यह भी फ्रांसीसी में हो तो अधिक अच्छा।

(६) समारोह को उपहारस्वरूप देने के लिए भारतीय काव्य-पुस्तकें भी भेजी जायँ।

(७) समारोह के कार्यक्रम की सूची पहले से मँगाई जाय और जानेवाले कवियों को वाद-विवाद के विषयों से अवगत कर दिया जाय। संभव हो तो वे लिखित रूप से अपने भाषण तैयार कर लें।

(८) कवि सम्मेलन अथवा मुशायरे जैसी कोई चीज़ योरोपीय देशों में नहीं होती। यदि किसी अच्छे कवि सम्मेलन या मुशायरे का (उदाहरणार्थ जैसा गणतंत्र दिवस पर लाल क़िले में होता है) वृत्त-चित्र बनाकर भेजा जाय तो हमारी इन संस्थाओं के संबंध में योरोपियनों की जानकारी बढ़ेगी और वे इसे बड़ी रुचि से देखेंगे।

अंत में मैं वैज्ञानिक अनुसंधान एवं सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय को धन्यवाद देना चाहूँगा कि उसने हम लोगों को इस समारोह में भाग लेने का अवसर प्रदान किया। आशा है भविष्य में भी ऐसे शिष्टमंडल भेजे जायँगे और हमारे प्रतिनिधित्व को प्रभावकारी बनाने के लिए भी क़दम उठाए जाएँगे।

१९५९]

आंग्ल-आयरी साहित्य

अंग्रेज़ों द्वारा आयरलैंड को विजय करने का कार्य हेनरी द्वितीय द्वारा बारहवीं शताब्दी (११७१) में आरंभ हुआ और हेनरी अष्टम द्वारा सोलहवीं सदी (१५४१) में पूर्ण हुआ तथा चार सौ वर्षों के संघर्ष के पश्चात् वह बीसवीं शताब्दी (१९२२) में स्वतंत्र हुआ। इस दीर्घकाल में अंग्रेज़ों का प्रयत्न रहा कि आयरलैंड को पूरी तरह इंग्लैंड के रंग में रंग दें, उसकी राष्ट्रभाषा गेलिक को दबाकर उसे अंग्रेज़ीभाषी बनाएँ; और इस कार्य में वे बहुत अंशों में सफल भी हुए। आंग्ल-आयरी साहित्य से हमारा तात्पर्य उस साहित्य से है जो अंग्रेज़ीभाषी आयरवासियों द्वारा रचा गया है और जिसमें आयर की निजी सभ्यता, संस्कृति और प्रकृति की विशेष छाप है। गेलिक अपने अस्तित्व के लिए १७वीं शताब्दी तक संघर्ष करती रही और स्वतंत्र होने के बाद आयर ने उसे अपनी राष्ट्रभाषा माना है। फिर भी लगभग चार सौ वर्षों तक आयर-वासियों ने जिस विदेशी माध्यम से अपने को व्यक्त किया है वह पैतृक दाय के रूप में उनकी अपनी राष्ट्रीय संपत्ति है। इसमें से बहुत कुछ इस कोटि का है कि वह अंग्रेज़ी साहित्य का अविभाज्य अंग बन गया है और उसने अंग्रेज़ी साहित्य को प्रभावित भी किया है, पर बहुत कम ऐसा है जिसमें आयर के हृदय की अपनी ख़ास धड़कन नहीं सुनाई देती। इस साहित्य के लेखकों में हमें तीन प्रकार के लोग मिलते हैं : एक वे जो इंग्लैंड से जाकर आयर में बस गए पर वे अपने संस्कार से पूरे अंग्रेज़ बने रहे, दूसरे वे जो आयर से आकर इंग्लैंड में बस गए और जिन्होंने अपने राष्ट्रीय संस्कारों को भूलकर अंग्रेज़ी संस्कारों को अपना लिया, तीसरे वे जो मूलतः चाहे अंग्रेज़ हों चाहे आयरी, पर जिन्होंने आयर की आत्मा से अपने को एकात्म करके साहित्य-रचना की। मुख्यतः इस तीसरी श्रेणी के लोग ही आंग्ल-आयरी साहित्य को वह विशिष्टता प्रदान करते हैं जिससे भाषा की एकता के बावजूद अंग्रेज़ी साहित्य में उसको

अलग स्थान दिया जाता है। यह विशिष्टता उसकी संगीतमयता, भावाकुलता, प्रतीकात्मकता, काल्पनिकता, अति-मानव और अति-प्रकृति के प्रति आस्था-और कभी-कभी बलात् इन सबसे विरुद्ध एक ऐसी बौद्धिकता और तार्किकता में है जो उद्धत और क्रांतिकारिणी प्रतीत होती है। यही है जो एक ही युग में विलियम बटलर ईट्स को भी जन्म देती है और जार्ज बरनार्ड शा को भी।

आंग्ल-आयरी साहित्य का आरंभ संभवतः लियोनेल पावर के संगीत-विषयक लेख से होता है जो १३९५ में लिखा गया था, पर साहित्यिक महत्त्व का प्रथम लेख शायद रिचर्ड स्टैनीहर्स्ट (१५४७-१६१८) का माना जायगा जो आयर के इतिहास के संबध में हालिनशेड के क्रानिकिल में सम्मिलित किया गया था (१५७८)।

१७वीं शताब्दी के कवियों में डेनहम, रासकामन, टेट; नाट्यकारों में ओरेरी; और इतिहासकारों में सर जान टेम्पिल के नाम लिए जायँगे।

१८वीं शताब्दी इंग्लैंड में गद्य के चरम विकास के लिए प्रसिद्ध है। वाग्मिता, नाटक, उपन्यास, दर्शन, निबंध सबमें अद्भुत उन्नति हुई। इसमें आयरियों का योगदान अंग्रेज़ों से किसी भी दशा में कम नहीं माना जायगा।

पार्लियामेंट में बोलनेवालों में एडमंड बर्क (१७२९-९७) का नाम सर्वप्रथम लिया जायगा। 'इम्पीचमेंट आफ़ वारेन हेस्टिंग्स' की प्रत्याशा किसी अंग्रेज़ से नहीं की जा सकती थी। उसमें अंग्रेज़ों के आत्म-नियंत्रण का भी अभाव है। पार्लियामेंट के अन्य वक्ताओं में फ़िलपाट क्यूरन (१७५०-१८१७) और हेनरी ग्राटन (१७४६-१८२०) के नाम भी सम्मानपूर्वक लिए जायँगे। यद्यपि उनके विषय प्रायः आयर-सबद्ध और सीमित होते थे।

१८वी सदी उपन्यासों के उद्भव का काल है। सेंट्सबरी ने जिन चार लेखकों को उपन्यास के रथ का चार पहिया कहा है उनमें एक—स्टर्न (१७१३-६८) हैं। ये आयरमूलक थे और यद्यपि ये आजीवन इंग्लैंड में ही रहे, इनके उपन्यास ने एक इस प्रकार के चरित्र को जन्म दिया जो भावना के उद्वेग में पूरी तरह बहता है। दूसरे उपन्यासकार गोल्डस्मिथ (१७२८-७४) ने उपन्यास में सामान्य घरेलू जीवन की स्थापना की।

जोनाथन स्विफ़्ट (१६६७-१७४५) ने सरल शैली में व्यंग्य लिखने में प्रसिद्धि प्राप्त की। उनका ग्रथ 'गलिवर्स ट्रेवल' मानवता पर सबसे

बड़ा व्यंग्य है। उसे बाल-विनोद बनाकर मानवता ने लेखक पर व्यंग्य किया है। जार्ज बर्कले (१६८५-१७५३) ने योरोपीय दर्शनशास्त्र में विचार के सूक्ष्म आधारों का सूत्रपात किया।

नाट्यकारों में विलियम कान्ग्रीव (१६७०-१७२९), शेरिडन (१७५१-१८१६), जार्ज फरकुहर (१६७८-१७०७) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस शताब्दी में कोई प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ।

आयर के इतिहास में १९वीं सदी राष्ट्रीयता, उदार मनोवृत्ति, क्रांति की विचारधारा, रूमानी उद्भावना और पुरातन के प्रति अनुराग के लिए प्रसिद्ध है। काव्य के क्षेत्र में, शारलट ब्रुक (१७४०-'९३) ने गेलिक कविताओं के अनुवाद अंग्रेज़ी में किए थे; जे० जे० कोलेनन (१७९५-१८२९) ने गेलिक कविताओं के आधार पर अंग्रेज़ी में कविताएँ लिखीं। मौलिक कवियों में जेम्स क्लैरेंस मंगन (१८०३-४९), सैमुएल फ़रगुसन (१८१०-'८६), आब्रे-डि-वियर (१८१४-१९०२) और विलियम एलिगम (१८२४-'८९) के नाम प्रसिद्ध हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध थामस मूर (१७७९-१८५२) हुए। उन्होंने आयरी लय के ऊपर बहुत-सी कविताएँ लिखीं। अपने समय में वे रूमानी कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। १९वीं शताब्दी में कई पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं जिनसे आयरलैंड के सांस्कृतिक आंदोलन को बड़ा बल मिला। इनमें 'यंग आयरलैंड' और 'दी नेशन' प्रमुख रहा। डबलिन युनिवर्सिटी मैगज़ीन में इस आंदोलन की कुछ स्थायी साहित्यिक सामग्री संगृहीत है।

शताब्दी के उपन्यासकारों में निम्नलिखित नाम प्रसिद्ध हैं: चार्ल्स मेट्यूरिन (१७८२-१८२४) जिनके 'मेलमाथ दि वांडरर' को योरोपीय ख्याति मिली; मेरिया एजवर्थ (१७६७-१८४९) जिन्होंने समकालीन आयरी जीवन का चित्रण सफलता के साथ किया; जेरल्ड ग्रिफ़िन (१८०३-'४०) जिन्होंने ग्रामीण जीवन की ओर ध्यान दिया। लघु कथा लेखकों में हैमिल्टन मैक्सवेल (१७९२-१८५०) का नाम सर्वोपरि है। चार्ल्स लीवर (१८०६-'७२) ने हास्य और व्यंग्य लिखने में प्रसिद्धि प्राप्त की। आयरी व्यंग्य अपने ही ऊपर आकर समाप्त होता है। लीवर पर अपनी ही जाति का मज़ाक उड़ाने का दोष लगाया गया। यह दोष आगे चलकर जे० एम० सिंज पर भी लगाया गया।

इस सदी के आलोचकों में एडवर्ड डाउडन (१८४३-१९१३) का नाम

प्रसिद्ध है। शेक्सपियर पर लिखी उनकी पुस्तक आज भी मान्य है।

नाटक के क्षेत्र में शताब्दी के अंत में आस्कर वाइल्ड (१८५४-१९००) प्रसिद्ध हुए। वे आयरी थे, परंतु उन्होंने आयरी प्रभावों से मुक्त रहने का प्रयत्न किया था। उनमें जो कुछ आयरी प्रभाव है, उनके अवचेतन से ही आया जान पड़ता है।

उन्नीसवीं सदी के अंत में आयर में जो साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ उसके केंद्र डब्ल्यू बी० ईट्स (१८६५-१९३९) माने जाते हैं। कविता नाटक, निबंध—सभी क्षेत्रों में उनकी ख्याति समान है। उन्होंने डबलिन में एबी थियेटर की स्थापना भी की। इससे प्रोत्साहित होकर कई अच्छे नाटककार आगे आए। इनमें लेडी ग्रिगोरी (१८५२-१९३२) और जे० एम० सिंज (१८७१-१९०९) अधिक प्रसिद्ध हैं। दोनों ने आयर के ग्रामीण जीवन की ओर देखा। लेडी ग्रिगोरी ने भावुकता से, सिंज ने व्यंग्य से। डब्ल्यू० बी० ईट्स ने कई प्रकार के नाटक लिखे। जापान के 'नो' नाटकों से प्रभावित होकर उन्होंने प्रतीकात्मक नाटक लिखने में विशिष्टता प्राप्त की। कविता के क्षेत्र में आयरी प्रभाव को न छोड़ते हुए भी अपने समय में वे अंग्रेज़ी के प्रतिनिधि कवि माने जाते रहे। उनके मित्र जार्ज रसेल, जो ए० ई० के नाम से कविताएँ लिखते थे, थियोसोफ़िकल विचारों से प्रभावित थे।

जार्ज बरनार्ड शा (१८५६-१९५०) का रुख आयर के संबंध में आस्कर वाइल्ड जैसा ही था। पर जिस प्रकार का व्यंग्य उन्होंने समकालीन समाज के हर पक्ष पर किया है, वह कोई आयरी ही कर सकता था।

ईट्स के समकालीन लेखकों में जार्ज मूर (१८५२-१९३३) का भी नाम लिया जायगा। वे कुछ समय तक आयर के सांस्कृतिक आंदोलन से संबद्ध रहे, पर बाद को अलग हो गए।

आधुनिक काल में जिस लेखक ने सारे संसार का ध्यान डबलिन और आयरलैंड की ओर अपनी एक रचना से ही खींच लिया वे हैं जेम्स ज्वाएस (१८८२-१९४१)। उनके 'यूलिसीज़' ने मानव मस्तिष्क की ऐसी गहराइयों को छुआ कि वे सारे संसार के लिए कौतूहल का विषय बन गई। ज्वाएस ने भाषा की अभिनव अभिव्यंजनाओं की संभावनाओं का भी पता लगाया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आयर में साहित्यिक शिथिलता के चिह्न दिखाई देते है। कारण शायद नई प्रेरणा का अभाव है। संभवत: यह भी कि आयर की मनीषा गेलिक के पुनरुद्धार और प्रचार की ओर लग गई है और अंग्रेजी के साथ उसका भावात्मक संबंध ढीला हो रहा है।

१९५९]

विलियम बटलर ईट्स

(रेडियो वार्ता)

आधुनिक काल में टी० एस० इलियट अंग्रेज़ी भाषा के सबसे बड़े कवि माने जाते हैं, परन्तु उनके प्रसिद्धि पाने के पूर्व यह सम्मान यदि किसी को दिया जाता था तो विलियम बटलर ईट्स को। टी० एस० इलियट ने स्वयं अपने एक लेख में लिखा था कि यदि मुझसे कोई पूछे कि आधुनिक समय में अंग्रेजी का सबसे बड़ा प्रतिनिधि कवि कौन है तो मैं निःसंकोच कहूँगा कि विलियम बटलर ईट्स। यह बात सर्वमान्य है कि टेनिसन के बाद वे ही अंग्रेज़ी भाषा के सबसे बड़े कवि हुए हैं। कुछ समालोचकों का मत तो यह भी है कि मिल्टन के बाद वे ही सबसे बड़े कवि हुए हैं। यदि इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो भी तो उन्हें वर्ड्सवर्थ और टेनिसन के कोटि का कवि मानने में शायद ही किसी को आपत्ति हो।

ईट्स का जन्म सन् १८६५ में डबलिन में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा इंगलैंड के स्कूलों में हुई। इसके पश्चात् उन्होंने चित्रकला की शिक्षा डबलिन में ली। उनके पिता स्वयं प्रसिद्ध चित्रकार थे। परन्तु उनका रुझान साहित्य की ओर बढ़ता गया; और यद्यपि आजीवन वे चित्रकला में अभिरुचि रखते रहे, तो भी उनके सृजन का क्षेत्र साहित्य ही रहा।

उन्होंने लगभग २० वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरंभ कर दी थी और अपनी मृत्यु के एक-दो दिन पहले तक वे रचनाएँ करते गए। उनकी अंतिम रचना उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुई। उनकी मृत्यु सन् १९३९ में लगभग ७४ वर्ष की अवस्था में हुई। इस प्रकार उनका रचना-काल लगभग ५५ वर्ष तक चला।

जिस समय उन्होंने रचना आरंभ की उस समय अंग्रेजी काव्य में प्रि-रैफ़ेलाइट स्कूल की कविता का बहुत प्रचलन था और ईट्स की प्रारंभिक कविताओं में इस स्कूल के प्रभाव स्पष्ट हैं। परंतु ईट्स अपने समय और अपने व्यक्तित्व के

प्रति बहुत सजग थे। जहाँ एक ओर वे केवल अनुयायी बनकर संतुष्ट नहीं हो सकते थे, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपने देश के उस आंदोलन से भी शक्ति ग्रहण की जिसे आयरी पुनर्जागरण कहते हैं और जिसकी पूर्णाहुति आयरलैंड की स्वतंत्रता में हुई। ईट्स कुछ वर्षों तक अपने देश की पार्लियामेंट के सदस्य भी रहे।

आयरी पुनर्जागरण के साहित्य-पक्ष के नेता वे स्वयं थे। साहित्य का जनता से संपर्क स्थापित करने के लिए उन्होंने नाटक की महत्ता समझी और एक नाट्यशाला की स्थापना की जो एबी थियेटर के नाम से प्रसिद्ध है। इसके लिए स्वयं उन्होंने नाटक लिखे और अपने मित्रों से लिखवाएँ। आयरी पुनर्जागरण में एबी थियेटर का योगदान सर्वविदित है। ईट्स के नाटक आयरलैंड में ही नहीं इंग्लैंड और अमरीका में भी खेले गए और कला की दृष्टि से भी उनका स्थान बहुत ऊँचा माना गया है।

ईट्स ने कविताएँ लिखीं, नाटक लिखे और निबंध लिखे। पर मुख्यतया वे कवि थे। उनके नाटकों को काव्य-नाटक ही कहना उचित होगा। उनके गद्य में भी कवित्व गुण भरे हुए हैं।

ईट्स का मानसिक विकास ऐसे युग में हुआ, जब विज्ञान ने ईसाई धर्म से लोगों की आस्था डिगा दी थी। ईट्स आजीवन धर्म की खोज में रहे। वे बहुत दिनों तक थियोसोफ़िकल सोसाइटी के सदस्य रहे। भारतीय दर्शन के प्रति भी उनका अनुराग रहा। भारत की ओर वे विशेष रूप से आकर्षित थे। सरोजिनी नायडू और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से उनकी मैत्री थी। उन्होंने गीतांजलि की कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद की एक-एक पंक्ति सुधारी और उसकी भूमिका भी लिखी। उन्होंने पुरोहित स्वामी की सहायता से दस उपनिषदों का अनुवाद किया और उसकी भूमिका लिखी। उनकी बहुत-सी रचनाओं पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था कि उनके नाटकों का कवित्व गुण संस्कृत नाटकों से आया था। उन्होंने कई संस्कृत नाटकों के अंग्रेजी अनुवादों का अध्ययन किया था।

ईट्स की रचनाओं के दो विभाग किए जाते हैं—पूर्व ईट्स और उत्तर ईट्स। पूर्व ईट्स में वे गुण प्रधान हैं जिन्हें हम रोमांटिक कहते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ईट्स की रचनाएँ रोमांटिक गुणों से मुक्त हो गई। स्वप्न और लालित्य का स्थान वास्तविकता और ओज ने ले लिया। फिर भी दोनों के

ऊपर ईट्स के व्यक्तित्व की छाप है। स्वप्न-द्रष्टाओं में वे सबसे अलग स्वप्न-द्रष्टा हैं, और सच्चाई देखनेवालों में उनका सबसे अलग दृष्टिकोण है। यह विशेषता, हम फिर दुहरा देना चाहते हैं, उनके व्यक्तित्व की है और उनके देश की जिसकी परंपरा, संस्कृति, इतिहास से उनके हृदय का तंतु-तंतु भीगा था।

आयरलैंड की भाषा गेलिक है, पर सैकड़ों वर्षों से अंग्रेज़ी उसपर इस तरह लादी गई है कि वह अंग्रेजी को ही अपनी मातृभाषा समझ बैठा है। उसके कितने ही साहित्यकारों ने अंग्रेज़ी में उच्चकोटि की रचनाएँ की हैं। फिर भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद गेलिक को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न हो रहा है। ईट्स ने स्वयं लिखा था कि यदि मैं गेलिक में लिखता तो अधिक अच्छा लिखता। परंपरा के अभाव में ईट्स गेलिक में लिखकर संभवतः न अंग्रेज़ी से अच्छा लिख सकते और न उनकी रचनाओं का इतना प्रचार होता, परंतु फिर भी ईट्स के इस कथन से उनका अपने देश और अपनी भाषा के प्रति अनुराग प्रकट होता है। ईट्स का पौत्र जो भाषा बोलता है ईट्स उसे शायद ही समझ सकते। यदि कभी ऐसा हुआ कि आयरलैंड से अंग्रेज़ी एकदम निकल गई तो आयरलैंड अपने सबसे बड़े कवि से अपरिचित हो जायगा। पर जहाँ तक अंग्रेज़ी का संबंध है अंग्रेज़ी काव्य में ईट्स का नाम सदा के लिए अमर है। मैंने सुना है कि ईट्स की कुछ कविताओं के अनुवाद गेलिक में हुए हैं। मैं नहीं कह सकता वे कैसे हुए हैं। उनके कुछ नाटकों के अनुवाद योरोपीय और एशियाई भाषाओं में हो चुके हैं और खेले भी गए हैं। हिंदी में जहाँ तक मेरा ज्ञान है, न उनकी कविता का अनुवाद हुआ है और न उनके नाटकों का। ईट्स के साहित्य का विशेष अध्ययन कर मैंने उनपर केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से डाक्टरेट ली। कभी-कभी सोचता हूँ कि ईट्स का कुछ साहित्य अनुवाद रूप में हिंदी को देने का दायित्व मुझपर है, मगर

इश्क़े बुताँ करूँ कि मैं यादे ख़ुदा करूँ,
इक छोटी-सी उमर में मैं क्या-क्या ख़ुदा करूँ ![1]

१९५५]

---

१. १९६५ में ईट्स की १०१ कविताओं का अनुवाद मैंने प्रस्तुत किया है जो 'मरकत द्वीप का स्वर' के नाम से राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ है।

जेम्स ज्वायस और 'यूलिसीज़'

(रेडियो वार्ता)

अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य में रुचि रखनेवाला शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने जेम्स ज्वायस लिखित 'यूलिसीज' का नाम न सुना हो, या उसे उल्टा-पल्टा न हो या पढ़ा न हो। संसार के बड़े उपन्यासों मे इसकी गणना होगी या नहीं, यह आज भी विद्वानों में विवाद का विषय है। फिर भी बीसवीं सदी में जिस पुस्तक ने साधारण पाठक, सुधी वर्ग और समालोचकों का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट किया वह 'यूलिसीज' ही है। योरोपीय भाषाओं में इस पुस्तक के कितने ही अनुवाद हो चुके है, शायद जापानी में भी हो चुका है। हिंदी अथवा अन्य किसी भारतीय भाषा में 'यूलिसीज़' या उसके किसी अंश अथवा जेम्स ज्वायस की अन्य किसी रचना के अनुवाद का पता मुझे नहीं है। विद्वानों और आलोचकों द्वारा इस पर लिखी पुस्तकों की संख्या सौ के, और आलोचना-निबंधों की संख्या हज़ार के लगभग पहुँचेगी। इतना मानने में शायद ही किसी को आपत्ति हो कि इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् यूरोप की, कम से कम अंग्रेजी की, उपन्यास कला वही नहीं रह गई जो उसके पूर्व थी। बीसवीं सदी के उपन्यासों का अध्ययन उस समय तक पूर्ण नहीं समझा जाएगा, जब तक इस पुस्तक की महत्ता पूरी तरह न समझी जाय।

जनता तक इसे पहुँचने के मार्ग में जो बाधाएँ आईं, उनकी भी एक लम्बी कहानी है। इसके लेखक डबलिन-निवासी थे, जो १६०४ में अपनी बाईस वर्ष की अवस्था में, अपने रूढ़िबद्ध परिवार, संकीर्णता-विजड़ित रोमन कैथलिक धर्म और परस्पर-विरोधी राजनीतिक दलों में विभक्त अपने देश आयरलैंड से असंतुष्ट होकर योरोप चले गए थे। वे कभी इटली, कभी हंगरी, कभी स्विट्ज़रलैंड और कभी फ्रांस में रहे; उन्होंने आधुनिक योरोपीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया, डाक्टरी पढ़ी, संगीत की शिक्षा ली, अख़बार चलाने का प्रयत्न किया, सिनेमाघर

खोला, नाटक आंदोलन में भाग लिया। अंत में वे पेरिस में भाषा के अध्यापक के रूप में व्यवस्थित हुए। साथ ही लेखन का व्यवसाय भी उन्होंने अपनाया। जीविकोपार्जन के विभिन्न साधनों को खोजने, अपनाने, छोड़ने के संघर्षों में उन्होंने प्रथम महायुद्ध के पूर्व का योरोपीय जीवन देखा, उस पर विचार किया और उसे अभिव्यक्ति दी। यही विविधतापूर्ण ज्ञान और अनुभव जेम्स ज्वायस के साहित्य की पूर्व पीठिका है। 'यूलिसीज़' के प्रकाशन से पूर्व इनका एक कविता-संग्रह, एक कहानी-संग्रह, आत्मकथा-शैली में लिखा एक उपन्यास, और इब्सन की शैली में लिखा एक नाटक प्रकाशित हो चुका था। इनके इन ग्रंथों से भी यह पता चलता था कि इनका झुकाव साधारण जीवन की कुत्सित वास्तविकताओं की ओर है और नवीनता के नाते, आलोचकों और पाठकों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ था; 'यूलिसीज़' ने योरोप और अमरीका के शिक्षित समाज में एक भूकंप ही प्रस्तुत कर दिया।

जेम्स ज्वायस ने यह उपन्यास १९१४ में आरंभ किया और १९२१ में समाप्त किया। यह प्रथम महायुद्ध और उसके पश्चात् का संशय और अनिश्चय का समय था। कभी वे ट्रीस्ट में रहे, कभी ज़्यूरिख़ में और कभी पेरिस में। सात वर्षों में, तीन नगरों में घूम-घूमकर लिखा हुआ यह उपन्यास एक चौथे नगर की कहानी है, केवल उसके एक दिन की, १८ घंटे की, बृहस्पतिवार, सोलह जून, १९०४ के डबलिन की।

समाप्त होने के पूर्व ही यह अमेरिका के 'दि लिटिल रिव्यू' नामक मासिक में निकलना आरंभ हुआ। इसकी २३ संख्याओं में क़रीब आधा 'यूलिसीज़' निकल सका। पाठक देख रहे थे कि यह ऐसा लेखक है, जो व्यक्ति और समाज की उन सच्चाइयों की ओर घूरता है जिनकी ओर दृष्टि करना धर्म, संस्कृति, परंपरा, नैतिकता, सभ्य समाज की शालीनता, और नागरिक जीवन को सुचारु रूप से चलानेवाली व्यावहारिकता ने वर्जित कर रक्खा है। लेखक की साफ़-गोई नग्नता बनी, नग्नता उच्छृंखलता हुई। उच्छृंखलता अश्लीलता, घृणित अश्लीलता। सहने की सीमा आ पहुँची, समाज के ठेकेदारों के कान खड़े हुए, डाक के अधिकारियों ने पत्र की अंतिम चार संख्याएँ ज़ब्त कर लीं। आगे प्रकाशन बंद कर दिया गया। प्रकाशक पर मुक़द्दमा दायर हुआ और उस पर सौ डालर का जुर्माना ठोंक दिया गया। उपेक्षा से पुस्तक का प्रचार उसके गुण-अवगुणों पर निर्भर

रहता : सरकारी विरोध ने उसका विज्ञापन कर दिया, पाठक उसे पाने-पढ़ने को बेचैन हो गए।

'यूलिसीज़' का पहला परिपूर्ण संस्करण पेरिस से १९२२ में प्रकाशित हुआ। दो हज़ार प्रतियाँ छपी थीं। सोने की तरह इस पुस्तक का तस्कर व्यापार हुआ। कुछ पुस्तकें सौ गुने दाम पर बिकीं। उसी वर्ष लंदन के इगोइस्ट प्रेस ने २००० प्रतियों का एक संस्करण छापा। ५०० प्रतियाँ जो अमरीका भेजी गईं न्यूयार्क के डाक अधिकारियों ने जला डालीं। १९२३ में उसी प्रेस ने ५०० प्रतियों का एक संस्करण फिर निकाला पर उसमें से ४९९ प्रतियाँ फ़ोक्सटन के चुंगी अधिकारियों ने जब्त कर लीं। लगभग दस वर्ष संसार के सभ्य नगरों में इस पुस्तक को रखना जुर्म था। १९३१ में बी० बी० सी० ने आधुनिक लेखक-वार्ता में जब जेम्स ज्वायस का नाम रक्खा तो लंडन टाइम्स में उसका विरोध हुआ। चोरी-छिपे जो संस्करण टाइप होते, साइक्लोस्टाइल होते या छपते, उनमें स्वार्थियों ने गंदे क्षेपक लगाने आरंभ किए। अधिकारियों, साहित्यकारों, प्रकाशकों, अख़बारनवीसों के एक लंबे जद्दोजेहद के बाद सन् १९३३ में जज वूलज़ी ने अमरीका में इस पुस्तक पर से नियंत्रण हटाया और इसके तीन वर्ष बाद इंग्लैंड में इस पुस्तक का प्रथम प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसे सर्वसाधारण बिना रोक-टोक के ख़रीद सकते थे। परस्पर-विरोधी [illegible]; और दोनों पक्षों में बोलनेवाले ख्यातिप्राप्त विद्वान और आलोचक थे। एक कहता था, यह पैशाचिक पुस्तक है, विषैला साहित्य है, दुनिया को मूर्ख बनाने का बड़ा भारी षड्यंत्र है। दूसरा कहता था, यह युगांतरकारी रचना है, सारे समाज की कृत्रिमता पर व्यंग्य है, लेखक का ध्येय नैतिक है। पाश्चात्य संसार के दो बड़े लेखक और विद्वान इसके पक्ष में थे : एज़रा पाउंड और टी० एस० इलियट। पाउंड ने ज्वायस की ईमानदारी की सराहना की; इलियट ने उसकी कला-कुशलता की प्रशंसा की। उन्होंने कहा, "मिल्टन के बाद अंग्रेज़ी भाषा का इतना ज्ञान रखनेवाला दूसरा लेखक नहीं पैदा हुआ।"

उपन्यास के विषय में इतना सुन लेने के पश्चात् यह उत्सुकता स्वाभाविक है कि इस पुस्तक की कहानी क्या है ? और कहानी ही इस पुस्तक में नहीं है। कुछ पात्र-परिस्थितियों को लेकर कहानी कहनेवाले उपन्यासों की परंपरा को

इस उपन्यास ने बिलकुल छोड़ दिया है। फ़ायड ने मनोविज्ञान के एक नए स्तर की खोज की थी। हम जो कुछ करने-कहते हैं, वह एक कृत्रिम सामाजिक आचार-विचार से नियंत्रित होने के कारण हमारा सच्चा अभिव्यंजन नहीं है। यह हमारा ऊपरी परिधान है, बाहरी दिखावा है, हम जो कुछ सोचते हैं, हम जो कल्पना करते हैं, वह हमारा अधिक स्वच्छंद और अधिक सच्चा रूप है। उसको उपचेतन अथवा अवचेतन की प्रक्रिया कहते हैं; और जब हमारे ऊपर बाहरी अंकुश नहीं रहता, तब हम यही होते हैं, इसी से हमारी क्रियाएँ परि-चालित होती हैं। जब हमारे उपचेतन और अवचेतन को अपने अनुरूप अभि-व्यक्ति नहीं मिलती तब हमारे जीवन के अंदर तरह-तरह की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। विकृत व्यक्तियों का समाज सामूहिक विकृतियों को जन्म देता है। क्या हमारे कलाकारों और साहित्यकारों का यह कर्तव्य नहीं कि वे इस अव-चेतन का द्वार खोलें और उसमें झाँकें। वह इतने दिनों से बंद है कि उसके परिष्कृत करने की बात तो बाद की है पहले वह बाहर तो निकले। अभी तो हमें मानो अपने उपनिषदकार के स्वर में स्वर मिलाकर कहना है कि सत्य का मुख सोने से ढका है, ढक्कन को तोड़ दो और सत्य को प्रकट होने दो। जेम्स ज्वायस ने फ़ायड को अपना गुरु मानकर उसके आदेशों पर चेतना की नहर की मोहरी खोल दी और नग्न सत्य, कटु सत्य, कुत्सित सत्य, घृणित सत्य बाहर फूट पड़ा।

उन्होंने चेतना के विभिन्न स्तरों की धाराओं को उन्मुक्त कर दिया। हम वही नहीं हैं, जो हम बाहर-बाहर थे, हम यह भी हैं या हमारे अंदर यह भी था, यह हमें प्रभावित कर रहा था और बहुत अंशों में हमें परिचालित भी कर रहा था। क्या इस अनिवार्य सत्य का ज्ञान हमें अपने को अधिक सच्चाई के साथ समझने में सहायक नहीं हो सकता ? ज्वायस ने कुछ इसी प्रकार का आदर्श अपने सामने रखकर इस उपन्यास की रचना की है। उन्होंने केवल यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि योरोप के एक प्रतिनिधि नगर के नागरिकों के चेतन-उपचेतन में एक दिन में क्या-क्या लहरें उठती-गिरती हैं; और इससे ८०० पृष्ठ भर गए हैं। किसी अमरीकी लेखक ने लिखा है कि हम एक दिन में जितना सोचते हैं या हमारे दिमाग में जितने विचार आते-जाते हैं, यदि उनको परिमाण में परिवर्तित किया जा सके तो यह सारा संसार उसमें तिनके की तरह तैरता

प्रतीत होगा।

उपन्यास की संक्षिप्त रूपरेखा यों है। स्टीफ़ेन डिडेलस, एक नवयुवक, पेरिस से लौटकर डबलिन आता है और इस चिंता में घूमता-फिरता है कि भविष्य मे व्यवस्थित होने के लिए वह क्या करे। उसके परिवार में उसकी माता मर चुकी है और वह सर्वथा परिवार-समाज से अलग इकाई है। बहुत दिनों के पश्चात् आने के बाद वह सब प्रकार के नियंत्रणों से मुक्त, सब प्रकार के पक्ष-पात से रहित, सब प्रकार के उत्तरदायित्व से हीन, सर्वथा तटस्थ होकर अपने नगर को देखता है। एक और नागरिक है अधेड़, लिओपोल्ड ब्लूम, उसके एक-मात्र पुत्र की मृत्यु हो चुकी है, बहुत पहले; उसकी पत्नी है, भविष्य दोनों के लिए रिक्त है, जी रहे हैं, जीते जाना काम है। पर ब्लूम को अपने सजातीय मानव वर्ग के प्रति जिज्ञासा है, लोग जी रहे हैं, किस आधार पर जी रहे हैं, क्या करके जी रहे हैं। श्रीमती ब्लूम का जीवन बाहर वालों के लिए घटना-विहीन भले ही लगे, पर उसके उपचेतन में एक पूरी दुनिया है और वह अक्सर दिमाग़ की पिटारी खोलकर सिनेमा की रील के समान सारा दृश्य देख जाती है। डिडेलस और ब्लूम डबलिन में घूमते हैं और क्षण-प्रति-क्षण उनके मस्तिष्क में डबलिन के जीवन की जो छाया पड़ती है, उसे हम देखते जाते हैं। अन्त में श्रीमती ब्लूम का लंबा दिवा-स्वप्न है और उसी के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है।

कलाकारिता उपन्यास में पर्याप्त है। यूलिसीज़ होमर का नायक है, जो भ्रमणशील है। ज्वायस ने ब्लूम को आधुनिक युग का यूलिसीज़ बनाया है। वह मानव के उपचेतन में भ्रमण करता है। आप चाहें तो डिडेलस को यूलि-सीज़ के पुत्र टेलीमेकस और मिसेज़ ब्लूम को यूलिसीज़ की पत्नी पेनीलोपी का प्रतिरूप—विद्रूप मान सकते हैं—अपने अवचेतन के तागों का ताना-बाना फैलाती हुई।

उपन्यास १८ भागों में है, प्रत्येक भाग डबलिन का एक विशेष दृश्य उप-स्थित करता है, एक विशेष प्रतीक अपनाता है, एक विशेष रंग में रंजित है, शरीर के एक विशेष अंग की ओर संकेत करता है, एक विशेष विषय की चर्चा करता है, एक विशेष शैली का प्रतिपादन करता है। धर्म, इतिहास, भाषाशास्त्र, अर्थशास्त्र, जीवविद्या, रसायन, चर्च, स्थापत्य, साहित्य, मशीनरी, संगीत, राज-

नीति, चित्रकला, वैद्यक, मंत्र-तंत्र, नौ विद्या, विज्ञान, यौन शास्त्र—सब की चर्चा है, और मौलिक ढंग से।

उपन्यास साहित्य के विकास में ज्वायस का योगदान मुख्यतया दो रूपों में है। एक तो उन्होंने चेतना की लहर को उन्मुक्त किया। इससे चरित्र-चित्रण का एक नया उपकरण मिला। दूसरे, उन्होंने यह सिद्ध किया कि अभिव्यंजना की मौलिक शैली हमें जीवन के नए अनुभवों को ग्रहण करने में किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकती है।

कला और साहित्य के लिए उपचेतन का प्रयोग कहाँ तक वांछनीय है इस पर हमें विचार करना होगा। परन्तु इसके पूर्व हमें कला और साहित्य के अंतिम लक्ष्य को स्पष्ट कर लेना होगा। केवल पश्चिम की हाँ-में-हाँ मिलाने से हम ठीक परिणामों पर न पहुँच सकेंगे।

१९५९]

सरवैंटीज़ और 'डान क्विक्ज़ोट'

(रेडियो वार्ता)

मुझे याद पड़ता है कि जब मैं कालेज में पढ़ रहा था उस समय मेरे अध्यापक ने एक दिन मुझसे पूछा कि तुमने 'डान क्विक्ज़ोट' पढ़ा है ? मैंने कहा, "नहीं", और उस पर उन्होंने कहा कि जिसने 'डान क्विक्ज़ोट' नहीं पढ़ा उसका आधा जीवन व्यर्थ गया। बात इस तरह कही गई थी कि मेरी उत्सुकता को चाबुक लगी और शीघ्र ही मैंने यह पुस्तक पढ़ डाली। उस समय तो इस पुस्तक से मेरा मनोविनोद ही हुआ पर बाद को उस पर विचार करने का अवसर भी आया और अब मेरी धारणा यह है कि 'डान क्विक्ज़ोट' व्यंग्य-विनोद के लिए भले ही लिखा गया हो, उसके अन्दर मानव-जीवन के एक गम्भीर तत्त्व पर प्रकाश भी डाला गया है और यही कारण है कि यह पुस्तक देश और काल की सीमा से निकलकर दुनिया में सभी जगह लोकप्रिय बन गई है और शायद सदा ऐसी ही बने रहेगी।

'डान क्विक्ज़ोट' के लेखक सरवैंटीज़ हैं जिनका पूरा नाम था मिगूएल डि सरवैंटीज़ सावेद्रा। सरवैंटीज़ ने और भी बहुत-कुछ लिखा था, पर 'डान क्विक्ज़ोट' ने जैसे सबको छाप लिया। आज वे अपनी इसी एक पुस्तक के लेखक के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सरवैंटीज़ का जन्म स्पेन के एक क़स्बे में सन् १५४७ में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा मैड्रिड में हुई थी, जो उस समय स्पेन में शिक्षा का मुख्य केंद्र था, और वहीं पर उन्होंने पढ़ने-लिखने का शौक़ पैदा किया था। उन दिनों प्रत्येक शिष्ट नवयुवक को हथियार आदि चलाना भी सीखना पड़ता था। सरवैंटीज़ ने तुर्कों और ईसाइयों के बीच लिपैंटो में होनेवाले समुद्री युद्ध में भाग लिया था और उनका बाँया हाथ कट गया था। परंतु इसके बावजूद उन्होंने और कई युद्धों में भाग लिया। इन्हीं में से किसी में बंदी बनकर उन्हें पाँच वर्ष अल्जी-

रिया में जेल काटनी पड़ी। जेल में उन्होंने बड़ी कठोर यातनाएँ सहीं, निकल भागने के भी कितने ही प्रयत्न किए और अन्त में उनके किन्हीं हितैपियों ने पाँच सौ क्राउन देकर उन्हें मुक्त कराया।

इस प्रकार दस वर्ष के सैनिक जीवन के कटु अनुभवों को सँजोकर सरवैंटीज़ ३४ वर्ष की अवस्था में फिर स्पेन पहुँचे।

हाथ उनका पहले कट चुका था। अब जवानी का जोश भी ठंडा हो चला था। बंदी-जीवन के कष्टों ने उनको जर्जर कर दिया था। इस कारण उन्होंने लेखक बनकर जीविका कमाने का निश्चय किया। इसके बीज उनके मैड्रिड के दिनों में ही पड़ चुके थे और कुछ विद्वानों की ऐसी राय है कि सरवैंटीज़ अपने सैनिक जीवन में भी कुछ न कुछ लिखते रहते थे और 'डान क्विक्ज़ोट' के कुछ अंश अवश्य ही जेल के अंदर लिखे गए थे।

स्पेन लौटने के तीन वर्ष बाद एक धनी कन्या से उन्होंने विवाह कर लिया। पर दहेज़ की रक़म उन्होंने तीन ही चार वर्षों में उड़ा दी और धनोपार्जन के लिए नाटक लिखने लगे। कहा जाता है कि उन्होंने बीस-तीस नाटक भी लिखे जो समकालीन स्पेन के रंगमंच पर खेले गए, परंतु रंगमंच पर उनकी प्रतिभा विशेष न निखरी। उन्होंने आरंभ से ही कविता लिखने का भी अभ्यास किया था, कई पुरस्कृत भी हुई थीं, पर काव्य के क्षेत्र में भी उन्हें कोई विशेष सफलता न मिली। लेखनी के बल पर जीविका चलाने में असमर्थ होकर सरवैंटीज़ को सरकारी नौकरी भी करनी पड़ी, जिसके संबंध में दूर-दूर के नगरों में जाना पड़ता था। इन यात्राओं का लाभ यह हुआ कि उन्होंने अपने देश के समकालीन जीवन और उसके विभिन्न पहलुओं को बड़े ग़ौर से देखा। जीवन के संघर्षों ने उनकी आँखें खोल दी थीं, हृदय विशाल कर दिया था; उन्होंने जो कुछ देखा उसे उनके कलाकार ने आत्मसात कर लिया और उसके अमर चित्र उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना में संचित कर दिए।

'डान क्विक्ज़ोट' का प्रकाशन १६०५ में हुआ, दूसरा भाग १६१५ में निकला। यह पुस्तक किसी ड्यूक को समर्पित की गई थी, पर उसने सरवैंटीज़ को किसी विशेष प्रकार से पुरस्कृत न किया। 'डान क्विक्ज़ोट' को किसी प्रकार के पुरस्कार की आवश्यकता ही न थी। वर्ष के अंदर उसके चार संस्करण हुए। नगर-ग्राम सभी जगह उसकी चर्चा फैल गई। बूढ़े-जवान, विद्वान, कम

पढ़े, सभी को उसने मुग्ध कर लिया। साहित्य का जादू सिर पर चढ़कर जितना बोलता है उतना कोई और जादू नहीं।

'डान क्विक्ज़ोट' के प्रकाशन से जहाँ लेखक की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई वहाँ उसके विरोधी भी बहुत-से हो गए। अपनी रचना में 'डान क्विक्ज़ोट' को केंद्र बनाकर सरवैंटीज़ ने बहुत-से समकालीन लोगों का मज़ाक उड़ाया था। विरोध ने अभद्र रूप भी लिया, पर सरवैंटीज गंभीर बने रहे। उन्होंने कई कहानी-संग्रह प्रकाशित किए। एक व्यंगात्मक काव्य उन्होंने 'बियाज डि पारनेसो' के नाम से लिखा—'वियाज डि पारनेसो' यानी काव्य लोक की यात्रा। उसमें उन्होंने युग की साहित्यिक-दशा पर गहरा व्यग्य किया। पर सरवैंटीज़ के व्यग्य में विनोद की मात्रा अधिक और कटुता की न्यूनतम हुआ करती थी। सरवैंटीज़ के जीवन का उत्तर भाग केवल लेखक का जीवन था, जिसमें बाहरी चहल-पहल कम होती है। उनकी मृत्यु १६१६ में हुई—ठीक उसी दिन, जिस दिन अंग्रेज़ी के महान् नाट्यकार और कवि शेक्सपियर की मृत्यु हुई।

अब तक खोज-खोजकर सरवैंटीज़ के जिन ग्रंथों का प्रकाशन किया गया है उनकी संख्या चालीस से ऊपर होगी। पर, सारा संसार उनकी जिस रचना को जानता-मानता-पढ़ता है वह 'डान क्विक्ज़ोट' ही है।

सरवैंटीज़ के समय में एक विशेष प्रकार के उपन्यासों का बड़ा प्रचलन था जिन्हें 'रोमांस' कहते थे। तुर्कों और ईसाइयों के क्रूसेड नामक युद्ध के पश्चात् समस्त योरोप में योद्धाओं का एक वर्ग बन गया था जिन्हें 'नाइट' कहते थे। किसी प्रकार के अधर्म, अन्याय के विरुद्ध खड़ा होना उन नाइटों का स्वनियुक्त कार्य था। रोमांसों में प्रायः किसी खलनायक द्वारा किसी सुंदरी के बंदी होने और किसी नाइट द्वारा उसकी रक्षा की जाने और अंत में उस सुंदरी और नाइट के विवाह की कथा होती थी। सरवैंटीज़ ने देखा कि रिनैसैंस—पुनर्जागरण के पश्चात् इस प्रकार के रोमांस पुराने हो गए हैं, पर लेखकगण ऐसी ही परिस्थितियों पर अपनी कल्पना दौड़ाकर पुस्तकें तैयार कर देते थे। सरवैंटीज़ ने इन रोमांसों का व्यंग्य करने के लिए 'डान क्विक्ज़ोट' की रचना की।

डान क्विक्ज़ोट ला मोशा का रहनेवाला एक साधारण नागरिक था। वह रोमांसों के पढ़ने का बड़ा शौक़ीन था। कल्पना शक्ति उसमें बच्चों की सी थी। पढ़ते-पढ़ते अपने को ही कथाओं का नायक समझने लगता। उसने सोचा, मुझे

भी पुराने नाइटों की तरह बख्तर पहन, घोड़े पर सवार हो, दुष्टों के दमन और निरीहों की रक्षा के लिए निकलना चाहिए। वह अपने दुबले-पतले घोड़े पर सवार हुआ, उसने अपने नगड़दादा का टूटा-फूटा कवच पहना। नाइट के साथ स्क्वायर अर्थात् अनुचर के लिए सैंकोपैंजा को लिया। कल्पना कर ली कि कोई डलसीनिया डेल टोबोसो नाम की सुंदरी है जिसके प्रेम का अधिकारी वह तब बनेगा जब अपने शत्रुओं को पराजित कर लेगा। रोमांसों का युग तो बीत चुका था। पुनर्जागरण ने लोगों की शक्तियाँ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की ओर आकर्षित कर ली थीं। इस देर-आयद नाइट को बहादुरी दिखाने का कहीं अवसर ही न था। पर उसने कल्पना से शत्रु बनाए और उनसे झूठी हाथापाई की और उसे तरह-तरह की उपहासास्पद परिस्थितियों में पड़कर कष्ट उठाना पड़ा। अंत में उसके मित्र सैमसन कैरासको ने नाइट का वेश बनाया, उसे हराया और उससे वर्ष भर न लड़ने की प्रतिज्ञा कराई। इसी में बीमार होकर डान क्विक्ज़ोट मर गया।

सरवैंटीज़ ने जो व्यंग रोमांसों पर लिखना चाहा था वह जीवन पर ही व्यंग हो गया। अपनी शक्ति की सीमा न समझ, हममें से कितने ही समझते हैं कि हम न हों तो न जाने क्या हो जाय। हमीं अपनी कल्पना का जाल बुनते, हमीं उनको तोड़ते, हमीं अपनी पीठ ठोंकते हैं। हम सब किसी न किसी रूप में डान क्विक्ज़ोट हैं।

मुझे खेद है कि संपूर्ण डान क्विक्ज़ोट का हिंदी में कोई अनुवाद नहीं है। कोई सज्जन सीधे स्पेनिश से इसका अनुवाद करें तो हिंदी के भंडार की वृद्धि हो।[1]

१९५७]

१. १९६४ में श्री छविनाथ पांडेय ने 'डान क्विक्ज़ोट' का एक हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। प्रकाशक हैं साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

प्रेमचंद और 'गोदान'

(रेडियो वार्ता)

'गोदान' प्रेमचंद की अंतिम परिपूर्ण रचना है। यह उपन्यास सन् १९३६ में, उनकी मृत्यु के कुछ ही मास पूर्व, प्रकाशित हुआ था। इसे समाप्त करने के कुछ ही दिनों बाद उन्होंने एक दूसरा उपन्यास लिखना आरंभ कर दिया था, जिसका नाम उन्होंने 'मंगल सूत्र' रक्खा था, लेकिन मौत ने उनके हाथ से लेखनी छीन ली और वह रचना अधूरी ही रह गई। प्रेमचंद की लेखनी न थमना जानती थी, न थकना जानती थी; और यह अक्षरशः सत्य है कि अंग्रेज़ी उपन्यासकार स्काट के समान उन्होंने अपनी लेखनी मृत्यु-शय्या पर भी अपने साथ रक्खी और तभी छोड़ी, जब उनकी उँगलियों में उसे पकड़े रखने की ताब न रह गई।

'गोदान' शब्द का अर्थ है, ब्राह्मण को गौ का दान करना। हिंदुओं में यह एक बहुत पुरानी और बहु प्रचलित प्रथा है कि मरणासन्न् व्यक्ति से ब्राह्मण को गौ का दान कराया जाता है। ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार से दी हुई गाय मरे हुए आदमी की आत्मा की परलोक-यात्रा में सहायक सिद्ध होती है।

'गोदान' के प्रकाशित होने के थोड़े दिन बाद ही प्रेमचंद की मृत्यु हो जाने से इस रचना को एक प्रतीकात्मक महत्त्व प्राप्त हो गया। यह प्रेमचंद का अंतिम ग्रंथ था, अंतिम कार्य था, जो उन्होंने साहित्य-संसार से विदा लेने के पूर्व संपादित किया। वास्तव में, साहित्य के संसार में ही वे अधिक स्वाभाविकता, अधिक मिलनसारी और अधिक स्वच्छंदता के साथ विचरण करते थे। खरीद-फ़रोख्त और लेन-देन की दुनिया के लिए वे अजनबी थे। मरते हुए व्यक्ति द्वारा दी गई गौ उसकी जीवात्मा की परलोक-यात्रा में सहायक सिद्ध होती है या नहीं, इसे कोई नहीं बता सकता। कम-से-कम मैं नहीं बता सकता।

लेकिन यह निर्विवाद है कि 'गोदान' प्रेमचंद को हिंदी के सबसे बड़े उपन्यास-कार के रूप में प्रतिष्ठित करने में सहायक सिद्ध हुआ। अपने जीवन काल में वे 'उपन्यास-सम्राट' कहे जाते थे। शायद एक बार यह विवाद भी उठा था कि 'कवि-सम्राट' की समानता पर उन्हें 'उपन्यासकार-सम्राट' कहना चाहिए। यदि इस रूपक को थोड़ा और आगे बढ़ाना अनुचित न समझा जाए तो मैं कहना चाहूँगा कि यदि प्रेमचंद उपन्यास या उपन्यासकार-सम्राट थे तो 'गोदान' उनका मौर-मुकुट था। 'गोदान' प्रेमचंद की अंतिम रचना ही नहीं, उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना भी है।

यह बात तो प्रेमचंद के साधारण पाठक पर भी ज़ाहिर हुए बग़ैर न रहेगी कि 'गोदान' के कथानक, चरित्र-चित्रण, वातावरण अथवा लेखक के दृष्टिकोण में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बिल्कुल नई कही जा सके, जो पहले कभी नहीं थी और जो यहाँ पहली बार देखी गई है। पुस्तक हाथ में लेने के समय से लेकर पुस्तक समाप्त कर धर देने के समय तक आपको बराबर यह अनुभव होता है कि आप प्रेमचंद की दुनिया में घूम रहे हैं। आपको शुरू से यह पता रहता है कि उसकी कहानी कैसे आगे बढ़ेगी और समाप्त होगी; उसके पात्र किस प्रकार का व्यवहार करेंगे और कैसे विकसित होंगे; लेखक हमें किस ओर ले जा रहा है, किनके प्रति वह हमारी संवेदनाएँ जगाने जा रहा है, किनके प्रति हमारी घृणा उभारने। 'गोदान' को किसी भी अर्थ में हम कोई नया क़दम नहीं कह सकते। वस्तुतः 'गोदान' में उसी तकनीक और आदर्श की परिपक्वता और पुष्टि है, जिसे प्रेमचंद ने अपने कलाकार और मानव के जीवन में शुरू से अपनाया और ऊपर उठाया था। संभवतः अपने साहित्यिक और साथ ही अपने भौतिक जीवन को समाप्त करने के पूर्व उन्होंने अपने को परिपूर्णता से एक उपन्यास में रख देने का प्रयत्न किया था—अपने कलाकार को भी, मानव को भी; और उसी की परिणति 'गोदान' में हुई।

इस उपन्यास के ग्रामीण तथा नागरिक पात्रों की भीड़ में घुसकर—जिनसे मैं मिला हूँ, परिचित हुआ हूँ, जिन्हें मैंने पहचाना-समझा है—जब मैं किसी प्लाट अथवा कथानक को खोजने का प्रयत्न करता हूँ तो मैं अपने-आप को असफल ही पाता हूँ। एक तरह से होरी को हम इस उपन्यास का नायक कह सकते हैं। मध्य-वयस्क होरी एक ऐसे गाँव का गृहस्थ है, जो एक बड़े नगर से

बहुत दूर नहीं है। उसके पास थोड़ी-सी ज़मीन है, जिसपर वह अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से काम करता है और जो उसके भरण-पोषण का एकमात्र साधन है। होरी का जीवन उस लंबे संघर्ष की कहानी है, जो उसे अपने परिवार के लोगों, समाज के ठेकेदारों, मित्र कहे जानेवाले व्यक्तियों, सूदख़ोर साहूकारों, पुलिस के हुक्कामों, कपट-चंट पटवारियों और ज़मींदार के गुर्गों के विरुद्ध छेड़ना पड़ता है—और निश्चय ही ग़रीबी के विरुद्ध भी, जो भारतीय किसान का सबसे बड़ा अभिशाप है। स्वाभाविक है कि कृषि-निर्भर समाज में गाय समृद्धि का प्रतीक बन गई है, और होरी की महत्त्वाकांक्षा है, अपने घर एक अच्छी गाय रखने की। वह उसके घर आती है, परंतु मृग-मरीचिका बनकर और शीघ्र ही तिरोहित हो जाती है। अपनी मृत्यु-शय्या पर वह ब्राह्मण को जो दान देता है, वह गाय नहीं है; वह उसका प्रतीक मात्र है, थोड़ा-सा पैसा, जो उसकी अंतिम बचत है।

जिसकी पीठ के बीच में सीधी रीढ़ नहीं है वह संघर्ष नहीं कर सकता। और होरी की पीठ में वह है और निश्चय ही वह बहुत पोढ़ी है। वह क्या चीज़ है? ईश्वर में विश्वास? चरित्र की पवित्रता? ईमानदारी? सच्चाई? दृढ़ता? आशा? या और कोई नैतिक गुण जो साधारण उपदेशकों की रूढ़ सूची में स्थान पाता है अथवा धर्म-स्मृति की पावन पोथियों में बखाना जाता है? मुझे क्षमा किया जाय यदि मैं कहूँ कि इनमें से कोई भी नहीं। होरी के सारे काम सिर्फ़ एक बात से निर्दिष्ट होते हैं, केवल एक धारणा पर आधारित हैं, एकमात्र विचार से प्रेरित हैं, जिसे वह 'मरजाद' कहता है, जो अक्सर उसकी ज़बान पर रहता है; वस्तुतः जो गाँव के सभी लोगों की जीभ पर रहता है। गाँव का प्रत्येक व्यक्ति इसकी व्यापकता, इसकी अपरिहार्यता, इसकी उपयोगिता से—शायद शोभा से भी—सचेत है। हर व्यक्ति इसके आगे नतमस्तक होता है और जब कभी कोई व्यक्ति अपनी किसी दुर्बलता अथवा किसी दुर्निवार्य परिस्थितिवश ऐसा करने में असमर्थ रहता है, तब उसे इस बात की चेतना रहती है कि उसने कुछ ऐसा किया है, जो ग़लत है, अनुचित है, अशोभन है। और मैंने अक्सर यह सोचने का प्रयत्न किया है कि इस शब्द के मतलब क्या हैं? इससे गाँव के लोग समझते क्या हैं?

मेरे विचार से इसका मतलब है, इंसान की इंसानियत, आदमी की आद-

मियत, मनुष्य की मनुष्यता, मानव की गरिमा। जब कभी होरी कहता है कि यह मरजाद नहीं है, तब उसका मतलब होता है कि यह मनुष्य को शोभा नहीं देता। मनुष्य से जो प्रत्याशित है, उसकी एक सीमा है, एक स्तर है। उससे बाहर जाने पर नीचे गिर जाने पर, मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता।

प्रेमचन्द का जन्म और पालन-पोषण गाँव में हुआ था और उन्होंने भाव-प्रवण दृष्टि और भावी कलाकार की रागात्मक संवेदना से भारतीय किसान के दैन्य, दुःख, संकट, कष्ट और अपमान, ग्लानि को देखा-समझा था। और वे उस दृढ़ संघर्ष के भी साक्षी थे, जो वह उन सबके विरुद्ध अपने जीवन भर करता रहता है। प्रेमचंद ने अपनी आँखों से देखा था कि हमारे गाँव छोटे-मोटे नरक हो गए हैं और इस बात पर आश्चर्य किया था कि वे अब तक नष्ट-भ्रष्ट हो शून्य में विलीन क्यों नहीं हो गए। उन्हें आभास हुआ कि हमारे गाँवों ने कुछ भी खोया हो, सब कुछ खोया हो, एक चीज़ उन्होंने नहीं खोई थी—मूल्यों में आस्था, [illegible] में आस्था—मानव-गरिमा में आस्था—एक शब्द में, मरजाद। उनके मन में यह बात बैठ गई थी कि हो-न-हो इसी ने उन्हें अतीत काल में सहारा दिया था और उन्हें विश्वास हो गया था कि यही उन्हें भविष्य में उबारेगी भी। मेरी दृष्टि में होरी इसी विश्वास और इसी आशा का प्रतीक बनकर हमारे सामने खड़ा है।

एक पक्ष को दूसरे पक्ष से संतुलित रखना उपन्यासकार की बड़ी पुरानी तकनीक है; उपन्यासकार की ही क्यों, सभी कलाकारों की है। कुछ लोग कह सकते हैं कि नागरिक पात्रों का वर्ग—मेहता, खन्ना, तनखा, मिर्ज़ा, मालती का—केवल इसलिए लाया गया है कि ग्रामीण पात्रों के—होरी, भोला, गोबर, मातादीन, धनिया और झुनिया के वर्ग के लिए पृष्ठभूमि का काम दे सके, जिससे कि इस वैपरीत्य से वे अधिक उभरकर हमारे सामने आएँ। नागरिक पात्रों के वर्ग को लाने में केवल इतना देखना उपन्यासकार के उस बड़े उद्देश्य से अनभिज्ञ रह जाना है, जो संभवतः उसके मन में था।

गाँव के लोग भौतिक दृष्टि से ग़रीब हैं, दुखी हैं, लेकिन मानव-मूल्यों में उनकी आस्था है अथवा वे मानव-मूल्यों से सचेत है। शहर के लोग भौतिक दृष्टि से संपन्न हैं, कुछ के पास धन की अति है, लेकिन या तो उन्होंने मानव-मूल्यों में आस्था खो दी है अथवा उनसे अचेत हैं, नैतिक मूल्यों से, मूल्यों से

ही। पहले वर्ग के लोग भौतिक सुविधाओं को तरस रहे हैं, दूसरे वर्ग के लोग नैतिक मूल्यों के अभाव में बेचैन हैं। मालती को तब तक मानसिक शांति नहीं मिलती, जब तक कि वह नैतिक मूल्यों को नहीं अपना लेती। जन साधारण के प्रति संवेदना, दीनों की सेवा, असहायों की सहायता इन्हीं से उद्भूत होती हैं।

प्रेमचंद के 'गोदान' में गाँव के एक वर्ग का नगर के एक वर्ग से जो अंतर दिखलाया गया है, वह उस महान अंतर का प्रतीक मात्र है, जो हम आज के संसार में बहुत बड़े पैमाने पर देख रहे हैं। एक तरफ पश्चिम है—धन-धान्य से लदा-फँदा—लेकिन उसमें मानव-मूल्यों के प्रति आस्था का अभाव है। दूसरी ओर पूर्व है, एलिज़ाबेथ के युग का 'समृद्ध पूर्व' (रिच ईस्ट) नहीं; ग़रीबी का प्रतीक—जो अपने भौतिक अभावों में भी विश्वास और आशा के साथ कतिपय मानव एवं नैतिक अथवा जीवन के आधार-भूत मूल्यों से चिपका हुआ है। कुछ समय हुआ, मैं एक पुस्तक पढ़ रहा था, जिसकी हाल में पश्चिम में काफी चर्चा हुई है—'अमेरिका नीड्स ऐन आइडियालोजी' (अमरीका को सिद्धांत की आवश्यकता है)। एक ओर से प्रतिध्वनि-सी आई, 'इंडिया नीड्स ए बैंक-बैलेंस' (भारत को पूँजी की आवश्यकता है)। क्या एक, दूसरे की क़ीमत है ? क्या एक-दूसरे में लेन-देन संभव है ? और अपनी अंतर्दृष्टि से प्रेमचंद ने 'गोदान' में जो समस्या खड़ी की है, वह आधुनिक संसार की समस्या है और ये प्रश्न आज हर जगह पूछे जा रहे हैं। क्या दुनिया इन प्रश्नों का उत्तर देगी, इस समस्या को हल करेगी ?

१९५७]

पंत और 'कला और बूढ़ा चाँद'

मेरी शिक्षा-दीक्षा कुछ इस प्रकार हुई कि मैं कविता का प्रेमी बन गया। संस्कार और परिस्थितियों के कारण जीवन के साथ अनजाने जो शौक़-शग़ल लग जाते हैं या लगा लिए जाते हैं, कभी-कभी उनपर आगे चलकर पछतावा भी होता है। अपने काव्य-प्रेम के कारण मुझे पछताने का अवसर नहीं आया। उल्टे, आज जिन दो बातों के लिए मैं परमात्मा को सबसे अधिक धन्यवाद देता हूँ उनमें काव्य-प्रेम का नंबर दूसरा है। पहला न बताऊँगा, बहुत निजी है। ···शुक्र है तूने मुझे कविता का प्रेम दिया। दुनिया में बहुत-से शौक़ समय के साथ घट भी जाते हैं; मेरा काव्य-प्रेम नहीं घटा। कविता की कोई पुस्तक देखकर, मैं उसे पढ़ने को लालायित हो उठता हूँ—खरीदकर, माँगकर, चुराकर। पिछली दो नौबतें भी कम नहीं आईं। और परमात्मा से मेरी एक शिकायत भी है कि उसने मुझे कभी इतना पैसा नहीं दिया कि कविता की जितनी पुस्तकें चाहूँ खरीद सकूँ और जितना चाहूँ उतना दूध पी सकूँ। मधुपायी तो मैं काग़ज़ी भर हूँ; दिलदादा तो मैं दूध का ही हूँ। कभी-कभी तो ऐसी भाषाओं के काव्य-संग्रहों को भी खरीदने को मेरा जी करता है जिन्हें मैं नहीं समझ सकता। दूकान या पुस्तकालय में उनपर हाथ फेर चुपचाप रख देता हूँ—यह रस मेरे लिए नहीं है।

मेरे विद्यार्थी-जीवन में शिक्षकों और परीक्षकों का एक बड़ा घिसा-पिटा विषय था, जिसपर वे निबंध लिखाते थे, परचों में सवाल रखते थे और मौखिक परीक्षाओं में भी प्रश्न करते थे—'हू इज़ योर फ़ेवरिट पोएट ?' तुम्हारा प्रिय अथवा पसंद का कवि कौन है ? उस समय ऐसे प्रश्न का उत्तर देने की योग्यता मुझमें क्या रही होगी। अगर आज वे लोग मुझसे यह प्रश्न पूछते तो मैं शायद अधिक परिपक्व निर्णय और आत्मविश्वास के साथ उनको उत्तर दे सकता। मैंने विशेष अध्ययन अंग्रेज़ी और हिंदी काव्य का किया। अंग्रेज़ी के पुराने

कवियों में शेक्सपियर और आधुनिक कवियों में ईट्स को और हिंदी के पुराने कवियों में तुलसीदास और आधुनिक कवियों में सुमित्रानंदन पंत को मैं अपना 'फ़ेवरिट' कवि कह सकता हूँ। 'पसंद' के और 'प्रिय' से फ़ेवरिट मुझे कुछ अधिक सूक्ष्म अर्थ देता है, इसी कारण मैंने इस शब्द का प्रयोग किया है। 'फ़ेवरिट' बनाने में किसी कवि के बड़े-छोटे होने का प्रश्न नहीं उठता, हालांकि शेक्सपियर और तुलसीदास के बड़प्पन के आगे प्रश्न-चिह्न कौन लगाएगा; पर ईट्स और पंत के संबंध में उनसे बड़े आधुनिक कवियों की कल्पना की जा सकती है।

पंत जी की प्रथम प्रकाशित कृति 'उच्छ्वास' मैंने १९२२ में खरीदी थी। तब से आज तक उनकी सभी नई कृतियाँ मैंने प्रकाशित होते ही पढ़ी हैं। उनकी प्रत्येक रचना में मुझे एक विशेष प्रकार की नवीनता मिली है—भाव-विचारों का कोई नया स्तर, जग-जीवन-काल के प्रति कोई अभिनव प्रतिक्रिया। यह बात और है कि किन्हीं रचनाओं में किसी मन:स्थिति की एकता अथवा ठहराव के कारण कुछ साम्य भी हो—जैसे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में या 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' में। वैसे पंत जी में ठहराव की स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती। किसी रूढ़ अर्थ में नहीं, वे सतत प्रगतिशील कवि हैं। उनकी हर कृति नई दशा, या नए मोड़ का संकेत भले ही न दे, पर नई मंज़िल पर पहुँचने का सबूत निर्विवाद रूप से देती है। हमें यह न भूलना चाहिए कि सृजन की दिशा समतल ही नहीं होती, ऊर्ध्व भी होती है। अगर वे कहीं आगे नहीं बढ़े तो ऊपर उठे हैं, और प्राय: उन्होंने ये दोनों काम साथ किए हैं, आगे भी बढ़े हैं, ऊपर भी चढ़े हैं। "मैं जहाँ खड़ा था कल, उस थल पर आज नहीं"—उस 'स्तर' पर भी आज नहीं।

पंत जी की नवीनतम कृति 'कला और बूढ़ा चाँद' १९५८ की रचना है जो १९५९ के अंत में प्रकाशित हुई और १९६० के प्रारम्भ में लोगों के हाथों में पहुँची। डिमाई साइज़ में छपी, २०८ पृष्ठों की इस पुस्तक में ९० कविताएँ हैं। पुस्तक इधर उलटते-पलटते ही जिस बात का स्पष्ट आभास होता है, वह है इसकी नवीनता—प्रत्याशित नवीनता नहीं, अप्रत्याशित नवीनता, आश्चर्यजनक नवीनता। अपने चालीस वर्ष के काव्य जीवन में पहली बार उन्होंने एक ऐसी शैली में कविताएँ लिखीं, जिसमें शायद उन्होंने अब तक एक पंक्ति भी नहीं लिखी थी।

शैली का परिवर्तन अपने आप में एक बहुत बड़ी बात है। अपने प्रति ईमानदार और आत्मदानी कवि अथवा कलाकार में शैली का परिवर्तन उसकी जीवानुभूति में परिवर्तन, उसके भाव अथवा विचार-जगत में किसी प्रकार की उथल-पुथल अथवा उसकी किसी आंतरिक शोध अथवा प्राप्ति का अनिवार्य संकेत है। शैली उतनी बाहरी चीज नहीं, जितनी प्रायः उसे समझ लिया जाता है—उस शैली में न लिखा, इस शैली में लिखा। कथ्य और कथन में, विषय और शैली में, मांस और त्वचा से भी अधिक निकट और सूक्ष्म संबंध है। पंत ऐसे कवि की यह सनक मात्र नहीं हो सकती कि अपने उर-अजिर में नाचने वाली वाणी से सहसा कहे कि अपने छन्दों की पायलें उतार दो। तो, इस बाह्य नवीनता और परिवर्तन के पीछे किसी आंतरिक नवीनता को देखने-समझने की आवश्यकता होगी।

वैसे शैली का नया प्रयोग भी सर्जक की सजीवता तो सिद्ध करता ही है। सजीव जाति, सजीव भाषा, सजीव साहित्य नए-नए प्रयोग किया करता है। यह स्वस्थ तभी होता है जब कोई आंतरिक उद्वेलन नई अभिव्यक्ति माँगता है। प्रयोग के लिए प्रयोग प्रायः नई पीढ़ियाँ करती हैं—शायद अपनी सृजन-प्रवृत्ति की उद्दामता में ही। सृजन आधे से अधिक संयमन है। किसी पिछली आकांक्षा से, किसी प्रवृत्ति का अनुकरण करने के लिए, अथवा ख़ामख़्वाह लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए—जैसे अब भी उन्हें इसकी आवश्यकता है—पंत जी ने अपना संयम तोड़ दिया हो, इसे मैं नहीं स्वीकार कर सकता। चालीस वर्ष तक वाक्-साधना करने के पश्चात्, केवल अपनी मानसिक जवानी सिद्ध करने के लिए, शब्दों की उछाल-पुछाल करना पंत जी के लिए असंभव है। मैं यह मानता हूँ कि पंत जी की नई शैली उनके अंतर में किसी नवीन प्रस्फुटन का प्रतिफलन है।

मेरा अनुमान है कि अगर आपने आलोच्य कृति नहीं देखी तो अब तक इस शैली की रचना के लिए आपकी जिज्ञासा जाग गई होगी। दो कविताएँ यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा—एक लम्बी, एक छोटी।

मधुछत्र

ओ ममाखियो,
यह सोने का मधु

कहाँ से लाईं ?
वे किस पार के बन थे
सद्य: खिले फूल ?
जिनकी पंखुड़ियाँ
अंजलियों की तरह
अनंत दान के लिए
खुली रहती हैं !
कितने स्रष्टा
स्वप्न द्रष्टा
चितवन तूली से
उनके रूप रंग अंकित कर लाए !
फूलों के हार
पुष्पों के स्तवक सँजोकर
उन्होंने
कुम्हलाई हाटें लगाईं !
रूप के प्यासे नयन
मधु नहीं चीन्ह सके !
ओ सोने की माखी,
तुम मर्म ही में पैठ गईं,
स्वर्ग में प्रवेश कर
हिमालय-से अचेत
शुभ्र मौन को
गुंजित कर गईं !
उन माणिक पुष्पराग के
जलते कटोरों में
कैसा पावक रहा,
हीरक रश्मियों भरा ?—
जिसे दुहकर
तुम घट भर लाईं !

कौन अरूप गंध तुम्हें
कल का संदेश दे गई ?
ओ गीत सखी
ये बोलते पंख मुझे भी दो,
जो गाते रहते हैं,—
और,
वह मधु की गहरी परख,—
मैं भी
मधुपायी उड़ान भरूँगा !
मानवता की रचना
तुम्हारे छत्ते-सी हो !
जिसमें स्वर्ग-फूलों का मधु,
युवकों के स्वप्न,
मानव हृदय की
करुणा, ममता,—
मिट्टी की सौंधी गंध भरा
प्रेम का अमृत,
प्राणों का रस हो !

बाह्य बोध

तुम चाहते हो
मैं अधखिली ही रहूँ !
खिलने पर
कुम्हला न जाऊँ,
झर न जाऊँ !

हाय रे दुराशा !
मुझमें
खिलना
कुम्हलाना ही
देख पाए !

इन रचनाओं को पंत जी की पूरी रचनावली के बीच रख दें तो ये अपनी सत्ता और इयत्ता अलग उद्घोषित करेंगी। यदि आप पंत जी की रचनाओं से परिचित हैं तो आप सहज ही मुझसे सहमत हो सकेंगे। इन कविताओं को खड़ी-बोली की समस्त कविता के बीच रख दें, जिसमें आज की अधुनातन कविताएँ भी सम्मिलित हैं, तो भी इनका व्यक्तित्व सबसे अलग परिलक्षित होगा। मेरी समझ में इसका कारण है सबसे अलग पंत जी का व्यक्तित्व, सबसे अलग पंत जी की सूक्ष्मानुभूति, और तदनुरूप उसकी अभिव्यक्ति कर सकने की पंत जी की सक्षमता।

इस समय हिंदी-काव्य की प्रचलित विधाओं पर एक नज़र डालना होगा। मोटे तौर पर कविताएँ या तो छंदोबद्ध होती हैं, या मुक्त छंद में, जिनमें एक प्रकार की ध्वन्यात्मक लय निहित होती है, या तथाकथित 'नई कविता' में प्रयुक्त उस स्वच्छंद छंद में जिसमें 'अर्थ की लय' बताई जाती है। पहली बार इन कविताओं को देखने से ऐसा लगता है कि पंत जी ने जैसे नई कविता के इस अर्थलयी छंद को अपनाया है। कुछ नई कविता के पैरोकारों को भी यह भ्रम हुआ है और उन्होंने शोर मचाना शुरू कर दिया है—तुम कहाँ इधर चले आ रहे हो, यह हमारा घेरा है, हमारा चौका है, न तुमने अवचेतन की नदी में स्नान किया, न तुमने फ़ायड से दीक्षा ली, न तुमने माथे पर ईलियट की छाप लगवाई—अछूत! अछूत!!

वास्तव में पंत जी की शैली इन तीनों से भिन्न है। कविताओं को साधारण गद्य की तरह छाप दिया जाता, तो इस प्रकार के भ्रम की संभावना न रह जाती, पुस्तक कम पृष्ठों में छप जाती, सस्ती होती, और साधारण जनता तक पहुँच जाती। मैंने किन्हीं दो पृष्ठों पर गिना है—कुल शब्द ५५ हैं। मेरी ऐसी धारणा है कि 'कला और बूढ़ा चाँद' की रचनाओं की शैली एक विशिष्टता लिए हुए गद्य-काव्य की शैली है—आप चाहें तो उन्हें गद्य-गीत भी कह सकते हैं। इसीको पंत जी ने अधिक कवित्वपूर्ण ढंग से 'रश्मिपदी काव्य' कहा है। गद्य से गद्यात्मकता का संस्पर्श अथवा संगति अभी हम अपने मन से नहीं हटा सके, हालाँकि हिंदी में बहुत ही कवित्वपूर्ण, भावपूर्ण, रसपूर्ण गद्य-काव्य लिखा जा चुका है। जहाँ तक 'कला और बूढ़ा चाँद' की विधा की बात है, मेरी यह निश्चित धारणा है कि उसका संबंध गद्य-काव्य की उस परंपरा से

है जिसका बीजारोपण छायावाद की कविता के साथ ही साथ, राय कृष्णदास की 'साधना' (१९१६) से हुआ, जो वियोगी हरि (तरंगिणी), चतुरसेन शास्त्री (अंतस्तल), तेजनारायण 'काक' (मदिरा), रामकुमार वर्मा (हिमहास) की कृतियों में पल्लवित तथा दिनेशनंदिनी चोरड्या (शबनम), डा० रघुवीरसिंह (शेष स्मृतियाँ) और माखनलाल चतुर्वेदी (साहित्य देवता) की कृतियों मे पुष्पित-फलित हुई; न कि मुक्त छंद की उस परंपरा से जो महाकवि निराला से आरंभ होकर अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, कुँवरनारायण आदि कवियों में विकसित हुई। मैं फिर दुहरा देना चाहता हूँ कि यह केवल पंत जी की नई विधा, कथन अथवा शैली के लिए कहा जा सकता है। कथ्य अथवा विषयवस्तु से वह विशिष्टता आई है जो उनके गद्य-काव्य को परंपरागत गद्य-काव्य से अलग करती है और एक नवीन प्रतीकात्मकता, सूक्ष्मता अथवा प्रोज्ज्वलता देती है।

इसपर कुछ लिखने के पूर्व, रचना-प्रक्रिया को ध्यान में रखकर, मैं कविता की एक परिभाषा देने का प्रयत्न करूँगा। कविता, बोध के तलातल, धरातल अथवा शिखर पर थरथराने वाले भाव-विचारों की वह अभिव्यक्ति है जिसमें शब्दों की लय तथा रूपकों एवं प्रतीकों से सहायता ली जाती है। आधुनिक खड़ीबोली के काव्य का अधिकांश बोध के धरातल का ही काव्य है। बोध का धरातल भी कुछ छोटा नहीं, बहुत बड़ा है—लंबा-चौड़ा; और बीसवीं शताब्दी के पूर्व प्रायः कवि इसी धरातल से अपना कथ्य संग्रह करता रहा है। बीसवीं सदी का आरंभ होते-होते मनोविज्ञान की दुनिया में एक शक्ति ने बड़ी हलचल मचा दी। उसका नाम है फ्रायड। फ्रायड जर्मनी का एक यहूदी, आधुनिक मनोविश्लेषण (साइको-अनालिसिस) का अनुसंधानकर्ता माना जाता है। उन्माद के रोगियों की परीक्षा करते-करते फ्रायड ने साधारण मानव-मस्तिष्क के अनेकानेक तत्त्वों की खोज कर डाली। उसने सिद्ध किया कि मानव के सचेत मस्तिष्क के नीचे अवचेतन की भी एक भारी परत है। अचेतावस्था से लेकर मनुष्य की सहज-स्वाभाविक वृत्तियों को संसार, समाज अथवा अपने परिवेश से जो टक्करें लेनी पड़ती है, जो पराजय स्वीकार करनी पड़ती है, जिन इच्छाओं को दमित-दलित करना पड़ता है, वे सबकी सब उसी अवचेतन में संगृहीत होती रहती हैं, और विविध विकृतियों का रूप लेकर उसके व्यवहार में परिणत होती हैं।

स्वभाव से भावप्रवण और वृत्ति से अभिव्यक्तिप्रिय होने के कारण कवि या कलाकार इस अवचेतन का सबसे बड़ा शिकार होता है। फ़ायड के विचार साहित्य के क्षेत्र में भी घुसे। समालोचना की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति चल पड़ी। इसमें कोई संदेह नहीं कि फ़ायड ने कविता समझने की एक नई दिशा दी। फ़ायड के विचार सृजन के क्षेत्र में भी घुसे। जहाँ पहले अवचेतन अनजान सर्जक की अभिव्यक्ति को प्रभावित करता था, वहाँ अब वह जान-बूझकर अपने मस्तिष्क की अंध गुहा तलातल में पैठा, और वहाँ से सत्य, और तथ्य के नाम पर बहुत-सा कूड़ा-कर्कट-कीचड़ निकालकर बाहर फेंकने लगा। पाश्चात्य संसार के, और पाश्चात्य संसार के प्रभाव में आए हुए संसार के काव्य में इस अवचेतन से निकाला हुआ बहुत-सा मर-मसाला आज बजबजा रहा है। ऐसा करनेवालों के पास विज्ञान का बल है; सत्य से मुँह कैसे मोड़ सकते हैं, सत्य को आँख फाड़कर देखना होगा। ऐसे ही समय में पूर्व में एक और शक्ति का उदय हुआ, उसका नाम अरविंद है। फ़ायड नीचे को धँसे तो अरविंद ऊपर को उठे। फ़ायड ने अवचेतन की खोज की तो अरविंद ने अतिचेतन का साक्षात्कार किया। बोध के धरातल से जहाँ बहुत-से कवि अवचेतन की ओर झुके, वहीं कई कवि अतिचेतन की ओर भी उठे। हिंदी में पंत जी एक मात्र कवि हैं जिन्होंने इस अतिचेतन को अवगाहने के लिए बहुत वर्षों से प्रयत्न किया है। उन्होंने अवचेतन से मुँह ही नहीं मोड़ा, उसका विरोध भी किया है। उनकी 'शिल्पी' में संसार-संहार के पश्चात् नवसर्जकों को जो एक प्रतिमा विगत-विकृत युग की मिलती है, वह फ़ायड की है :

> यह सिर के बल खड़ी मूर्ति है किस नर पशु की ?
> मानव के पूर्वज सा लगता भाव मूढ़ जो !
> पुच्छ विषाण विहीन, भरा बहु रोओं से तन,
> दृप्त मद्यपी के से दृग, भौंडी मुख आकृति :
> मत्त वृषभ का सा मांसल निचला तन इसका,
> कौन पड़ा यह गड्ढे में, कीचड़ में डूबा !
>
> किसी मनोविश्लेषक की प्रतिमा लगती यह,—
> सीढ़ी-सीढ़ी उतर गहन वासना गर्त में

अवचेतन के अंधकार में भटक गया जो !
ऊर्ध्व श्रेणियाँ छोड़ चेतना की, जो निम्नग
निश्चेतन में विचरा पशु मानस के स्तर पर,
उलझ ग्रंथियों में असंख्य इंद्रिय भ्रम पीड़ित
खोज न पाया आत्मशुद्धि का पथ अंतर्मुख,—
उभरे मोटे ओठों में लालसा दबाए
कुंठाओं की रेखाओं से जर्जर आनन !

अतिचेतन की ओर उठने का अध्यवसाय संभवतः उन्होंने 'स्वर्णकिरण' की रचनाओं के साथ आरंभ किया था। 'कला और बूढ़ा चाँद' में उसकी बड़ी मनोमय परिणति हुई है। जो बात पहले सिद्धांत या विचार के रूप में आई थी वह, कवि की कल्पना का आश्रय पाकर भी, थोड़ी शुष्कता के साथ 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' में व्यक्त हुई। 'उत्तरा' में वह अधिक भाव-सिक्त होकर आई। आश्चर्य नहीं, पंत जी ने स्वयं 'उत्तरा' को सौंदर्य-बोध तथा भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से अपनी रचनाओं में सर्वोपरि माना। 'अतिमा' और 'वाणी' से होते हुए 'कला और बूढ़ा चाँद' तक पहुँचते-पहुँचते विचार और भाव लय हो गए, सूक्ष्मानुभूति में बदल गए, जिसे आप चाहें तो सहज स्फुरण, सहज प्रज्ञा अथवा दिव्य दृष्टि, कुछ भी कह सकते हैं :

"ओ रचने,
तुम्हारे लिए कहाँ से
ध्वनि, छंद लाऊँ ?
कहाँ से शब्द, भाव लाऊँ ?
सब विचार, सब मूल्य
सब आदर्श लय हो गए !"

अनुभूतियों की एक सीमा पर शब्द साथ नहीं देते, यह साधारण अनुभव है। 'कला और बूढ़ा चाँद' में भी शब्दों की असमर्थता बार-बार व्यक्त की गई है। विरोधाभासी अभिव्यक्तियाँ छायावादी काल से ही हिंदी में आ गई थीं। इस रचना में उनका प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। शब्द जैसे एक-दूसरे से टकराकर चकनाचूर हो जाते हैं। कवि मौन भी होने को तैयार है। पर जैसे शब्द से, वैसे मौन से भी, अनुभूति अनभिव्यक्त ही रहेगी। फिर वह बोलता क्यों

न जाए ! साधक के ऊपर कलाकार विजयी होता है। वह निश्चय करता है कि वह प्रतीकों में बोलेगा :

"मैं शब्दों की
इकाइयों को रौंदकर
संकेतों में
प्रतीकों में बोलूँगा।"

मज़ा तो यह है कि चाहे 'कवि बोध के सर्वोच्च शिखर से' अतिचेतन की चोटी से बोले, चाहे बोध के तलातल से—अवचेतन की निचली-से-निचली सतह से, बोलते दोनों हैं प्रतीकों में ही। जिसे अवचेतन की कविता कहा जाता है वह उतनी ही प्रतीक-प्रचुर है जितनी अतिचेतन की कविता। दक्षता शायद दोनों स्तरों की अभिव्यक्ति देने के लिए चाहिए। शायद दोनों से अच्छी कविता भी लिखी जा सकती है, पर जब कविता के द्वारा जीवन को समझने का प्रयत्न किया जाएगा, जीवन को उदात्त बनाने की प्रेरणा ली जाएगी तब अवचेतन की सत्ता स्वीकार करते हुए भी अतिचेतना के शिखर पर ही चढ़ना होगा। कविता का अंतिम ध्येय जीवन को उठाना ही हो सकता है। 'पल्लव' में पंत जी स्वयं यह घोषणा करते हुए आए थे :

"अकेली सुंदरता, कल्याणि !
सकल ऐश्वर्यों की संधान।"

'कला और बूढ़ा चाँद' में वे स्पष्ट स्वर में कहते हैं :

"शिव की कला ही
सत्य और सुंदर है।"

अवचेतन केवल सत्य-तथ्य, वैज्ञानिक दृष्टिकोण की दुहाई देकर अपना रखाव-बचाव नहीं कर सकेगा। अवचेतन के भूत, प्रेत, चुड़ैलों, डाकिनियों को शिव का अनुयायी होना पड़ेगा। हमारी पौराणिक कथा का यही मर्म अर्थ है।

संक्षेप में, 'कला और बूढ़ा चाँद' ऊर्ध्व मूल्यों का काव्य है। उन मूल्यों पर पंत जी 'स्वर्णकिरण' से लेकर, शायद एक दूसरे रूप में 'ज्योत्स्ना' से लेकर आज तक लिखते आए हैं; 'ज्योत्स्ना' में सर्वप्रथम उनके जीवन-दर्शन ने एक बुनियादी धरातल तैयार किया था। पंत जी ने अपने काव्य-जीवन में भावों से भी बहुत कहा है—विचारों से भी बहुत कहा है—विचारों से जो उन्होंने

कहा है शायद बहुत-से लोग उसे उच्चकोटि की कविता न माने—'कला और बूढ़ा चाँद' में उन्होंने सहज स्फुरण (इनट्यूइशन) से कहा है, दिव्यदृष्टि से कहा है—द्रष्टा के आत्म-विश्वास से कहा है, जैसे हमारे वैदिक ऋषि कहते हैं :

"वेदाहमेतं पुरुषं महांतं"—
(मैं इस महद् पुरुष को जानता हूँ)

× × ×

"मैंने
हिमालय के
शुभ्र श्वेत मौन को
फूँका,
मानस शंख से
छोटा था वह !"

× × ×

"मैं सूर्य में डूबा,
वह स्वच्छ सरोवर निकला,
(मैं) रक्त कमल सा खिला !
मेरे अंग अंग
स्वर्ण शुभ्र हो उठे।"

पंत जी केवल कवि नहीं रहे हैं, वे बहुत बड़े विचारक भी हैं, यह और बात है कि विचारों को पद्यबद्ध करना कविता न माना जाए। पद्य रचना पर पंत जी का इतना ज़बर्दस्त अधिकार है कि अब मैं ऐसा सोचने लगा हूँ कि शायद अपने विचारों को संयमित, नियमित, संतुलित, संक्षिप्त, सबल और पूर्णतः प्रभावकारी (ब्रेविटी इज़ स्ट्रेंथ) रखने के ध्येय ही से तो नहीं उन्होंने उन्हें पद्यबद्ध किया ! अपने कुछ विचारों को उन्होंने गद्य में भी व्यक्त किया है और पद्य में भी। किसी को किसी दिन इसका अध्ययन करना पड़ेगा कि किस माध्यम से कवि ने थोड़े में अधिक सारगर्भित बात कह दी है। कविर्मनीषी तो पंत जी पहले भी थे। 'कला और बूढ़ा चाँद' ने उन्हें द्रष्टा कहलाने का भी अधिकारी बना दिया है। अपनी लंबी कविता 'स्वर्णोदय' के नायक में शायद उन्होंने अपना पहले का और अबका चित्र अंकित कर दिया है :

"तरुण रथी ने झेले बहु फूलों के शायक,
क्रांत दृष्टि वह रहा, विचारक, जनगण नायक;
अन्वेषक, शोधक, निज युग का भाग्य विधायक,
धर्म नीति दर्शन मंथन में अपर विनायक !"

× × ×

"सहज चेतना से अब उसका हृदय प्रकाशित,
आतप-सी वह, जिसे न भू रज करती रंजित,
शैशव, यौवन, शिशिर, वसंत उसी में चित्रित,
शुभ्र किरण वह, जीवन इंद्रधनुष में सज्जित"

मैं यह लेख इस विश्वास के साथ समाप्त करना चाहता हूँ कि 'कला और बूढ़ा चाँद' के प्रति आपकी जिज्ञासा बढ़ेगी और आप उसे पढ़ना चाहेंगे। कुतुबमीनार की चोटी पर पहुँचने के लिए बहुत-सी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। पंत जी की यह अभिनव कृति उनकी चोटी की रचना है। अगर आप चाहते हैं कि उसका रस आप ले सकें तो आपको सीढ़ी-सीढ़ी ऊपर जाना चाहिए— उनकी प्रथम रचना 'वीणा' से आरंभ करके। अपना एक रहस्य आपको बताऊँ, पंत जी की जब कोई नई रचना प्रकाशित होती है तो मैं एक बार शुरू से उनकी सारी रचनाओं का पारायण कर उसे पढ़ना आरंभ करता हूँ। और अपनी पिछली रचनाओं के संदर्भ में ही, मुझे लगता है, उनकी नई रचना पूरा अर्थ देती है।

१९६१]

हमारा राष्ट्रीय गीत[1]

राष्ट्रीय गीत के संबंध में जो चर्चा बहुत दिनों से चल रही है उससे भारतीय जनता भली भाँति परिचित है। स्वतंत्र देश के लिए कुछ बाहरी प्रतीकों की आवश्यकता होती है, जिससे उस देश का व्यक्तित्व दूसरों से अलग व्यक्त हो सके। इनमें राष्ट्रीय झंडा, राष्ट्रीय मुहर और राष्ट्रीय गीत प्रमुख हैं। राष्ट्रीय झंडे के संबंध में निर्णय हो चुका है और वह सबको मान्य भी है। राष्ट्रीय मुहर के लिए अशोक स्तंभ का शिखर पसंद किया गया है और उसका प्रयोग भी हो रहा है। परंतु राष्ट्रीय गीत के संबंध में हम अभी तक किसी अंतिम निर्णय पर नहीं पहुँचे। मैंने अक्सर सुना है कि राष्ट्र-गीत के संबंध में देश के साहित्यकारों और कवियों को अपनी सम्मति देनी चाहिए; यह प्रश्न केवल राजनीतिज्ञों पर नहीं छोड़ देना चाहिए। कुछ लोग अधिक आवेश में आकर, प्रायः वे लोग जो अंग्रेज़ी की तुलना में भारतीय भाषाओं को नगण्य समझते हैं, यह भी कह उठते हैं कि राष्ट्र-भाषा, राष्ट्र-भाषा चिल्लाते तो बहुत हो, तुमसे इतना भी तो नहीं हो सका कि एक अच्छे राष्ट्र-गीत की रचना कर सको। पहली बात का समाधान तो यों किया जा सकता है कि हमारे देश के साहित्यकार विदेशियों के शासन के समय से ही इतने उपेक्षित रहे हैं, कि उन्हें इस बात का विश्वास ही नहीं रह गया है कि वे जो कुछ अपनी बुद्धि अथवा सुरुचि के अनुसार कहेंगे, उसकी कोई क़द्र की जायगी। इस कारण वे प्रायः ऐसे मामलों में तटस्थ ही रहते हैं। दूसरी बात के लिए मेरा अपना विचार यह है कि राष्ट्र-गीत के लिए किसी रचना का बहुत उच्च-कोटि का होना आवश्यक नहीं है। दुर्भाग्यवश मैं अंग्रेज़ी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के राष्ट्र-गीत नहीं जानता। परंतु मैं पूछना चाहूँगा कि अंग्रेज़ों के राष्ट्र-गीत में कौन-सा कवित्व है जिसके लिए अंग्रेज़ जाति के मनीषियों और कवियों

१. संगम (प्रयाग) १३. १२. '४८

ने अपना मस्तिष्क खपाया है। लेकिन यह वह गीत है कि जहाँ कहीं भी यह गाया जाता है, हर अंग्रेज़ अटेनशन पर खड़ा होकर ध्यानस्थ हो जाता है। राष्ट्र-गीत, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, एक प्रतीक है—एक मूर्ति है—मानो तो देवता नहीं पत्थर। सारी बात मानने की है।

यह मानने की बात जितनी सरल मालूम होती है, उतनी सरल नहीं है। सारे देश का देश बिना किसी ज़ोर-दबाव के कोई चीज़ मान ले, यह कोई साधारण बात नहीं है। उस चीज़ में कुछ तो ऐसा होना ही होगा जो सबके अंतर को छू सके। एक पीढ़ी के मान लेने के बाद दूसरी पीढ़ी उसे कुल-देवता के समान पूजेगी और उसी के साथ अपनी भावनाएँ संबद्ध करती जायगी, पर प्रश्न तो है हमारी वर्तमान पीढ़ी का। हम अवश्य ही एक नवीन भारत की नींव डाल रहे हैं, पर हम सब कुछ नया ही नहीं कर सकते। हम कुछ संस्कार भी लाए हैं। शायद हम उन्हें न भूलें तो अपने भविष्य के निर्माण में अधिक सतर्क और संतुलित रह सकेंगे। राष्ट्र-गीत के संबंध में भी हम कुछ संस्कार लाए हैं। राष्ट्रीय झंडे के संबंध में भी हमारे संस्कार थे। हमने स्वाधीन भारत का झंडा बिल्कुल नए रूप में नहीं खड़ा किया। उसके पुराने रूप में ही थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है। अगर आवश्यकता हो तो एकदम नई चीज लाने का मैं विरोधी नहीं हूँ, परंतु राष्ट्र-गीत के संबंध में मेरी धारणा है कि हम एकदम नया कुछ नहीं ला सकेंगे। कम से कम, आइए इस पर थोड़ा-सा विचार तो कर ही लें कि राष्ट्र-गीत के नाम पर हमारी भावनाएँ किन बिंदुओं पर केन्द्रित होती रही हैं।

मुझे क्षमा किया जाए, यदि मैं कुछ व्यक्तिगत चर्चा भी करूँ। मुझे याद आते हैं अपने म्यूनिस्पल स्कूल के दिन, सन् १९१७-'१८ का ज़माना, जब हमारे स्कूलों में जार्ज पंचम और क्वीन मेरी की तस्वीर लगी रहा करती थी। उस समय विशेष अवसरों पर एक गीत गाया जाता था। हम सब लोग खड़े हो जाते थे, दो-एक अच्छे स्वर वाले लड़के उसे गाते थे। उस गाने की पहली पंक्ति मुझे अब तक याद है।

"भगवान् हमारे जार्ज पंजुम को चिरायू कीजिए।"

हमारे अध्यापक गण बहुत श्रद्धा और आदर से उसे हमें गाना और सुनना सिखलाते थे। यह हमारी दास प्रवृत्ति के अनुरूप था और आनेवाली पीढ़ियाँ

भले ही इस पर अचरज करें, परंतु हम, जिन्होंने अपनी आधी उमर दासता में काटी है, भली भाँति उस दबी मन:स्थिति का अंदाज़ा कर सकते हैं, जिसमें ऐसी बातें संभव थीं।

सन् १६१६ में मैं कायस्थ पाठशाला में आया। यहाँ स्कूल का काम शुरू होने के पहले बड़े हाल में सब जमा होते थे और 'वंदे मातरम्' का गीत गाया जाता था। उत्सव आदि पर भी हमारी कार्रवाई 'वंदे मातरम्' के गीत से शुरू होती थी और हम सब लोग इस गीत का आरंभ होते ही चटपट खड़े हो जाते थे। वहीं मैंने यह सीखा कि यह हमारा राष्ट्र-गीत है। इस संबंध में मुझे एक घटना याद है। स्कूल में तो इस गीत को गाना ठीक था, पर हमारे बड़े-बूढ़े इसे बाहर कहीं गाने में भय का अनुभव करते थे। एक दिन मैं अपने घर पर 'वंदे मातरम्' गा रहा था कि मेरे चाचा ने मुझसे कहा, "वंदे मातरम् इस तरह गा रहा है, पकड़वाएगा ?" मैं कुछ समझ नहीं सका, केवल यही ध्यान आया कि यह पूजा गीत जहाँ-तहाँ गाने की चीज़ नहीं, इसे सदा गंभीरता से गाना चाहिए। बाद को जैसे-जैसे मेरा ज्ञान बढ़ा, मैंने वंदे मातरम् आंदोलन के विषय में काफ़ी जाना। तभी से मेरी धारणा थी कि 'वंदे मातरम्' ही हमारा राष्ट्र-गान है। स्वतंत्रता आंदोलनों में कितने ही अवसरों पर सहस्रों कंठों से उठाया गया यह नाद, "क़ौमी नारा—वंदे मातरम्" आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है। यही 'वंदे मातरम्' का इतिहास और संस्कार मेरे मन में था, जब मैंने बंगाल के काल पर लिखित अपनी कविता में उसके विषय में भी लिखा था :

"वही बंगाल
देख जिसे पुलकित नेत्रों से
भरे कंठ से
गद्गद स्वर में
कवि ने गाया राष्ट्र-गान वह
वंदे मातरम्,
सुजलाम्, सुफलाम्, मलयज शीतलाम्,
शस्य श्यामलाम्, मातरम्···
वंदे मातरम्;

जो नगपति के उच्च शिखर से
रास कुमारी के पदनख तक
गिरि-गह्वर में,
वन प्रांतर में,
मरुस्थलों में, मैदानों में
खेतों में, औ' खलिहानों में,
गाँव-गाँव में,
नगर-नगर में,
डगर-डगर में,
बाहर-घर में,
स्वतंत्रता का महा मंत्र बन,
कंठ-कंठ से हुआ निनादित,
कंठ-कठ से हुआ प्रतिध्वनित;
जपकर जिसको आज़ादी के दीवानों ने,
कितने ही,
दी मिला जवानी
मिट्टी में, काले पानी में;
कितनों ने हथकड़ी-बेड़ियों की झन-झन पर
जिसको गाया.
और सुनाया,
मन बहलाया,
जब कि डाल वे दिए गए थे,
देश प्रेम का मूल्य चुकाने,
कठिन, कठोर, घोर कारागारों में;
कितने ही जिसको जिह्वा पर लाकर
बिना हिचक के,
बिना झिझक के,
हँसते-हँसते,
झूल गए फाँसी वाले तख्ते पर

या खोल छातियाँ खड़े हुए
गोली की बौछारों में ।"

यह था वंदे मातरम् का संस्कार मेरे मन पर। कायस्थ पाठशाला के दिनों में ही मेरा परिचय 'जनगण मन' वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत से हुआ। पर इसके साथ किसी प्रकार के राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास की अथवा बलिदान की कहानी नहीं जुड़ी हुई थी। बीच में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के बढ़ने पर मुस्लिम लीग के द्वारा और फिर प्रायः सभी मुसलमानों के मुँह से यह बात सुनाई पड़ने लगी कि 'वंदे मातरम्' में मूर्तिपूजा की गई है और मूर्ति पूजना इस्लाम के धार्मिक सिद्धांतों के विरुद्ध है, इसलिए जहाँ यह गाया जाय, वहाँ किसी मुसलमान को उपस्थित नही रहना चाहिए। बाद को मुझे भी मालूम हुआ कि 'वंदे मातरम्' का जो भाग हम लोग गाते हैं, वह संपूर्ण गीत न होकर उसका ऊपरी हिस्सा है और आगे चलकर इसी गीत में दुर्गा की उपासना की गई है। दुर्गा पूजा के बँगला विशेषांकों मे दुर्गा के चित्र के साथ मैंने यह पूरा गीत छपा देखा भी और तब मन में यह बात भी आई कि मुसलमान जो कहते हैं, उसमें कुछ तर्क अवश्य है यद्यपि जो अंश राष्ट्रगीत के रूप में स्वीकार कर लिया गया है, उसमें किसी देवी-देवता की उपासना न होकर भारतमाता की ही वंदना है। मैंने सम्मिलित जलसों में इस गीत के आरंभ होने पर मुसलमानों को सभा छोड़ते भी देखा। स्वतंत्रता-प्रदान उत्सव पर अनेक मुसलमान नेता उस समय सभा में आए, जब 'वंदे मातरम्' का गीत समाप्त हो चुका; इनमें मिस्टर खलीकुज्जमा का नाम पत्रों में भी आया था।

'जनगण मन' वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत से भी एक इतिहास जुड़ा था। जब युद्ध के समाप्त होने पर श्री सुभाषचन्द्र बोस की आज़ाद हिन्द फौज की कहानी देश में पहुँची तो सन् '४२ की कुचली हुई जनता में एक बिजली की लहर दौड़ गई। जो कुछ आज़ाद हिन्द ने किया था, वह हमारे लिए कौतूहल और सम्मान का विषय बन गया। आज़ाद हिन्द के ये नारे थे, ये टिकट थे, ये अखबार थे, यह झंडा था, आदि-आदि। इसी बीच यह बात भी खुली कि आज़ाद हिन्द सरकार ने 'जनगण मन' को अपना राष्ट्र-गीत मान लिया था। आज़ाद हिन्द सरकार ने इस गीत का एक हिन्दुस्तानी रूप बना लिया था। इस गीत का प्रचार शीघ्रता से होना शुरू हुआ और यह दिखलाने

को कि जैसे आज़ाद हिन्द के विद्रोह के साथ हम सब सम्मिलित हैं, यही 'जनगण मन' का गीत हर जगह गाया जाने लगा और 'वंदे मातरम्' धीरे-धीरे पीछे पड़ने लगा। उसी समय से हमने 'जय हिन्द' का सैलूट स्वीकार किया। पंडित नेहरू ने इसपर एक लेख भी लिखा कि 'वंदे मातरम्' की जगह अब हमें परस्पर मिलने पर 'जय हिन्द' कहना चाहिए और वे आज भी अपने समस्त भाषणों में 'जय हिन्द' कहना नहीं भूलते। बताने की आवश्यकता नहीं कि जय हिन्द 'आज़ाद हिन्द' गवर्नमेंट का सैलूट था। 'वंदे मातरम्' को छोड़कर श्री सुभाषचन्द्र बोस ने 'जनगण मन' को क्यों राष्ट्रगीत माना, इसे समझना कठिन नहीं है। 'वंदे मातरम्' के साथ मुसलमान मूर्तिपूजा का भाव जोड़े हुए थे। ऐसी फ़ौज में जिसमें हिन्दू-मुसलमान सब सम्मिलित हों, वे किसी प्रकार के विवाद अथवा विरोध के लिए तैयार न थे। फिर 'वंदे मातरम्' का गीत संस्कृतमय और कठिन भी था। उन्होंने इतना ही नहीं किया 'जनगण मन' के बंगला रूप को हिन्दुस्तानी रूप भी दिया। ऐसा करने में उस सुन्दर कविता में बहुत-से रचना-दोष भी आ गए। पर जान पर खेलने का समय था, शब्दों की ओर ध्यान देने की फ़ुरसत नहीं थी। गीत ने सबकी श्रद्धा समेटी; ध्येय सफल हुआ।

आज़ाद हिन्द फ़ौज के विद्रोह के पूर्व यदि राष्ट्र-गीत के नाम से किसी गीत पर ध्यान जा सकता था तो वह 'वंदे मातरम्' ही था। आज 'वंदे मातरम्' के साथ 'जनगण मन' उसका प्रबल प्रतिद्वंदी है। दोनों गीतों से जो भावनाएं जुड़ गई हैं, उनकी तुलना करना उचित नहीं है। एक से यदि हमारी श्रद्धा और उमंग जुड़ी हुई है तो दूसरी से हमारा विद्रोह और आज़ादी का पहला सपना जुड़ा हुआ है। एक से यदि हमारा त्याग और बलिदान जुड़ा हुआ है तो दूसरे से हमारी शक्ति और वीरता जुड़ी हुई है। 'वंदे मातरम्' के गीत में यदि भारत माता अपने कोटि-कोटि भुजाओं में करवाल लेकर खड़ी हो गई हैं तो 'जनगण मन' में जैसे वह अपने शत्रु को पराजित करने के लिए वेग से चल पड़ी हैं। एक स्थिरता का और दूसरा गति का गीत है; दोनों को साथ सुनकर आप उनकी ध्वनि से यही आभास पाएँगे।

राष्ट्र-गीत की चर्चा करते समय सहसा 'झंडा ऊंचा रहे हमारा' का भी ध्यान आता है। उसका आजकल कोई नाम भी नहीं लेता। प्रचारात्मक

साहित्य का ऐसा ही अंत होता है। उसमें कोई कवित्व गुण भी नहीं था। रचना-दोष भी उसमें बहुत थे। जब झंडे का गीत पसंद किया गया, तो दूसरों से उपेक्षित और अपने से तटस्थ हिंदी कवियों की राय भी नहीं ली गई। गीत चल पड़ा और उसने अपना काम किया। कम ही लोगों को यह बात मालूम होगी कि यह झंडे का गीत मौलिक नहीं है। यह गीत 'यूनियन जैक' पर लिखे गए एक गीत से लिया गया था। 'यूनियन जैक' पर वह कविता १९२५ की फ़रवरी की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। रचना किसी अमन-सभाई की मालूम होती है, जिसे अपना नाम देने में भी शर्म मालूम होती थी, इसीसे उसने अपने क़लमी नाम 'सत्कविदास' से यह कविता छपाई थी। १९२० के असहयोग आंदोलन के पश्चात् कवियों में भी कोई इस मनोवृत्ति का था, इस पर अचरज होता है। कौतूहल के लिए कुछ पंक्तियाँ दे रहा हूँ, जिससे आपको पता लग सके कि झंडे के गीत का लेखक इस 'सत्कविदास' का कितना ऋणी है :

"संहति मूर्ति, तिरंगा प्यारा,
झंडा ऊँचा रहे हमारा।
उसकी छवि दर्शाने वाला,
स्वजनों को हर्षाने वाला,
उस झंडे की छाया में अब
चलो साथ ही बोलें हम सब,
कैसर हिंद, प्रजा के प्यारे,
रहें सुखी सम्राट हमारे।"

जिस गीत के नुत्फ़े में 'यूनियन जैक' पड़ा हो, उसके भुलाए जाने पर अथवा नष्ट होने पर मुझे कोई दुख नहीं है। इसके विषय में इतना लिखने की ज़रूरत इसलिए थी कि कुछ दिशाओं में इसे भी राष्ट्र-गीत मानने की कुछ आवाज़ें कभी-कभी कानों में पहुँचीं।

'जनगण मन' और 'वंदेमातरम्' की प्रतिद्वन्द्विता में 'जनगण मन' को पंडित जवाहरलाल नेहरू से बल प्राप्त हुआ है। उन्होंने सर्वप्रथम इस बात को उठाया कि 'वंदे मातरम्' का गीत मंद और 'जनगण' का गतिमय है। यह बिलकुल ठीक बात है। बाजों पर इसे बजाने की सुविधा

के अतिरिक्त, प्रगति के इस युग में हमें गतिमय गीत को ही अपनाना चाहिए। आज़ाद हिन्द फौज के साहसी कारनामों से पंडित नेहरू एक समय फड़क उठे थे और उन्होंने इन्हीं के बल पर जेल से बाहर होते ही सन् '४२ की मरी-मसली जनता में जान फूँकी थी। यह बात भी उनके मन में अवश्य होगी कि आजाद हिन्द सरकार ने उसको अपना राष्ट्र-गीत माना था। 'वंदेमातरम्' को वे नहीं चाहते, इसका कारण संभवतः केवल यही नहीं है कि उसकी गति मंद है। हमारे देश का एक अंग इसका विरोध अपने धार्मिक सिद्धांतों के कारण करता रहा है। पाकिस्तान बनने के बाद अगर आज हिंदू चाहें तो उनकी इस भावना की उपेक्षा कर सकते हैं। पर पंडित नेहरू कभी ऐसा करके सुखी नहीं हो सकते। संभवतः 'वंदेमातरम्' को छोड़ने के पीछे उनके मन में मुसलमान जनता की भावना का भी ध्यान है। यह उदारता और दरियादिली पंडित नेहरू के अनुकूल है, और इसे हमारा समर्थन मिलना चाहिए। 'जनगण मन' को स्वीकार करने की कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। यह अपने संगीत में पूर्ण है और बैंड आदि पर बजाने के उपयुक्त है। प्रगति युग में गति का आभास भी देता है। उसके साथ हमारी आज़ादी की पहली किरण का इतिहास भी बँधा है। पर हर रचना पर कुछ युग की छाप रहती है। समय ने हमारे देश का नक़्शा ही बदल दिया। पूरे का पूरा 'सिंध' हिंदुस्तान की सीमा से बाहर चला गया है। 'पंजाब' और 'बंग', हिंदुस्तान और पाकिस्तान दोनों में हैं। विधान सभा के प्रथम सभापति श्री सच्चिदानंद सिन्हा ने एक बार लिखा था कि इस गीत में मेरे सूबे का (यानी बिहार का) नाम ही नहीं है; मैं कैसे इसे अपना राष्ट्र-गीत मानूँ। कभी-कभी पत्रों में कुछ लोगों ने लिखा है कि यह रचना जार्ज पंचम के लिए लिखी गई थी। पता नहीं इसका कुछ सबूत भी उनके पास है या नहीं। यदि ऐसा है तो हम अपने राष्ट्र-गीत के साथ ऐसे संबंध पर कैसे अभिमान कर सकते हैं। फिर इस 'भाग्य विधाता' में कुछ मध्यकालीन प्रवृत्ति भी जान पड़ती है। हम भाग्यवादी कब तक बने रहेंगे, कब तक 'भाग्य विधाता' के संकेतों पर ही चलते रहेंगे। आनेवाली दुनिया में हमें भाग्य-भरोसे न बैठकर कुछ उद्यम भी करना होगा। इस कारण भी बहुत-से लोगों को 'भाग्य विधाता' खटकता है। एक बात और भी है। इस गीत में देश का सम्यक् रूप नहीं है; न तो इसकी भूमि का और न इसके निवासियों

का। देश क्या है—पंजाब, सिंधु, गुजरात, मराठा आदि-आदि। निवासी क्या हैं—हिंदू, बौद्ध, सिक्ख, जैन, पारसी आदि-आदि। क्या हमारा यही सपना है कि भारत की भूमि प्रांतों में बँटी रहे और भारतवासी धर्मों के गल्ले में विभक्त रहें ? यहीं पर है प्रांतीयता और सांप्रदायिकता की जड़, जिसे काटने को हमारे नेता लगे हुए हैं। फिर क्या हम प्रत्येक अवसर पर अपना यह राष्ट्र-गीत गाकर अपनी सांप्रदायिकता और अपनी प्रांतीयता की स्मृति जगाते रहेंगे ?[१] हमारा सपना है एक भारत, एक भारतीय। यह गीत हमें उस ओर न बढ़ने देगा।

क्या एक स्वस्थ जाति यह नहीं कर सकती कि पुराने से बिलकुल मुँह मोड़कर कुछ नए का निर्माण करे। इस तरह की प्रवृत्ति भी चल रही है।

कलकत्ते में एक बंगीय हिंदी परिषद है। उसने हिंदी के लिए कुछ अच्छा काम भी किया है। उसने कुछ दिन हुए मेरे पास एक पर्चा भेजा था, जिसमें इस बात की अपील की गई थी कि चूकि हिंदी हमारी राष्ट्र-भाषा है, इस कारण हमारा राष्ट्र-गीत हिंदी में होना चाहिए। 'वंदेमातरम्' और 'जनगण मन' दोनों ही बँगला में हैं। और यह हिंदी गीत उन्होंने चुना था, श्री जयशंकर प्रसाद के 'चंद्रगुप्त नाटक' के चौथे अंक से। गीत यह है :

"हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध-शुद्ध भारती,
स्वयं-प्रभा, समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती,
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ
विकीर्ण दिव्य दाह-सी,

१. तेरह वर्षों के बाद मैं यह सोचने को विवश होता हूं कि इतने दिनों में हमारी प्रांतीयता और सांप्रदायिकता की अभिवृद्धि में हमारे राष्ट्र-गान ने कितना योगदान दिया है।
—लेखक (१९६१)

सपूत मातृभूमि के
रुको न, शूर साहसी।
अराति सैन्य सिंधु में सुबाड़वाग्नि से जलो,
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो !"

शब्दावली क्लिष्ट और उच्चारण कठिन है। 'वंदे मातरम्' की संस्कृत हम इसलिए निगलने को तैयार हैं कि उसके साथ हमारे देश के संघर्ष का एक इतिहास जुड़ा है। पर इस गीत से कोई इतिहास नहीं जुड़ा है। फिर यह राष्ट्र-गीत न होकर प्रगति-गीत है। हम, जो संसार में शांति की स्थापना करना अपने राष्ट्र का मूल संदेश और सिद्धांत मानते हैं, हर समय शत्रु की कल्पना नहीं करना चाहते। शत्रु-शत्रु करते रहना, उससे डरते अथवा उसे डराते रहने की बात सोचते रहना कायरता है अथवा गुंडापन ! कहने का तात्पर्य है कि प्रसाद जी की रचना का सम्मान करते हुए भी मैं इसे राष्ट्र-गीत के रूप में स्वीकार करने की अपनी राय नहीं दे सकता। परिषद् का काम बहुत क़ायदे से प्रचारात्मक ढंग पर किया जा रहा है। न जाने कितने लोगों के हस्ताक्षर इस विषय पर अब तक प्राप्त हो गए होंगे, और शायद उन्हें विधान सभा के सामने भेजा भी जाएगा, परन्तु मैं इसे समझदारी नहीं कहूँगा।

इसी बीच मध्यप्रांत के मुख्य मंत्री श्री रविशंकर शुक्ल की ओर से कुछ दिन हुए पत्रों में एक वक्तव्य राष्ट्रीय गान के संबंध में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने 'कृष्णायन' के यशस्वी लेखक और मध्यप्रांत के शिक्षा मंत्री श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र से एक गीत की रचना कराई है और वे चाहते हैं कि यह राष्ट्र-गीत के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। उनका कथन है कि यह गीत किसी भारत-भाग्य-विधाता की सेवा में न होकर स्वयं भारतमाता की सेवा में है। इस गीत में 'वंदे मातरम्' और 'जनगण मन' दोनों के गुणों का समावेश है और भारतीय संस्कृति युग-युग से जिस सिद्धांत को मानती आई है उसका प्रतिपादन है। गीत 'जनगण' की ट्यून पर है, इस कारण जो संगीत उसमें अपेक्षित है वह भी उसमें है। गीत छोटा भी है और राष्ट्र-गीत छोटा होना भी चाहिए। 'जनगण' के भी एक-दो पद गाए जाते हैं। 'वंदे मातरम्' भी अपने संपूर्ण रूप में नहीं गाया जाता। गीत यह है :

"जनगण-मन-अधिवासिनि जय हे महिमणि भारतमाता।
हेम-किरीटिनि, विंध्य-मेखले, उदधि-धौत पद-कमले,
गंगा, यमुना, रेवा, कृष्णा, गोदावरि जल विमले,
विविध तदपि अविभक्ते, शांत, शक्ति संयुक्ते,
युग-युग अभिनव माता,
जन गण क्लेश विनाशिनि, जय हे महिमणि भारतमाता।
जय हे, जय हे, जय हे, महिमणि भारतमाता।"

अगर हम यह मान लें कि रवींद्रनाथ ठाकुर के गीत को परिवर्तित-संशोधित करके अपने राष्ट्र के लिए हमें नया गीत बनाने का अधिकार है, तो मैं इस प्रयास पर बधाई देना चाहता हूँ। इसमें मैं कोई हानि नहीं समझता। स्वर और कुछ शब्द रवींद्र के अवश्य हैं, पर गीत अपनी कल्पना में उनके गीत से अलग है। भारत को माता रूप से देखने की आकांक्षा सर्वथैव भारतीय है। भारतीय जीवन में माता का जो स्थान है, उसपर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इससे भारत की सजीव एकता प्रकट होती है। प्रांतीयता की गंध भी इसके पास नहीं है। 'वंदे मातरम्' से ही संभवतः यह भारत का मातृ स्वरूप स्वीकार किया गया है। 'महिमणि' में उसकी 'शुभ्र ज्योत्स्ना' ही नहीं 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' भी संक्षेप रूप में आ गया है। इसी प्रकार 'अधिवासिनि' मूल गीत के 'अधिनायक' की ध्वनि भी समेटे हुए है। हमारा ध्येय भी यही है कि प्रांत-प्रांत का ध्यान छोड़ हम संपूर्ण भारत का सजीव चित्र अपने हृदय में रक्खें। इस कविता की प्रथम पंक्ति बहुत ही उत्तम और सारगर्भित है। प्रवाह और संगीत में भी यह पूर्ण है। यमक और अनुप्रास, वर्ण-मैत्री और उच्चारण सारल्य का तो यह एक नमूना है। पूरी पंक्ति में एक भी संयुक्ताक्षर नहीं आया।

मुझे पता नहीं कि श्री रविशंकर शुक्ल को अपने प्रयास में कितनी सफलता मिलेगी अथवा विधान सभा के कितने लोग उनके गीत, या कहना चाहिए, श्री द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र के गीत, का समर्थन करेंगे। पर यदि इसकी कुछ संभावना हो तो मैं महाकवि मिश्र जी की आज्ञा से और उनसे क्षमा माँगते हुए, उसमें कुछ संशोधन का प्रस्ताव रखना चाहता हूँ। मैं किसी अल्पाति अल्प कवि के पदों में भी कुछ जोड़ने-घटाने की बात कभी नहीं सोचता, और मिश्र जी

की रचना में कुछ संशोधन करने की बात तो धृष्टता की सीमा लाँघना ही है। यदि मिश्र जी की यह रचना उनकी अन्य रचना के समान होती तो मैं उसमें कुछ परिवर्तन अथवा परिवर्धन करने की बात के मोह को दबा देता। परंतु यह गीत यदि राष्ट्र-गीत होने जा रहा है तो मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उसमें कुछ परिवर्तन करना चाहूँगा। मुझे आशा है कि मेरे आशय को समझ लेने पर मेरी धृष्टता क्षम्य होगी।

प्रथम पंक्ति का एक-एक अक्षर अपने स्थान पर अटल है और उस पर सुधार नहीं हो सकता। दूसरी पंक्ति में 'किरीटिनी' शब्द मुझे नहीं अच्छा लगा। यह पंक्ति के ध्वनि-साम्य को बिगाड़ता है। इसी प्रकार 'उदधि धौत' में 'द', 'ध', इस क्रम में आते हैं कि उनका उच्चारण करना कठिन है। आगे का 'त' भी उसी वर्ण का है। इस पंक्ति को मैं यों कर देना चाहूँगा :

"हेम कुन्तले, विंध्य मेखले, सिंधु नमित पद कमले।"

जिसे भी ध्वनि का कुछ बोध है, वह इस पंक्ति में अधिक संगीत और प्रवाह देख लेगा। 'हेम केश' हमारे शिव जी का प्रचलित नाम है। केश और कुंतल एक ही हैं। इससे सांस्कृतिक संबंध भी स्थापित होता है। कुंतले और मेखले में ध्वनि साम्य आ जाता है। 'ले' की खिंची हुई ध्वनि में देश का विस्तार भी अभिव्यंजित होता है। इसी प्रकार 'सिंधु' जैसे विंध्य की ध्वनि को प्रति-ध्वनित करता है, साथ 'उदधि धौत' की उच्चारण कठिनता भी नहीं रह जाती।

तीसरी पंक्ति में कोई परिवर्तन नहीं चाहिए। 'विविध तदपि अविभक्ते' बहुत सुंदर टुकड़ा है। थोड़ा गद्यात्मक होते हुए भी इसमें अर्थ-गंभीरता है। हमारी युग-युग की सारी संस्कृति का एक यही संदेश है। इसमें देश के विभाजन के पश्चात् भी जो दोनों खंडों में एकता है, उसका संकेत है, और घाव पर जैसे यह मरहम-सा लगाता है। क्या यही बात गांधी जी ने बीसों तरह से नहीं कही। संसार से मैत्री करने की आकांक्षा लेकर चलनेवाले हम क्या अपने एक कटे हुए अंग को ही विभिन्न और अलग समझेंगे। 'शांत, शक्ति संयुक्ते' को मैं 'शांति शक्ति संयुक्ते' कर देना चाहूँगा। इसके अर्थ दोनों होंगे, शांति और शक्ति से संयुक्त अथवा शांति की शक्ति से संयुक्त। 'शांत, शक्ति' भी रक्खें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

'युग-युग अभिनव माता' में कोई नई बात नहीं कही गई। रचना-दोष भी एक है। 'माता' फिर जा कर 'भारत माता' का तुक बनता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत में इस पद का तुक अलग होता है, 'विधाता' का 'गाथा' आदि। इस पंक्ति को मैं यों कर देना चाहूँगा :

"त्रिविध ताप-तम त्राता"

अपनी ध्वनि से 'त्रिविध' 'विविध' की ध्वनि की पुनरुक्ति करता है और इस प्रकार उसकी गद्यात्मकता को, जिसका संकेत मैंने ऊपर किया है, कुछ कम कर देता है। फिर ये वही त्रिविध 'तापा' हैं, जो 'राम राज नहिं काहुहि व्यापा'। हमारे बापू स्वराज्य से राम राज्य का स्वप्न देखते रहे। उनकी इस कल्पना को भी हम इस गीत में स्थान दे दें तो अच्छा होगा। इसी प्रकार जो 'मणि' है, 'हेम कुंतल' है, 'विमल' है उसे 'तम' का विनाश करना ही चाहिए। आप चाहें तो तीन प्रकार के तम की कल्पना भी कर सकते है। फिर 'त्राता' है, जो 'माता' बार-बार आने के रचना-दोष को बचा देता है। अनुप्रास उच्चारण-सरलता ला देता है। इसको अगर स्वीकार कर लें तो 'क्लेश विनाशिनि' बेकार हो जाता है। ताप तो कट ही चुके। फिर 'क्लेश विनाशिनि' एक नकारात्मक गुण का बोध कराता है। इस पंक्ति को मैं यों चाहूँगा :

"जनगण-पंथ प्रकाशिनि जय हे महिमणि भारत माता"।

सुना है अमरीका में स्वतंत्रता की मूर्ति के हाथ में एक मशाल है। भारत-माता भी स्वतंत्रता की मूर्ति बनें और जन गण का पंथ प्रकाशित करें, उन्नति के पथ पर ले जायँ। इस पंक्ति के द्वारा भारतमाता की स्थिर मूर्ति गतिमान हो उठेगी।

मेरी प्रार्थना है कि कविता के पारखी मेरे इन संशोधनों पर ध्यान दे और अगर उनकी सुनाई विधान सभा तक हो, तो वे इस बात को वहाँ तक पहुँचावें। यदि 'जनगण' के परिवर्तित रूप पर विचार किया जाय तो मैं चाहूँगा कि मेरे इन संशोधनों पर भी कुछ विचार किया जाय। राष्ट्र-गीत रोज़-रोज़ नहीं बनते। उसे पसंद करने में हम जितने खुले मस्तिष्क से सोच-विचार कर सकें, उतना ही अच्छा।

लेख समाप्त करने के पहले मैं फिर श्री मिश्र जी से क्षमा चाहूँगा। और यह भी स्वीकार करना चाहूँगा कि उनकी पंक्तियों में यत्र-तत्र परिवर्तन करने

की प्रेरणा मुझे उनकी रचना से ही मिली है। आशा है जिस अधिकार से उन्होंने 'वंदे मातरम्' और 'जनगण मन' के भावों को समवेत कर कुछ अपना मिलाया है, उसी अधिकार से उनकी रचना में कुछ अपना मिलाने का हक वे मेरा भी समझेंगे।

गांधी-चर्चा

(रेडियो वार्ता)

गांधी जी पर लिखी अपनी एक कविता में मैंने कहा था :

"बापू की छाती की हर साँस तपस्या थी,
आती-जाती हल करती एक समस्या थी।" (खादी के फूल)

और उस तपस्या का फल बापू अवसर और पात्र के अनुरूप अपने सारे जीवन बाँटते रहे। उनकी तपस्या का एक छोटा-सा प्रसाद पाने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था।

यह बात असहयोग आन्दोलन के समय की है। अवसर विशेष क्या था, इसकी मुझे याद नहीं। प्रयाग में कांग्रेस के बहुत-से नेता आए हुए थे। आनंद-भवन अतिथियों से भरा था। नेताओं की दैनिक सुविधाओं की देखरेख करने के लिए एक स्वयं सेवक दल बना लिया गया था। हमारे ५-७ साथियों की ड्यूटी हमाम के पास थी। जाड़े के दिन थे। एक बड़े बर्तन में पानी गर्म होता था और जब, जिसको नहाने-धोने के लिए पानी की जरूरत होती थी, हम छोटी-छोटी बाल्टियों में भरकर पहुँचा दिया करते थे। गांधी जी भी आनंद-भवन में ठहरे थे। उनके नहाने के लिए गर्म पानी ११ बजे पहुँचाने का आदेश था। समय आ गया। पानी तो तैयार था ही। दुर्भाग्यवश हमारे पास उस समय एक ऐसी बाल्टी बची हुई थी, जिसका हैंडिल निकल गया था। पानी तो हमने उसमें भर लिया, पर उसे उठाकर ले कैसे जाया जाय। इंतज़ार था कि कोई अच्छी बाल्टी खाली होकर आ जाय तो उसी को ले जायँ। यह भी ध्यान था कि नहाने के लिए भी क्या कोई मुहूर्त्त होता है, दो-चार मिनट इधर-उधर ही हो गए तो क्या। ठीक ग्यारह बजे गांधी जी नहाने की तैयारी में बरामदे में आए। पानी तो उनके पास नहीं पहुँचा था। हमारी ओर उन्होंने देखा, समस्या भी समझ गए, मुसकराए और हमने देखा कि तेजी के साथ वे

हमाम की ओर आ रहे हैं। बाल्टी के पास आते ही उन्होंने अपने दोनों हाथों से उसे उठा लिया और लेकर तीर की तरह अपने नहाने के कमरे की ओर चले गए। जाते समय इतना भर कह गए, "जो काम जिस बख्त करना है, करना; न करना बख्त के साथ दगाबाजी है।" यह सब इतनी जल्दी हो गया कि न हमसे बन पड़ा कि खुद बाल्टी ले जायँ, न यह कि उस गर्म हुए बर्तन को उनसे छुड़ा लें, शायद भय भी था कि इस छीना-झपटी में कहीं गर्म पानी बाहर छलककर हाथों को न जला दे। वे तो बस आए और बर्तन उठाकर चले ही गए। किसी तरह का उन्होंने मौक़ा ही न दिया।

"लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े
लखा न काहु रहे सब ठाढ़े।"

बापू ने अपने समय पर स्नान किया। हम समय के साथ खेल कर सकते थे, पर बापू तो समय के साथ 'दगाबाजी' नहीं कर सकते थे। समय के साथ जो उन्होंने वादा किया था, उसको उन्होंने पूरा किया। उनका हाथ जल गया था। शाम को हमने देखा उनके अँगूठों और तर्जनी पर किसी सफ़ेद किस्म की दवा लगी थी। समय की पाबंदी तो बहुतों ने सिखलाई, पर अपना हाथ जलाकर केवल बापू ने सिखलाया। और ऐसा सिखलाया कि जैसे अपना संदेश हृदय पर दाग दिया। मेरे और साथियों के ऊपर उसका क्या असर हुआ, मैं नहीं जानता पर मुझे उस दिन से प्रमाद नहीं व्यापा।

"तब ते मोहि न व्यापी माया।"

जब कभी ऐसा अवसर आया है कि किसी निश्चित समय पर कोई काम करना या पूरा करना है तो किसी बात या बहाने को बीच में लाकर उसे टालने या उसमें देरी करने को मेरा मन गवारा नहीं कर पाया। मुझे बापू का जला हाथ याद आता है और उनके शब्द मेरे कानों में गूँजने लगते हैं :

"जो काम जिस बख्त करना है, करना; न करना बख्त के साथ दगाबाजी है।"

उन दिनों बापू की हिंदी अच्छी नहीं थी, पर वे अपनी अटपटी वाणी में ही अपना सारा आशय कह डालते थे। वे शब्दों में बोलते कहाँ थे, उनका हृदय बोलता था, उनका व्यक्तित्व बोलता था, उनकी साधना बोलती थी। और उनके बोल हृदय में घुल जाते थे, कान बेकार खड़े रहते थे। मैं बहुत दिन यही

समझता रहा कि 'वख्त के साथ दगावाजी' बापू की अटपटी हिंदी का एक नमूना है। पता नहीं वे क्या कहना चाहते थे और हिंदी में उनको यही शब्द सुलभ हो पाए। पर अब सोचता हूँ, बापू बिल्कुल यही कहना चाहते थे। और जो वे कहना चाहते थे उसको दूसरे शब्दों में नहीं कहा जा सकता था। एक शब्द, एक मात्रा से कम में नहीं, ज़्यादा में नहीं। बापू बनिए थे, अपने बनियापन पर उन्हें गर्व था। शायद शब्दों के मामले में वे सबसे अधिक बनिए थे। तोलकर बोलते थे। न ज़रूरत से ज़्यादा, न ज़रूरत से कम। और हर शब्द सच्चा, खरा, यथार्थ-भरा।

हम जो कुछ करने का निश्चय करते हैं वह सचमुच समय के साथ हमारा वादा है। हमारा सारा जीवन ही काल, महाकाल के साथ एक प्रतिज्ञा है। हम सचमुच दिनानुदिन अपने कर्तव्यों को करके इस वादे को पूरा करते हैं। अपने निश्चयों से डिगते हैं तो समय के साथ वादा-ख़िलाफी होती है। समय क्या हमें क्षमा करेगा इस महान अपराध के लिए! जिन्होंने समय के हाथों दंड पाया हो, वे ज़रा अपने से पूछें कि समय के साथ उन्होंने कितनी दग़ाबाज़ी की है। इन सूत्र शब्दों की व्याख्या के लिए कुछ मिनटों का समय अपर्याप्त है। इससे बापू के उन शब्दों को एक बार फिर दुहराकर यह वार्ता समाप्त करता हूँ: "जो काम जिस वख्त करना है, करना; न करना वख्त के साथ दगाबाजी है।"

१९५६]

भारत कोकिला सरोजिनी नायडू

(रेडियो वार्ता)

आज मैं जब सरोजिनी नायडू के बारे में सोचता हूँ तो मुझे सहसा अंग्रेज़ी कवि ब्राउन की वे पंक्तियाँ याद आती हैं जो उन्होंने शेली के विषय में लिखी थीं। पंक्तियों का भावार्थ यों है, "क्या तुमने शेली को साधारण मनुष्य के समान देखा था ? क्या वे सामने खड़े हो गए थे, और उन्होंने तुमसे बात की थी, और क्या तुमने भी उनसे कुछ कहा था और उन्होंने उसे सुना था ? यह कितना आश्चर्यजनक लगता है, कितना सत्य लगता है !"

आज भी बहुत-से लोग मौजूद हैं, जिन्होंने सरोजिनी नायडू के व्याख्यान सुने थे, उनके मुख से उनकी कविताएँ सुनी थीं, उनके पास बैठे थे और उनसे बातें की थीं । और मुझे इसका विश्वास है कि जिन्हें भी ऐसा सुयोग मिला था, वे उसे अपनी सुधि में संचित किए हुए हैं और शायद ही कभी वे उसे भुला सकेंगे। उन सौभाग्यवानों में इन पंक्तियों का लेखक भी अपने को रख सकता है। आज तो विज्ञान ने यह संभव कर दिया है कि हम चाहें तो अपने नेताओं, कवियों, महापुरुषों का स्वर सुरक्षित रख सकते हैं । पर यह साधन सरोजिनी नायडू के जीवन-काल में इतना सहज सुलभ नहीं हुआ था। शायद उनका बोला और कहा हुआ बहुत कम सुरक्षित हो सका है, पर हमारी पिछली पीढ़ी के नेताओं में यदि किसी के स्वर के प्रसाद, माधुर्य और ओज को सबसे अधिक सुरक्षित रखने की आवश्यकता थी तो सरोजिनी नायडू के स्वर की। जिनके कानों में उनकी गूँज भरी हुई है, वे अपने को धन्य मान सकते हैं ।

हमने अपनी आज़ादी की जो लड़ाई लड़ी, उसके सेनानियों में सरोजिनी नायडू सबसे आगे की पंक्ति में थीं । वास्तव में हमारी यह लड़ाई केवल लड़ाई नहीं थी; यह भारत का पुनर्जागरण भी था । भारत के पतझड़ में वसंत का आह्वान भी था। और इसलिए जहाँ एक ओर सिंहों की दहाड़ थी, वहाँ दूसरी

और कोकिल का मधुमय गान भी था। सरोजिनी नायडू को Nightingale of India 'बुलबुलेहिंद', या 'भारत कोकिला' कहा जाता था। पर यह कोकिला ऐसी नहीं थी जिसने केवल गाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली थी, उसने सिंहों की दहाड़ से भी होड़ ली थी और आज़ादी के शत्रुओं से लड़ी भी थी।

Where brave hearts carry the sword of battle,
T'is mine to carry the banner of song—

जहाँ वीरों की तलवारें जाती हैं, वहाँ मैं गीतों की पताका ले जाती हूँ।

मैंने इस प्रकार के विचार अक्सर सुने हैं कि सरोजिनी नायडू अपने सच्चे रूप में कवि थीं और यदि वे राजनीति के झंझट में न फँसतीं तो शायद वे साहित्य और काव्य की बहुत अधिक सेवा करतीं। इस प्रकार के विचारों से मेरी लेशमात्र सहानुभूति नहीं। निकुंजों में पड़े गीत गुनगुनाने वाले कवि को मैं बहुत स्वस्थ नहीं समझ सकता। कवि का जो रूप मुझे सबसे अधिक भाता है वह यही है—"भार सिर पर, कंठ में स्वर"।

मुझे जिस बात का अफ़सोस है वह यह है कि सरोजिनी नायडू जैसी प्रतिभा ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम अपनी देश की भाषा को क्यों नहीं चुना। यदि उन्होंने ऐसा किया होता तो उनकी प्रतिभा का अधिक विकास ही न होता, देश की साहित्यिक संपत्ति की वृद्धि होती और उनकी वाणी इस देश के अधिक लोगों के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होती। जहाँ तक मुझे मालूम है, अंग्रेज़ी काव्य साहित्य के इतिहास में शायद कहीं उनका नामोल्लेख नहीं। काव्य संकलनों में भी शायद ही कहीं उनकी कविता को स्थान दिया गया हो। सच्चाई तो यह है कि विदेशी भाषा हम कितने ही श्रम, साधना से सीखें, उसमें कुछ सृजनात्मक दे सकना हमारी सामर्थ्य के बाहर है।

इसके लिए हमारे देश की परिस्थितियाँ बहुत कुछ उत्तरदायी हैं। गुलामी की अवस्था में अंग्रेज़ी भाषा की सर्वश्रेष्ठता की धाक हम पर बिठा दी गई थी। सरोजिनी नायडू की शिक्षा-दीक्षा में अंग्रेजी का बड़ा महत्त्व था। इंग्लैंड में रहकर भी उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। कविता में रुचि थी। उन दिनों लंदन में डब्ल्यू० बी० ईट्स अपने घर पर सोमवार की शाम को एक साहित्यिक गोष्ठी किया करते थे। सरोजिनी देवी भी उसमें सम्मिलित होती थीं और उसमें

उन्हें Little Indian Princess कहा जाता था—भारत की छोटी राजकुमारी। उनकी एक कविता Indian Weavers और ईट्स की एक प्रारंभिक कविता में भाव, भाषा, कल्पना की बड़ी समता है और संभव है कि सरोजिनी नायडू ने ईट्स से प्रेरणा ली हो।

पहले-पहल जब सरोजिनी देवी ने कविताएँ लिखीं तब उन्होंने पूरी अंग्रेज़ी परंपरा को अपना लिया था—अंग्रेज़ी के रूपक, अंग्रेज़ी की भावाभिव्यक्ति शैली, अंग्रेज़ी का वातावरण। सौभाग्य से उन्होंने ये कविताएँ उस समय के प्रसिद्ध समालोचक एडमंड गास को दिखलाईं। गास ने उन्हें बड़ी अच्छी सलाह दी, इस तरह की कविताएँ आप लिखेंगी तो वे अनुकरण मात्र होकर रह जायँगी, आप अंग्रेज़ी में बेशक लिखें पर वातावरण अपने देश का दें। सरोजिनी देवी को यह सलाह ठीक जँची और इसका उन्होंने आजीवन पालन किया।

यदि हम उनकी कविता के विषयों को भी देखें तो हमें पता लगेगा कि भारत के जीवन में जो विशेष रूप से भारतीय है, चित्रमय है, रंगीन है उसे उनकी आँखों ने पकड़ा है। कविताओं में इसे उन्होंने अपनी भावनाओं से प्राण-मय किया है, कल्पना में रंजित किया है। पालकी उठानेवाले, रमते गायक, भारतीय जुलाहे, कारोमंडल तट के मछवाहे, सँपेरा, चक्की पीसनेवाली, मेंहदी, पालना, सती, भारतीय नर्तक, नल-दमयंती, परदानशीन, रास्ते का शोर-गुल, गोलकुंडा के मक़बरे, भगवान बुद्ध, वसंत पंचमी, गुलमुहर, चंपक, बूढ़ी बेचने-वाली, नाग पंचमी, राधा का गीत, चर्खे का गीत, इंद्र वंदना, वृद्धा नारी, शाम की नमाज़, मंदिर, लक्ष्मी, इमामबाड़ा, वृंदावन का मुरलीवाला, भिखारी, कमल, घंटियाँ, मोती, काली माई, वसंत, गुलाब आदि।

इन कविताओं में सरोजिनी नायडू का दृष्टिकोण रोमानी है, कला प्री-राफ़ेलाइट (Pre-Raphaelite) स्कूल की है जिसमें शब्द संगीत पर विशेष बल दिया जाता है। अंग्रेज़ी न समझने वाले भी उनके शब्द संगीत का कुछ आनंद ले सकते हैं। पालकी उठाने वाले गीत से कुछ पंक्तियाँ सुनिए :

> "Lightly, O lightly, we bear her along,
> She sways like a flower in the wind of our song,
> She skims like a bird on the foam of a stream,
> She floats like a laugh from the lips of a dream."

कल्पना और मधुर-ध्वनियों का ताना-बाना जो यहाँ बुना गया है वह सरोजिनी देवी की कविताओं की विशेषता है। वसंत और प्रेम उनकी कविता के ऐसे विषय हैं जिन पर उन्होंने कई कविताएँ लिखी हैं। वसंत प्रकृति वर्णन से उठकर देश और मानवता के नवजागरण तक जाता है; उसी प्रकार प्रेम मानवी संबंधों से ऊपर उठकर कहीं-कहीं रहस्यवादी बन गया है।

देश का उद्बोधन करनेवाली भी उनकी कई रचनाएँ हैं और इनमें उनका स्वर ओजस्वी हो उठा है :

"Thy future calls thee with a manifold sound,
To crescent honours, splendours, victories vast;
Waken, O slumbering Mother and be crowned,
Who once wert Empress of the sovereign Past."

"भविष्य अपने बहुकंठों से तुझे पुकार रहा है। वह श्री-संपदा और विजय से तेरा अभिषेक करना चाहता है। तू निद्रा त्यागकर उठ और अपना ताज पहन। क्या तुझे याद नहीं कि तू अतीत की महारानी थी !"

ऐसी उद्बोधनकारी कविताओं में 'Awake,' 'जागो', शीर्षक कविता है जो १९१५ की कांग्रेस में पढ़ी गई थी और मुहम्मद अली जिन्ना को समर्पित हुई थी—कविता के अंत में सब धर्मों के लोग हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी तथा अन्य धर्मावलंबी भारतमाता को अपनी-अपनी सेवाएँ अर्पित करते हैं।

इधर उनकी कविताओं को पढ़ते हुए मेरा ध्यान 'द लोटस' सानेट पर गया जो महात्मा गांधी पर है जिसमें उन्होंने महात्मा गांधी की तुलना उस रहस्यमय कमल से की है जिसके चारों ओर लाख-हा-लाख भौंरे एकत्र हो गए हैं।

उनकी कविताएँ अधिक नहीं हैं। उनके जीवन-काल में उनके तीन संग्रह निकले थे। उनका संकलन 'सेप्टर्ड फ़्लूट' (Sceptred Flute) के नाम से कर दिया गया है। मेरी बड़ी इच्छा है कि कोई सरोजिनी नायडू की समस्त रचनाओं का अनुवाद हिंदी में करे। मैंने स्वयं उनकी कई कविताओं का अनुवाद किया था, पर वे कहीं मेरे कागद-पत्तरों में दबी पड़ी हैं। एकाध मैंने उन्हें सुनाई भी थीं और उन्हें पसंद आई थीं। सरोजिनी नायडू की कविताओं में भारत के नवजागरण की प्रतिध्वनियाँ आज भी साफ़ सुनाई देती हैं।

फ़रवरी, १९५९]

बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन : एक संस्मरण

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के वयोवृद्ध सेवक बाबू पुरुषोत्तनदास टंडन के सम्मान में एक अभिनंदन-ग्रंथ प्रकाशित करने की योजना बनाई गई है। इलाहाबाद नगर का निवासी होने के नाते, इलाहाबाद-निवासी श्रद्धेय बाबूजी से अपना कुछ अधिक निकटता का नाता मानकर, गौरवान्वित होने का मुझे अधिकार है,

"गाता हूँ अपनी लय-भाषा
सीख इलाहाबाद नगर से।"

कई महीनों से यह सुन रहा हूँ कि बाबूजी बहुत बीमार हैं; अस्वस्थता के कारण उन्होंने राज्यसभा से भी इस्तीफ़ा दे दिया है। कई बार मन में इच्छा हुई कि इलाहाबाद जाकर उनके दर्शन कर आऊँ, परन्तु दिल्ली के व्यस्त जीवन से इसके लिए समय निकालना असंभव-सा लगता है। ऐसी परिस्थिति में अभिनंदन-ग्रंथ के आयोजकों का मैं बड़ा आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे ग्रंथ के लिए कुछ लिखने के लिए निमंत्रित किया और इस प्रकार मुझे यह अवसर दिया कि दूर से ही सही, मैं उनकी सेवा में अपने भावों की यह श्रद्धांजलि उपस्थित कर सकूँ। एक बात का मुझे खेद भी है, यदि बाबूजी अभिनंदन-ग्रंथ के योग्य अथवा अधिकारी थे तो आज के बहुत पहले हो चुके थे और इस रूप में उनका सम्मान आज से बहुत पहले किया जाना चाहिए था। हम कामों को समय से न करने के आदी हो गए हैं। असमय किए कामों का महत्त्व घट जाता है। यों बाबूजी सच्चे अर्थों में स्वनामधन्य हैं, और किसी भी समय उनका सम्मान करके हम स्वयं गौरवान्वित होते। आज तो विशेषकर हमारा उनका सम्मान करना, उनके सम्मान से कहीं अधिक हमारा उनके त्याग, बलिदान एवं सेवा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन ही है।

भारत के पुनर्जागरण की वेला में अनेकानेक आंदोलन उठे परंतु उनमें दो

प्रमुख थे—एक राष्ट्र को स्वतंत्र करने का आंदोलन और दूसरा राष्ट्र को एक भाषा से सुसंगठित करने का आंदोलन। वस्तुतः कालक्रम में यह दूसरा आंदोलन पहले उठा, जैसा कि स्वाभाविक भी था, और मैं कहना चाहूँगा कि यह पहले से अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण भी था। स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् स्वतंत्रता का आंदोलन समाप्त हो गया, पर राष्ट्रभाषा का आंदोलन आज भी चल रहा है और उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि यह समस्त देश एक भाषा के सुवर्ण सूत्र में आबद्ध नहीं हो जाता। इस देश की विविधता सदियों से इतिहास के घटनाचक्रों में पड़ी हुई एकसूत्रता और अखंडता के लिए चीत्कार कर रही है। बाहरी रज्जुपाशों और शृंखलाओं से जकड़कर यह एकता नहीं लाई जा सकती, उसे तो किसी आंतरिक सूत्र से ही लाना होगा—और वह सूत्र एक भाषा का है—हिंद के लिए हिंदी का है। जब तक यह देश अपनी सांगिक और स्वाभाविक एकता नहीं प्राप्त कर लेता तब तक इसकी स्वतंत्रता अधूरी है, इसकी स्वतंत्र सत्ता अस्पष्ट। इसलिए आज वर्षों से श्रद्धेय टंडन जी परम आस्था और दृढ़ता के स्वरों में यह उद्‌घोषणा करते आ रहे हैं कि राष्ट्रीयता ही हिंदी और हिंदी ही राष्ट्रीयता है। इस ऋचा के उदार और उदात्त अर्थ को न समझना अपनी बुद्धि की परिक्षीणता, हृदय की संकीर्णता और दृष्टि की मलिनता का ही सबूत देना है। आज जब उनके इस दिग्-दिग् प्रतिध्वनित स्वर के विरुद्ध कुछ लोगों ने कान में उँगली दे ली है और कुछ ने प्रतिवादी स्वरों में बोलना आरंभ कर दिया है तब हमारा उन्हें स्मरण करना, उनका सम्मान करना, उनका अभिनंदन करना, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना, हमारा एक बार फिर, उनके संदेश की महत्ता को स्वीकार करना और उसके अनुरूप कुछ प्रभावकारी करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ और कटिबद्ध होना है। केवल इसी रूप में यह अभिनंदन-ग्रंथ किसी अंश में उनके संतोष का विषय बन सकता है; अन्यथा वे निंदा-स्तुति, मान-अपमान के बहुत ऊपर उठ चुके हैं।

मेरे विद्यार्थी जीवन में ही वे नगर के एक प्रतिष्ठित वकील के रूप में विख्यात हो चुके थे और हमारे सांस्कृतिक जीवन में हिंदी को पुनर्स्थापित करने का कार्य उन्होंने आरंभ कर दिया था। हिंदी-प्रेमियों को हिंदी पुस्तकें सहज सुलभ हों इसके लिए अपने एक धनी मित्र को प्रेरित कर उन्होंने 'साहित्य-भवन'

की स्थापना कराई थी जो शाहगंज में, चौक में, उनकी बैठक के सामने, वर्षों तक प्रयाग में हिंदी पुस्तकों की एक मात्र दूकान थी। आक्सफ़र्ड की सर्वप्रसिद्ध पुस्तकों की दूकान पर यह लिखकर टँगा है कि आप कोई भी पुस्तक कितनी भी देर तक दूकान में बैठकर पढ़ सकते हैं। 'साहित्य-भवन' में यह लिखकर टँगा तो नहीं था, पर परंपरा यही थी। पुस्तक खरीदने के लिए पैसों के अभाव में मैंने न जाने कितनी किताबें वहाँ बैठकर पढ़ी थीं और मेरी तरह के वहाँ बहुत लोग आया करते थे। टंडन जी को शायद पहली बार वहीं देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लोगों को किताबें देखते-पढ़ते देख उनकी आँखों में जो प्रसन्नता झलक उठी थी उसकी आभा से आज तक मेरी स्मृति का कोई कोना कभी-कभी जगमगा उठता है।

टंडन जी को पहली बार सुनने की स्मृति भी विद्यार्थी जीवन की है। स्कूल के किसी जलसे में उन्हें बुलाया गया था। उन्हें और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को एक ही मंच से सुनने की कुछ धुँधली-सी याद मुझे बनी हुई है। दोनों ही हिंदी की महत्ता पर बोले थे—एक गृहस्थ, एक संन्यासी, पर हिंदी के विषय पर दोनों एकमत। तब से कई बार उन्हें सुनने का अवसर मिला, पर प्रसंग कोई हो हिंदी के प्रचार, हिंदी की महत्ता की चर्चा उनके व्याख्यान में कहीं न कहीं से घूम-फिरकर आ ही जाती थी।

हिंदी के उच्चकोटि के साहित्य का पठन-पाठन विधिवत हो सके, इसके लिए उन्होंने प्रयाग में हिंदी विद्यापीठ की स्थापना की थी। हमें यह न भूलना चाहिए कि यह वह समय था जब हिंदी के विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने की बात तो दूर, उसके झरोखों से उसे झाँकने की भी आज्ञा न थी, वह इंटरमीडिएट में भी नहीं पढ़ाई जाती थी; उसका साहित्य केवल हाईस्कूल तक पढ़ाने योग्य समझा जाता था।

ठीक सन् तो मुझे याद नहीं; पर विद्यापीठ का उद्‌घाटनोत्सव मीरगंज के विद्यामंदिर हाईस्कूल के अहाते में संपन्न हुआ था। अब यह स्कूल सड़क में आ चुका है। उद्‌घाटन करने के लिए काशी से बाबू भगवानदास को बुलाया गया था। आज यह सोचकर मैं बड़े गौरव का अनुभव करता हूँ कि मैं उस उत्सव में मौजूद था। हम अपनी संस्कृति से कितने अपरिचित हो गए थे कि 'पीठ' जैसे ऐतिहासिक शब्द का अर्थ केवल वह 'पीठ' समझते थे जिसके बीच में रीढ़

होती है। उस दिन टंडन जी ने और भगवानदास जी ने क्या-क्या कहा इसको तो मुझे याद नहीं, पर उस 'पीठ' शब्द की उनको विशद व्याख्या करनी पड़ी थी और इस प्रसंग में कभी समुपस्थित जनता हँसी भी थी। टंडन जी ने हिंदी पर जैसे भाव-विभोर होकर व्याख्यान दिया था, वैसे भाव-विभोर मैंने केवल कुछ संतों को भगवान् का गुणगान करते समय देखा है। जहाँ तक मुझे मालूम है, टंडन जी ने कभी कविता तो नहीं की, परंतु उस दिन उनका भाषण काव्य-चित्र ही था। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि हिंदी प्रचार-प्रसार के लिए टंडन जी ने सक्रिय रूप से जितना किया उतना शायद ही किसी दूसरे ने किया हो, पर उनमें प्रतिभा थी कि हमें कुछ सृजनात्मक और स्थायी संपत्ति भी दे जाते। पर टंडन जी के संघर्षमय जीवन ने शायद वह शांति और सुविधा कभी नहीं दी जो सृजन के लिए आवश्यक होती है। ऐसी प्रतिभाओं को देखकर इस कथन की सत्यता का बोध होता है कि जीवन साहित्य से बड़ा है। टंडन जी ने कविता न लिखी हो, पर उनका जीवन स्वयं एक काव्य रहा है, टंडन जी ने निबंध न लिखा हो, पर उनका जीवन स्वयं निबंध-संबद्ध रहा है।

उनके हिंदी-प्रेम का एक उत्कट उदाहरण मुझे उनकी कन्या दुलारी के विवाह के समय देखने को मिला। हमारे संस्कारों में संस्कृत अब भी प्रतिष्ठित है; हमारे समाज में फ़ारसी आई, उर्दू आई, अंग्रेज़ी आई पर जीवन के एक क्षेत्र में हमारे पुरोहितगण संस्कृत की सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रहे। टंडन जी के मन में हिंदी का जो स्वप्न है वह सर्वव्यापक है, वे भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र को हिंदी की परिधि से बाहर नहीं समझ सकते—चाहे वह शिक्षा का हो चाहे न्याय का, चाहे राजनीति का, चाहे धर्म का, चाहे कर्मकांड का। उन्होंने यह निर्णय दिया कि विवाह में जो भी मंत्रादि पढ़े जाते हैं उनका हिंदी में अनुवाद कर दिया जाए और संस्कार के समय वे हिंदी में ही पढ़े जाएँ। हफ़्तों पंडितों को अपने घर पर बिठाकर उन्होंने सब संस्कृत मंत्रों का हिंदी में अनुवाद कराया, स्वयं भी सहायता देते रहे और विवाह मंडप में केवल हिंदी ही सुनी गई। उनका विश्वास है कि जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र से लेकर बड़े-से-बड़े क्षेत्र में जहाँ वाणी की आवश्यकता पड़ती है, हिंदी अपना दायित्व निभाने में समर्थ है, या समर्थ बनाई जा सकती है। टंडन जी अमूर्त सिद्धांत बनाने और उसकी घोषणा करने में विश्वास नहीं रखते। जो कुछ करने योग्य है, जिसे किया

जाना चाहिए, वे उसे करके दिखलाते हैं; वह सम्यक् रूप में न हो सके। उसका उपहास किया जाए, उसका विरोध किया जाए, इसकी उनको परवाह नहीं है। पृथ्वी पर चलना है, दौड़ना है तो बच्चा इसकी प्रतीक्षा नहीं करेगा कि जब तक उसके पाँव मज़बूत न हो जाएँ तब तक वह क़दम नहीं उठाएगा। वह अपने अस्थिर, निर्बल, डगमगाते चरणों से भी चलेगा, गिरेगा, फिर उठेगा, आगे बढ़ेगा। जो लोग इस प्रतीक्षा में हैं कि जब हिंदी समर्थ हो जाएगी तब उसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में चलाएँगे वे हिंदी को पंगु बनाए रखने का षड्यंत्र रच रहे हैं।

महात्मा गांधी के १९२०-'२१ के असहयोग आंदोलन में जब वे अपनी जमी-जमाई वकालत छोड़कर कूद पड़े तो किसीको आश्चर्य नहीं हुआ। आश्चर्य उनके ऐसा न करने पर होता। उनका परिवार बड़ा और गृहस्थी कच्ची थी और बाबू जी के त्याग के कारण घर के छोटे-बड़े सबको जो कष्ट उठाना पड़ा उसने न जाने कितने परिवारों को सहन का पाठ पढ़ाया, सहारा दिया, ऊपर उठाया। मेरा ऐसा ध्यान है कि बहुत बड़े लोगों द्वारा किए गए त्याग-बलिदान लोगों को सहज अनुकरणीय नहीं होते। नेहरू-परिवार का त्याग बहुत बड़ा था, उसमें प्रेरणा थी, परंतु उसकी संपन्नता उसके उदाहरण को अनुकरणीय बनाने में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित करती थी। टंडन जी का त्याग एक मध्यम वर्ग के व्यक्ति का त्याग था; उसने प्रयाग के मध्यवर्गीय परिवारों के लिए त्याग और बलिदान को सहज-साध्य सिद्ध किया। स्वतंत्रता के संघर्ष के समय में देश के लिए खतरा उठानेवाले, त्याग करनेवाले, काम करनेवाले नागरिकों के लिए टंडन जी सबसे निकट और परिचित प्रतीक थे, सब उन्हें पास से देखते थे, पास से जानते थे; उनके घर पर फाटक नहीं था, उनके दफ़्तर में द्वारपाल नहीं थे।

१९३० के सत्याग्रह आंदोलन में एम० ए० प्रीवियस करने के बाद मैंने भी यूनिवर्सिटी छोड़ दी थी। डेढ़-दो वर्ष बाद जब आंदोलन की गर्मी शांत हुई तो जीवन की कठोर वास्तविकता ने घूरना आरंभ किया। 'पायनियर' अंग्रेज़ों के अधिकार से देसी साहबों के हाथ में आया तो उन्होंने मेरे पिता की पेंशन बंद कर दी। सौभाग्य से मेरे छोटे भाई को बी० ए० करने के बाद ही बैंक की नौकरी मिल गई। मैंने नारे, जलूस, सभा, पिकेटिंग, झंडे, बिगुल, चर्खे, वालंटियरों, क्रांतिकारियों की दुनिया से पलटकर अपने घर को देखा तो काँप

उठा। दस आदमियों का परिवार, दो उनमें से बीमारियों के शिकार, छोटी बहन ब्याहने को, एक भारी क़र्ज़ चुकाने को, और एक आदमी के कंधे पर सारा भार। ट्यूशनें एक-दो मैं करता था, पर मैंने निश्चय किया कि कोई नियमित नौकरी करके मैं छोटे भाई का हाथ बटाऊँगा। काम मैं ऐसा चाहता था जिसमें देश के लिए कुछ करने का अवसर भी रहे और इतना वेतन भी मिले कि घर का काम-काज चलता रहे। उन दिनों बाबूजी लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित 'सर्वेंट्स आफ़ इंडिया सोसाइटी' के चेयरमैन थे। उसमें कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि योग्य लोगों को पचास रुपया मासिक आदरधन (आनरेरियम) दिया जाता था और उनसे आजीवन देशसेवा का व्रत लिया जाता था। टंडन जी के सुपुत्र श्री गुरुप्रसाद टंडन (इस समय विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर में हिंदी-विभाग के अध्यक्ष) बी० ए० में मेरे सहपाठी थे। उनसे परामर्श करके मैंने सोसाइटी की सदस्यता के लिए एक प्रार्थनापत्र दे दिया। बाबूजी ने मुझे बुलाया, उन्होंने मेरी आँखों में आँखें डालीं, और न जाने क्या उन्होंने उनमें देखा कि मुझे सोसाइटी में लेने से इन्कार कर दिया। मुझे बी० ए० में प्रथम श्रेणी मिली थी, मैंने अपनी पढ़ाई छोड़ी थी, सरकारी छात्रवृत्ति छोड़ी थी, और उन दिनों के मानों में देश के लिए कुछ काम भी किया था, अपने पुत्र के द्वारा उन्हें मेरी पारिवारिक स्थिति का पता था, पर उन्होंने निर्ममतापूर्वक मुझसे कहा, "मुझे लगता है तुम्हारा क्षेत्र यह नहीं, तुम्हें अपनी पढ़ाई पूरी करके शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में अपना विकास करना चाहिए।" मुझे बड़ी निराशा हुई, टंडन जी के लिए स्वार्थवश मेरे मन में कुछ कुभावनाएँ भी उठीं, पर आज मैं जानता हूँ कि उस समय मुझसे अधिक उन्होंने मुझे पहचाना था, और यह मानता हूँ कि उन्होंने सोसाइटी में न लेकर मेरे साथ उपकार ही किया था।

इसके थोड़े ही समय बाद मैं 'मधुशाला' की रुबाइयों में फूट पड़ा। ऐसे कई अवसर मुझे मिले जब उनके सम्मुख या उनके सभापतित्व में मुझे कविता सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने हर बार मेरी आँखों में अपनी आँखें डालीं, और जैसे मुझे उस पहली भेंट की याद दिलाई, मैंने तुममें जो देखा था वह ग़लत नहीं था, तुम राजनीति के जंगल के लिए नहीं थे, काव्य के उपवन के लिए थे।

मेरी तरह टंडन जी ने न जाने कितने नवयुवकों को जीवन की ठीक दिशा

दी होगी, जो यदि आज मेरे समान लेखनी-मुखर हो सकते तो अपनी-अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते। महान आत्माओं का दान दोनों दिशाओं में होता है, वे देश-समाज को एक व्यापक दान तो दे ही जाते हैं, व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को भी कुछ अमूल्य, अलभ्य, अविस्मरणीय दे जाते हैं। सूर्य समुद्र को जाज्वल्यमान करता है, ओसबिंदु को भी चमका देता है। इन सीमित वरदानों की चर्चा इतिहास के पृष्ठों में नहीं होती, पर समष्टि के जीवन में इनकी महत्ता कम नहीं होती। टंडन जी हमारे देश की महान आत्माओं में हैं; उन्होंने अपने जीवन, कर्म, विचार से व्यापक रूप से देश को और सीमित रूप से अनेकानेक व्यक्तियों को प्रभावित किया है। उनकी साधना उनके जीवनकाल में ही पल्लवित-पुष्पित हुई है। हमारी भगवान से प्रार्थना है कि श्रद्धेय बाबूजी स्वस्थ होकर अभी बहुत दिनों तक हमारे बीच वर्तमान रहें और अपनी साधना को फलवती होते भी देखें। हम उनको यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि जिस 'राष्ट्रीयता' का स्वप्न उन्होंने देखा था, उसे सत्य करने का हम सतत प्रयत्न करते रहेंगे।

१९६०]

अमरनाथ झा

(रेडियो वार्ता)

इस शताब्दी के पहले दो दशकों में प्रयाग के शिक्षित-दीक्षित नागरिकों में जिनकी चर्चा बड़े आदर-मान से हुआ करती थी वे थे पंडित मदनमोहन मालवीय, पंडित मोतीलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू और महामहोपाध्याय पंडित गंगानाथ झा—मालवीय जी और नेहरू साहब का नाम देश-सेवा के क्षेत्र में, सप्रू साहब का न्याय के क्षेत्र में और झा महोदय का शिक्षा के क्षेत्र में। गंगानाथ जी म्योर सेंट्रल कालेज में संस्कृत-आचार्य के पद से उन्नति करके प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति के पद पर पहुँचे थे और उन्होंने प्रायः ९ वर्षों तक विश्वविद्यालय की बागडोर सँभालकर १९३२ में अवकाश ग्रहण किया था।

अमरनाथ झा पंडित गंगानाथ झा के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म १८९७ में हुआ और बचपन में ही अपने पिता के साथ दरभंगा से प्रयाग चले आए थे। उनकी शिक्षा कर्नलगंज स्कूल, गवर्नमेंट हाई स्कूल, म्योर सेंट्रल कालेज में हुई। उनके स्वाध्याय और उनकी बुद्धि की प्रखरता से अधिकारी-वर्ग इतने प्रभावित थे कि जब वे स्वयं एम० ए० में पढ़ते थे, तभी उन्होंने बी० ए० को पढ़ाने का काम उन्हें दे रक्खा था। आगे चलकर वे प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष हुए और १९३८ में उपकुलपति के पद के लिए चुने गए। अपने पूज्य पिता के समान ९ वर्षों तक वे उस पद पर रहे, पश्चात् एक वर्ष के लिए काशी विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे, ६ वर्ष उत्तर प्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष, और २ वर्ष बिहार पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष। उनका देहावसान १९५५ में पटना में हुआ।

प्रयाग से उनको बड़ा प्रेम था। काशी जाने के पूर्व वे अक्सर कहते थे कि मैं जब से प्रयाग आया तब से अब तक कभी भी एक साथ ६ महीने से अधिक

प्रयाग के बाहर नहीं रहा। और यह ६ मास की अवधि भी केवल एक बार पहुँची थी, जब वे इंग्लैंड गए थे। उन्होंने प्रयाग नगर और प्रयाग विश्वविद्यालय की परंपरा को पूरी तरह ग्रहण किया था और उसके ऊपर अपनी पूरी छाप भी छोड़ी थी।

झा साहब से मेरा संपर्क उस समय हुआ जब मैं एम० ए० में पहुँचा। उनकी विद्वत्ता और बुद्धि की प्रखरता की चर्चा इतनी सुन चुका था कि बहुत डरते-डरते उनके पास पहुँचा। वे एम० ए० का सेमिनार लिया करते थे जिसमें वे हर विद्यार्थी को अलग-अलग विषय पर लेख लिखने को दिया करते थे। यूनिवर्सिटी में उनका एक अलग कमरा था, दीवारें क़द्दआदम अलमारियों से ढकी, ठसाठस किताबों से भरीं, मेज़ पर भी नई-से-नई पुस्तकें, पत्रिकाएँ, सामने कुर्सी पर गुरु-गंभीर मुद्रा में झा साहब, बड़ा भारी सिर, ज्ञान के भंडार का प्रतीक, बड़ी-बड़ी आँखें, जिनसे किसी का भी अज्ञान छिपा नहीं रह सकता। क्लास में ६ लड़के, उन्हें सोचना नहीं पड़ा; खट-खट हर एक को निबंध का एक-एक विषय दे दिया और फिर हर एक को सहायक पुस्तकों की सूची बता दी—पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का नाम, पत्रिका का लेख है तो उसका मास-वर्ष। विषयों पर जो कुछ कहना था, उन्होंने ही कहा, किसी को कुछ बोलने-पूछने की हिम्मत नहीं हुई। क्लास से निकले हैं तो जैसे किसी ने कानों में कहा है कि इज़्ज़त के साथ क्लास में बैठना है तो मिहनत करनी पड़ेगी।

उन दिनों उनके एक्स्ट्रा मूरल लेक्चर भी कभी-कभी होते थे। वे सैकेंड की सुई से ठीक वक्त पर पहुँचते, उनके आते ही सन्नाटा छा जाता, उनके व्याख्यान के पीछे गंभीर अध्ययन होता; विचारों की स्पष्टता होती, क्रम होता, संतुलन होता। उनके व्याख्यान में किसी के किसी तरह की गड़बड़ी मचाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उनकी आँखें सबको देखती रहती थीं और सबको अपनी शक्ति से प्रभावित करती थीं। वे अपने व्यक्तित्व और अपने ज्ञान दोनों से दबंग थे।

उनसे विशेष मिलने-जुलने का अवसर मुझे उन दिनों मिला जब वे विश्वविद्यालय के उपकुलपति हो गए थे और मैं अंग्रेज़ी विभाग में लेक्चरर था। अब तक मैंने केवल उन्हें विद्यार्थी की दृष्टि से देखा था, दर्जे में, या लेक्चर हाल

में। अब यदा-कदा घर पर भी उनके दर्शन करने का सुयोग मिला। एक बार मैं लगभग एक मास उनके मंसूरी के लिनवुड काटेज में उनके साथ ठहरा था। और इस प्रकार उनकी दिनचर्या और उनकी कार्यविधि से भी परिचय प्राप्त कर सका था।

यों तो उनका विशेष विषय अंग्रेजी साहित्य था, पर उनकी रुचि में विविधता थी—ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में उनका थोड़ा-बहुत दखल था। अंग्रेज़ी के माध्यम से वे विभिन्न योरोपीय साहित्य से भी परिचित थे। भाषाएँ वे कई जानते थे। संस्कृत, बँगला, मैथिली, हिंदी और उर्दू। इनमें भी जो उच्चकोटि का साहित्य है, वह उन्होंने पढ़ रखा था। संस्कृत के कितने ही श्लोक उनकी ज़बान पर थे, जो प्रसंगानुसार वे सुना देते थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की संपूर्ण बँगला रचनावली उनकी मेज़ पर रक्खी रहती थी। मैथिली उनकी मातृभाषा ही थी। उनके हिंदी लेखों का एक संग्रह भी छप चुका है। उर्दू कवियों पर उनके लेख प्राय: पत्रों में निकला करते थे। अब उनके ऐसे लेखों का संग्रह 'उर्दू पोएट्स ऐंड पोएट्री' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। अंग्रेज़ी में 'शेक्सपीरियन कामिडी' के नाम से उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी। वे बिहारी के दोहों का अंग्रेज़ी अनुवाद भी कर रहे थे, मुझे पता नहीं कि उनके देहावसान के पश्चात् उनकी पांडुलिपियों का क्या हुआ।

अपने घर पर उनका अधिक समय अपने रामकाशी पुस्तकालय में बीतता। उस पुस्तकालय में केवल पुस्तकें ही नहीं थीं; अनेक चित्रकारों के चित्रों और कलाकारों की कला-कृतियों से वह सुसज्जित था। शायद ही कोई प्रसिद्ध पत्र-पत्रिका ऐसी हो जो उनके यहाँ न आती हो। पुस्तकें तो वे बराबर पढ़ते ही रहते थे, पत्र-पत्रिकाओं में भी कुछ अच्छा उनकी नज़र से न छूटता था। यह सारी सामग्री उनके मित्रों और विद्यार्थियों के लिए खुली थी। लोग बराबर उनके पुस्तकालय से किताबें ले जाते थे। मैंने जब 'खैयाम की मधुशाला' की भूमिका लिखनी चाही तो प्रयाग के सब पुस्तकालयों से अधिक सामग्री उस विषय पर मुझे झा साहब के पुस्तकालय में मिली।

इस प्रकार झा साहब एक सुसंस्कृत व्यक्तित्व के प्रतीक बन गए थे। यूनिवर्सिटी या नगर में किसी भी सांस्कृतिक अवसर या पर्व पर उनके व्याख्यान सारगर्भित और आनन्ददायक होते थे।

कला और संस्कृति के सब प्रकार के आयोजनों में वे रुचि लेते थे। चित्र-प्रदर्शनी, संगीत-सम्मेलन, कवि-सम्मेलन, नाट्य-प्रदर्शन सभी को उनका सहयोग मिलता था। कवि-सम्मेलन और मुशायरे उनके घर पर बराबर हुआ करते थे। अपने समकालीन उर्दू और हिंदी के प्रायः सभी कवियों से उनका व्यक्तिगत संपर्क था।

उनके कार्य के क्षेत्र बहुत विस्तृत और विविध थे। छोटी-सी वार्ता में सब पर प्रकाश डालना संभव नहीं। प्रमुख रूप में वे प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में स्मरण किए जाएँगे। उनका द्वार उनके प्रत्येक विद्यार्थी के लिए खुला रहता था। वे जहाँ तक संभव हो सकता था सबकी बात सुनते थे, सबको उचित सलाह देते थे। न जाने कितने विद्यार्थियों के जीवन को उन्होंने बनाया था। एक बार यूनिवर्सिटी छोड़कर जो मैं फिर यूनिवर्सिटी में आया, यह उन्हीं की प्रेरणा का प्रभाव था। विद्यार्थियों से संपर्क रखना उनको इतना प्रिय था कि वाइस चैंसेलर हो जाने के बाद भी वे इतना समय निकाल लेते थे कि बी० ए० के विद्यार्थियों का एक सेमिनार लिया करते थे। यूनिवर्सिटी छोड़ने के बाद भी वे अपने विद्यार्थियों की खोज-खबर रखते थे। जब कभी यात्रा पर जाते, विभिन्न स्टेशनों पर अपने विद्यार्थियों को सूचना देकर बुलाते और उनसे मिलते।

उनकी पत्नी का देहावसान उनके यौवन-काल में ही हो गया था। उनका अपना कोई पारिवारिक जीवन नहीं था। उनका परिवार था उनके प्रेमियों का, विद्यार्थियों का। सुबह और शाम के कई घंटे लोगों से मिलने-मिलाने के लिए होते थे। यूनिवर्सिटी से अलग होने पर भी उनके दरबार में लोग बराबर जमा रहते थे।

आवश्यकता है कि उनकी एक विस्तृत जीवनी लिखी जाय। अभी बहुत-से लोग और बहुत-सी सामग्री मिल सकती है जो इस दिशा में सहायक हो सके।

जब-जब उत्तर भारत के विद्या और शिक्षा-विशारदों की चर्चा होगी, अमरनाथ झा को आदर से स्मरण किया जाएगा।

जनवरी '५९]

कश्मीर यात्रा : एक संस्मरण

(रेडियो वार्ता)

कश्मीर भारत का मधुवन है, पृथ्वी का स्वर्ग है, प्रकृति के शृंगार की पिटारी है आदि-आदि कवित्वपूर्ण बातें कश्मीर के संबंध में मैं लड़कपन से सुन चुका था। पर पहली बार कश्मीर देखने का सुयोग मिला मुझे १९४९ में, अर्थात् अपनी ४२ वर्ष की अवस्था में। मेरा जन्म शहर में हुआ, गलियों में मैं खेला-कूदा, मुहल्ले-टोलों में घूमा-फिरा। प्रकृति-प्रेम के संस्कार मुझमें जागे ही नहीं। याद नहीं पड़ता कि किसी स्थान के प्राकृतिक सौंदर्य से आकर्षित होकर मैं उसे देखने गया हूँ। हाँ, कहीं अपना मित्र या प्रेमी हो तो वहाँ जाने के कुछ मतलब मेरे लिए होते हैं। या यदि कोई मित्र या प्रेमी हो तो उसके साथ प्राकृतिक सौंदर्य के स्थान की यात्रा भी की जा सकती है। इनके अभाव में कश्मीर की यात्रा मेरे लिए टलती आई।

उन दिनों मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में अंग्रेजी का अध्यापक था। कुछ दिन पहले कश्मीर के एक नेता यूनिवर्सिटी में आए थे और उन्होंने विद्यार्थियों के एक दल को कश्मीर आने, और वहाँ का जीवन देखने के लिए आमंत्रित किया था। दशहरे की छुट्टियों में विद्यार्थियों का एक दल इस यात्रा के लिए तैयार हुआ और वाइस चैंसेलर महोदय ने उसकी देख-रेख और उसके प्रबन्ध का कार्य मुझे सौंपा। कश्मीर सरकार की ओर से पत्र आ गया कि जम्मू से हमारे सफ़र, ठहरने, खाने-पीने, घुमाने-दिखाने को सारी ज़िम्मेदारी कश्मीर सरकार की होगी।

कश्मीर जाने के लिए पठानकोट निकटतम रेलवे स्टेशन है। वहाँ से जम्मू के लिए बसें मिलती हैं। तीन-चार घंटे का रास्ता है। पठानकोट से जम्मू का रास्ता विशेष आकर्षक नहीं। सड़क भर अच्छी है। जिस समय हम लोग जम्मू पहुँचे संध्या हो गई थी। बाहर से देखने से नगर भारत के अन्य नगरों से

भिन्न नहीं जान पड़ा—बेतरतीबी से बसा, तंग रास्ते, बाज़ार का शोर-गुल। लौटते समय हमें नगर को देखने का अधिक समय मिला। नगर के बाहर खुली जगहें हैं, कुछ अच्छी इमारतें और अच्छे मंदिर हैं। सबसे भव्य भवन भूतपूर्व राजाओं का राजमहल है। कश्मीर जिस प्राकृतिक सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध है, उसकी झालर जम्मू में भी यत्र-तत्र देखी जा सकती है।

कश्मीर सरकार के अधिकारी हमें जम्मू में मिल गए। हमें जम्मू से श्रीनगर भेजने का इंतज़ाम इस प्रकार था। शाम को जम्मू से ट्रकें जाती हैं जिनमें सामान वगैरह जाता है। ये ट्रकें बहुत तेज़ नहीं जातीं। रास्ते में रुकती भी देर-देर तक हैं और इस प्रकार ये लगभग दो सौ मील का सफ़र चौबीस-पच्चीस घंटे में तै करती हैं। हमारे दल में बीस विद्यार्थी थे। हम दो-दो करके इन ट्रकों में आगे की सीट पर बिठा दिए गए। हम लोग कोई सात बजे रवाना हुए थे। इलाहाबाद से दिल्ली और दिल्ली से पठानकोट तक हम बीस के बीस एक ही डिब्बे में आए थे। पठानकोट से जम्मू तक भी एक ही बस में। साथ में बातचीत, हँसी-मज़ाक में जो आनंद आ रहा था वह सहसा ख़त्म हो गया। अब हम बस दो-दो साथ रह गए और साथ में दो अपरिचित एक ड्राइवर और एक क्लीनर जिन्हें हमें लाना प्रियकर न था, क्योंकि गो उनको सवारी ले जाने की मनाही है फिर भी वे चोरी-छिपे सवारी ले जाते हैं और कुछ रुपये बना लेते हैं।

पहला पड़ाव कुड नामक स्थान पर हुआ। यहाँ हम लोग लगभग ११ बजे रात पहुँचे। बसों के अड्डे पर ही एक छोटा-सा होटल है। यहीं हमने खाना खाया और दो-तीन घंटे आराम किया। सुबह चार बजे बसें फिर चल पड़ीं। कुहरा पड़ रहा था और हमारी बसें देवदारु के वृक्षों में होकर गुज़र रही थीं—धीरे-धीरे, सँभल-सँभल।

पीर पंजाल हमने लगभग ६ बजे शाम को पार किया। बहुत सीधा और ऊँचा पहाड़ है। पाँच-सात समानांतर सड़कें एक-दूसरे के ऊपर दिखाई पड़ती हैं। कोई बस नीचे है, कोई बीच में, कोई ऊपर। ऊँचाई पर पहुँचकर एक सुरंग पार करनी पड़ती है और इसके पार करते ही हम कश्मीर की घाटी में पहुँच जाते हैं। सुरंग के अंधकार में थोड़ी देर रहने के बाद जो सहसा चौड़ी घाटी और दूर पर ऊँचे पहाड़ों का दृश्य सामने आता है वह जल्दी नहीं भुलाया जा सकता।

कश्मीर यात्रा : एक संस्मरण

हम लोग श्रीनगर नौ बजे रात पहुँचे। कुछ बसें जो पिछड़ गई थीं वे डेढ़-दो घंटे बाद आईं। रात को हम लोगों ने एक होटल में खाना खाया और वहीं सो रहे। सुबह हम लोगों के ठहरने का इंतज़ाम बाजरों में कर दिया गया। बाजरे डल झील में पड़े रहते हैं। किनारे से बाजरे तक जाने के लिए शिकारे होते हैं। इन्हें एक प्रकार की छोटी नावें समझिए। हर बाजरे का एक नाम होता है, किन्हीं-किन्हीं शिकारों के भी नाम होते हैं। नाम सब के सब अंग्रेज़ी। शिकारों के कुछ नाम बड़े रूमानी और रसीले होते हैं। अंग्रेज महाप्रभुओं को प्रसन्न करने के लिए जो किया जाता था उसकी परंपरा अभी तक चली आ रही है।

बाजरों को आप नाव पर बना हुआ बँगला ही समझिए। आगे ड्राइंग-रूम—जिसमें आठ-दस आदमियों के बैठने की जगह। उसके पीछे खाने का कमरा जिसमें ४-६ आदमी बैठकर खाना खा सकें। उसके पीछे दो-दो पलँगों के दो सोने के कमरे। दोनों के बीच में गुसलखाने—किन्हीं-किन्हीं में फ़्लश के पाखाने। आधुनिक जीवन की सुविधा की कोई चीज नहीं जो इन बाजरों में न मिलती हो—बिजली की रोशनी, रेडियो, शायद टेलीफ़ोन भी। बाजरे का प्रबंधक ही भोजन की भी व्यवस्था करता है, और जैसा भी खाना आप चाहें आपको बनाकर देता है। बाजरे के ऊपर लंबी-खुली छत होती है, जिसपर मौसम अच्छा हो तो बैठा जा सकता है। बाजरे की छत पर बैठे हुए दो इमारतों पर आपकी निगाह ज़रूर जायगी; पास की पहाड़ी के एक पुराने क़िले पर और झील के उस पार एक छोटी पहाड़ी के शिव-मंदिर पर, जिसे कहते हैं शंकराचार्य ने स्थापित किया था।

सुबह होते ही झील की सतह पर कश्मीर का जीवन देखिए। एक शिकारा आ रहा है, तरह-तरह के फूलों से लदा है। एक फल बेचनेवाले का, एक मेवे बेचनेवाले का; किसी में लकड़ी का सामान, किसी में शाल-दुशाले, किसी में पेपरमेशी की चीज़ें, किसी में सुई, सिलाई, कढ़ाई के बारीक काम। श्रीनगर में कोई चीज़ खरीदना बहुत होशियारी का काम है। व्यापारी कभी-कभी चौगुना दाम कहता है। आप संकोच में कितना कम करेंगे। नतीजा होगा, आप ठगे जायँगे। चीज़ों का ठीक दाम आप तभी देंगे जब या तो आप अनुभवी हों, यानी कई बार कश्मीर आए-गए हों; या किसी कश्मीरी से आपकी जान-पहचान

हों जो चीज़ों का वाजबी दाम जानता हो। कश्मीर कला-कारीगरी का प्रदेश है और अगर आपका कला से प्रेम है तो स्वाभाविक है कि ये चीज़ें आपके मन को मोहेंगी। व्यापारी आँख पहचानता है। अगर किसी चीज़ पर आपकी तबियत आ गई है तो वह जानता है कि आपसे मुँह माँगा दाम ले सकता है। कश्मीरी चीज़ों को बनाने की ही कला नहीं जानते, उन्हें बेचने की कला भी जानते हैं।

श्रीनगर ख़ास में देखने की चीज़ें शालामार और निशात बाग़ हैं—मुग़ल बादशाहों के बनवाए हुए बाग़, जहाँ वे मैदानों की गर्मी से बचने के लिए आया करते थे। चश्मा शाही में भी एक बाग़ और छोटी-सी इमारत है। इसका पानी बहुत अच्छा माना जाता है।

श्रीनगर से बाहर के स्थानों को देखने के लिए कश्मीर सरकार ने हमें एक बस दे दी थी। उसी से हमने गुलमर्ग, पहलगाँव, अनंतनाग, अच्छाबल, ऊलर झील और मतन आदि स्थान देखे। जहाँ बस नहीं जाती थी वहाँ या तो हम पैदल गए या घोड़ों से। खिलन मर्ग में मौसम साफ़ था और नगापर्वत आसमान में अपना सिर ऊँचा उठाए हुए बहुत भव्य लगा। पहलगाँव से चंदनवाड़ी तक हम घोड़ों पर गए, चंदनवाड़ी में बर्फ़ से पुल बन जाता है और पानी नीचे से बहता है। अनंतनाग में पानी का स्रोत है जहाँ से वितस्ता अथवा झेलम निकलती है। कश्मीर पहाड़ी प्रदेश है, कहीं बर्फ़ से ढकी चोटियाँ दिखाई पड़ती हैं, कहीं नीलम-से जल की नदियाँ-झरने। बाग़ हैं तो फलों से लदे, बगीचे हैं तो फूलों से रंगारंग।

कश्मीर सुंदर है, पर कश्मीरी मुझे अधिक सुंदर लगे। शिकारावालों से लेकर लेखक और कवियों तक बहुतों से मेरा परिचय हुआ। मुझे कवि रूप में भी जाननेवाले वहाँ बहुत थे, कई संस्थाओं में मैंने कविता पाठ किया। बहुतों से जिनसे परिचय हुआ था आज तक मेरा पत्र-व्यवहार है। कश्मीरी मित्र बनाना और मित्रता क़ायम रखना दोनों जानते हैं।

दो वर्ष हुए मैं कश्मीर फिर गया था, पर मैं स्पष्ट कर दूँ, कश्मीर का प्राकृतिक सौंदर्य मुझे वहाँ नहीं खींच ले गया था। मुझे खींच ले गई थी वहाँ के मेरे कुछ मित्रों की मुहब्बत और आगे भी कभी मेरा जाना हुआ तो कश्मीर से अधिक कश्मीरियों के प्रति मेरा आकर्षण ही मुझे वहाँ ले जायगा।
१९५९]

कर्ण

(रेडियो वार्ता)

महाभारत के योद्धाओं का स्मरण करते हुए कर्ण को भूलना संभव नहीं है। वे कौरवों की ओर से लड़े थे और अंत में अर्जुन द्वारा पराजित और धराशायी हुए थे। कर्ण महाबलवान और पराक्रमी थे पर उनके नाम के साथ जो विशेषण जुड़ा वह 'दानवीर' का था—दानवीर कर्ण। और यही दानवीरता संभवतः उनके पराजय का कारण भी बनी थी। उनके जन्म के साथ एक ऐसी घटना जुड़ी थी जिसके कारण उनमें एक हीन-भावना भी थी, जिसे आजकल की भाषा में इनफ़ीरियारिटी काम्प्लेक्स कहेंगे। उनका अहंकार भी उसी का दूसरा और उग्र पहलू था। उनके प्रति जो व्यवहार किया गया और जिस प्रकार युद्ध में उन्हें मारा गया उसमें उनके प्रति न्याय किया गया अथवा नहीं इसका उत्तर देना सहज नहीं। महाभारत का तर्क दूसरा ही है। मूल बात यह है कि कर्ण कौरवों की ओर थे, इस कारण वे अधर्म की ओर थे और भगवान कृष्ण का जन्म धर्म के अभ्युत्थान और संस्थापन के लिए हुआ था। उनके संकेत और उनकी प्रेरणा से जो हुआ उसे बेठीक कहने का साहस कौन करेगा ? "यतो कृष्णस्ततो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जयः", महाभारत की घोषणा है।

अब हम उनका जीवन वृत्तांत सुनें। कहते हैं कुंती ने अपने कौमार्य में दुर्वासा ऋषि की बड़ी सेवा की। ऋषि ने प्रसन्न होकर कुंती को यह वरदान दिया कि अवस्था प्राप्त होने पर जिस देवता का भी वह स्मरण करेगी उससे पुत्र प्राप्त कर सकेगी। कुंती ने कौतूहलवश मुनि के वचन की परीक्षा करने के लिए सूर्य का स्मरण किया। सूर्य देवता मनुष्य-रूप में प्रकट हुए और कुंती ने उनसे गर्भ धारण किया। कुमारी कुंती के गर्भ से जो बालक उत्पन्न हुआ वह कर्ण था। बालक बहुत ही दिव्य था और जन्म से ही कुंडल और कवच धारण किए हुए था, जो कहते हैं अमृत से प्रकट हुए थे। इनको धारण करने के

कारण वह मृत्युंजय था और उसे मानव-दानव-देवताओं में से कोई नहीं मार सकता था। पर कुमारी अपने पुत्र को लेकर समाज के सामने कैसे आती। उसने कर्ण को एक पिटारी में रखकर नदी में प्रवाहित कर दिया।

यह पिटारी अधिरथ ने देखी और पकड़ ली। अधिरथ कर्म से सूत या सारथी था और राजा धृतराष्ट्र का मित्र था। उसके कोई संतान न थी। उसने बालक को लाकर अपनी पत्नी राधा को दिया, जिसने बड़े लाड़-प्यार से उसका पालन-पोषण करना आरंभ किया। इसी कारण कर्ण को कभी-कभी सूतपुत्र, अधिरथि अथवा राधेय भी कहा जाता है।

सूर्य का अंश होने के कारण कर्ण अपने तेज से ही दिन-प्रतिदिन ओज और बल में बढ़ने लगे। उधर द्रोणाचार्य ने जब कौरवों और पांडवों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देनी आरंभ की तो कर्ण भी उनके साथ [illegible] में दक्ष हो गया। विशेष प्रतिस्पर्धा उसकी अर्जुन के साथ रहती और पारखियों के लिए भी यह कहना कठिन था कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है।

एक समय राजकुमारों के बल-कौशल के प्रदर्शन के लिए एक रंगभूमि की रचना की गई। इसमें अर्जुन ने तीर फेंकने, रथ चलाने आदि के प्रदर्शन से सारी सभा को चकित कर दिया और उनकी सब ओर से प्रशंसा होने लगी। कर्ण को अर्जुन का लोक-यश असह्य हो गया। उसने अर्जुन को चुनौती दी और रंगभूमि में ही उनसे लड़ने को तैयार हो गया। उस समय के नियमों के अनुसार राजकुमार राजकुमारों से ही प्रतियोगिता करते थे। गुरुवर कृपाचार्य ने कर्ण से अपना वंश-परिचय देने के लिए कहा। कर्ण तो सारथी का पालित पुत्र भर था, अपना क्या परिचय देता, बहुत लज्जित हुआ। दुर्योधन को कर्ण ऐसे योद्धा को अपनी ओर कर लेने का अच्छा अवसर मिला। उसने उसका सूत-वंशीय कलंक धोने के लिए उसे अंगदेश का राजा घोषित कर दिया। इसी से कर्ण को अंगराज भी कहा जाता है। अर्जुन प्रतियोगिता के लिए तैयार नहीं हुए और इसी समय से कर्ण दुर्योधन का मित्र बन गया और उसने सदा दुर्योधन का साथ देने की प्रतिज्ञा की। यह पहला अपमान था जो कर्ण को सूतपुत्र होने के कारण सहना पड़ा।

दूसरा अपमान उसका द्रौपदी स्वयंवर के समय हुआ। द्रौपदी स्वयंवर में मत्स्यवेध की बड़ी कठिन शर्त रक्खी गई थी। उसमें कर्ण भी गया था।

लाक्षागृह से अपने प्राण बचाकर भागनेवाले पांडव भी उसमें ब्रह्मचारी-मुनियों के वेष में गए थे। परंतु कर्ण जिस समय लक्ष्यवेध के लिए उद्यत हुआ उस समय द्रौपदी ने उसके सूत-पुत्र होने के कारण अपमानजनक वचन कहकर उसे वरण करने से इन्कार कर दिया। अंत में अर्जुन ने लक्ष्यवेध किया और द्रौपदी ने उनके गले में जयमाल डाल दी। आगे चलकर माता कुंती के मुख से एक ऐसी बात निकल गई कि वह पाँचों पाण्डवों की पत्नी मानी गई।

अपने ससुर द्रुपद की सहायता से जब युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का राज्य मिला और उन्होंने राजसूय यज्ञ करने की तैयारी की तब चारों दिशाओं के राजाओं को पराजित करने और उनसे कर वसूल करने के लिए युधिष्ठिर के चारों भाई चार दिशाओं में गए। भीम पूर्व में गए जिधर कर्ण का अंग-बंग का राज्य था। कर्ण और भीम का बड़ा घोर संग्राम हुआ, परंतु अपनी दान-वीरता के कारण अब वह अपने कवच-कुंडल खो चुका था जो उसे अजेय बनाते थे। कर्ण ने पराजय स्वीकार की और राजसूय यज्ञ मे अन्य राजाओं के समान ही आया।

कौरवों और पांडवों का युद्ध धर्म और अधर्म का युद्ध था। कर्ण ऐसे अजेय योद्धा को कौरवों की ओर, अधर्म की ओर, जाते देखकर देवताओं में चिंता छा गई। इंद्र ने सोचा, किसी न किसी प्रकार कर्ण से अमृतोद्भूत कुंडल-कवच ले लेने चाहिए। एक दिन इन्द्र ब्राह्मण का वेष बनाकर कर्ण के सामने पहुँच गया। कर्ण के मन में ब्राह्मण के लिए बड़ा सम्मान था और उसके पास कुछ भी ऐसा न था जो ब्राह्मण के लिए अदेय हो। इन्द्र कर्ण की यह उदारता जानता था, उसने कवच-कुंडल की याचना की। कर्ण ने अपना कुंडल और अपनी त्वचा से जुड़ा हुआ कवच खड्ग से काटकर अलग किया और उन्हें ब्राह्मण को दान कर दिया। उसके मन मे न किसी प्रकार का खेद हुआ, न पश्चाताप, उल्टे वह बहुत प्रसन्न हुआ कि उसने ब्राह्मण का वचन खाली नहीं किया। कर्ण के उस आदर्श दान से इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने कवच-कुंडल के बदले उसे 'शक्ति' नामक एक अमोघ अस्त्र प्रदान किया। उसे वह केवल एक ही बार छोड़ सकता था, पर जिसपर वह गिरेगा उसका अवश्य ही संहार कर देगा, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली शूर क्यों न हो। मगर इसे छोड़ने के बाद कर्ण किसी भी साधारण योद्धा के समान अपने ही बल-विक्रम पर निर्भर

रहेगा। कर्ण इस शक्ति को बड़े यत्न से संचित रखता था, क्योंकि उसने सोचा था, किसी दिन वह इसे अर्जुन पर छोड़ेगा। इसी कारण भीम से हार मानकर वह राजसूय में आया तो, पर भीतर ही भीतर जलता हुआ।

राजसूय के शीघ्र बाद ही युधिष्ठिर अपना राज-पाट, अपने भाइयों को और अपनी पत्नी को भी जुए में हार गए। शायद उस अवसर पर पांडवों और द्रौपदी के प्रति भी जितने कटु शब्द कर्ण ने कहे उतने किसी अन्य ने नहीं। उसे रंगभूमि और उससे भी अधिक स्वयंवर में द्रौपदी के अपमानजनक वचनों की याद थी। पांडवों और द्रौपदी के वस्त्र उतरवाने की सलाह कर्ण ने ही दुःशासन को दी थी। उसीने द्रौपदी को दासी, तथा उससे दूसरा पति चुनने की बात कही थी।

पांडव जब बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के लिए निकल गए तो कर्ण को अपनी शक्ति और प्रभाव बढ़ाने का पूरा अवसर मिला। उसने दिग्विजय की और हस्तिनापुर में उसका बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ।

जब पांडवों के वनवास से लौटने पर महाभारत की तैयारी होने लगी और दोनों दल अपने-अपने पक्ष में राजाओं को मिलाने लगे तब भगवान कृष्ण ने कर्ण को बहुत समझाया, पर उसने दुर्योधन का पक्ष ग्रहण करने की ज़िद ठानी। कृष्ण उसकी शक्ति जानते थे और उसकी कमज़ोरी भी। शल्य को भी भगवान कृष्ण पांडवों की ओर लाना चाहते थे, पर वह दुर्योधन से प्रतिज्ञाबद्ध हो चुका था। उसने कर्ण के सारथी बनने का कार्य अपने ऊपर लिया था भगवान कृष्ण ने शल्य से कहा "तुम कर्ण के सारथी अवश्य बनो, मगर देखो कर्ण जब-जब अन्य योद्धाओं से अपनी तुलना कर आत्मप्रशंसा करे तब तुम उसकी हाँ में हाँ मिलाना, पर बीच-बीच में यह कहते रहना कि केवल अर्जुन से मुझे डर है। इतनी शका भी कर्ण को भीतर से दुर्बल बना देगी।"

महाभारत के युद्ध में कई बार वह कई योद्धाओं से पराजित हुआ, पर उसने अपनी शक्ति अर्जुन पर छोड़ने को सुरक्षित रक्खी। भगवान कृष्ण तब तक अर्जुन को उससे निश्चयात्मक युद्ध नहीं करने देना चाहते थे जब तक उसके पास वह शक्ति रहे। अंत में उन्होंने घटोत्कच का सामना कर्ण से करा दिया घटोत्कच हिडिम्बा से उत्पन्न भीम का पुत्र था और महापराक्रमी था—दानव

मानव-देवता के रज-वीर्य-अंश से उत्पन्न। घटोत्कच ने कर्ण के साथ घोर संग्राम किया और कर्ण को लगा कि अपने प्राण बचाने को उसे अंतिम शक्ति का उपयोग करना पड़ेगा। वह शक्ति लगते ही घटोत्कच ढेर हो गया और कर्ण निःशक्त; फिर भी वह अपने पराक्रम से लड़ने को तैयार हुआ। केवल भीम और अर्जुन को छोड़ उसने नकुल, सहदेव, युधिष्ठिर समेत अनेकानेक वीरों को पराजित किया। अंत में अर्जुन के साथ उसका द्वैरथ युद्ध हुआ। युद्ध करते-करते अचानक उसके रथ का पहिया जमीन में धँस गया। उसे निकालने के लिए वह रथ से नीचे उतरा। उसने अर्जुन से अनुरोध किया कि जब तक वह फिर से रथ पर आसीन न हो जाय तब तक वह उसपर बाण न चलाए, परंतु भगवान कृष्ण का आदेश कुछ और ही था।

कर्ण की मृत्यु के पश्चात् जब पांडवों को उसके साथ अपना संबंध मालूम हुआ तो वे बहुत दुःखी हुए। वह तो उनका सहोदर भाई ही था। पांडवों ने विधिवत उसका दाह-संस्कार किया और उसकी पत्नी, उसके बच्चों तथा उसके आश्रितों की रक्षा की। कुंती की वेदना सहृदयों की कल्पना पर ही छोड़ना चाहिए। उसके एक पराक्रमी पुत्र ने दूसरे पराक्रमी पुत्र का वध किया। पर धर्म और अधर्म के युद्ध में ऐसा होना ही था। महाभारत में इसका संकेत है कि कर्ण नरकासुर का अवतार था।

मृत्यु के पश्चात् कर्ण स्वर्ग जाकर सूर्यदेव में लीन हो गया।

हिन्दी में कर्ण के ऊपर दो प्रसिद्ध खंड-काव्य हैं। एक श्री आनंद कुमार का लिखा 'अंगराज' और दूसरा श्री दिनकर का लिखा 'रश्मिरथी'। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र कर्ण पर एक महाकाव्य लिख रहे थे। उसका कुछ अंश उन्होंने यदा-कदा सुनाया भी था। महाकाव्य का प्रकाशन शायद अभी तक नहीं हो सका।

१९६१]

◇ ◇ ◇